बापू और मानवता

लेखक

कमलापति त्रिपाठी शास्त्री एम० एल० ए०

सदस्य भारतीय विधान-परिषद

प्रधान सम्पादक "संसार", काशी

प्रकाशक

सरस्वती मन्दिर

जतनबर, बनारस

१९४८]

[मूल्य ५)

प्रकाशक—

सरस्वती मन्दिर

जतनबर-बनारस

द्वितीयावृत्ति

मुद्रक—

पी० घोस,

सरला प्रेस, बनारस।

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ में गाँधीजी के विचारों और उनकी पद्धति का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास विशेष लक्ष्य को ग्रहण करके विशेष दृष्टि से किया गया है। आधुनिक जगत् के सामने अति गंभीर, अति जटिल और अत्यन्त महती समस्याएँ उपस्थित हैं। गत कुछ शताब्दियों में मनुष्य जाति ने समवेत रूप से आशातीत और अकल्पित उन्नति की है! मनुष्य ने बुद्धि की प्रखरता सिद्ध की है, प्रकाण्ड कल्पनाशीलता प्रदर्शित की है और अभूत पूर्व शक्ति संपन्नता दर्शायी है। उसकी प्रतिभा ने गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया है। उसकी पारदर्शिनी दृष्टि ने सूक्ष्म तत्त्वों का अनुसन्धान और साक्षात्कार कर डाला है। अपने जगत् का निर्माण करने में भी मनुष्य ने प्रशंसनीय सक्रियता का परिचय दिया है। उसके सम्मुख आज आदर्शों की कमी नहीं है। जीवन और जगत् के लिए, व्यक्ति और समाज के लिए, ऊँचे से ऊँचे आदर्शों का प्रतिपादन करने में मानव-बुद्धि जहाँ तक जा सकती थी वहाँ तक गयी। इन आदर्शों के प्रकाश में उसने महती राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, वैधानिक तथा नैतिक कल्पनाओं को जन्म दे डाला। इन कल्पनाओं को साकार रूप प्रदान करने के लिए न जाने कितने विधि-विधानों और व्यवस्थाओं का आयोजन भी किया गया। स्वभावतः मनुष्य ने यह समझा कि वह विकसित हो रहा है। उसे विश्वास हुआ कि वह सभ्य और सुसंस्कृत है। अपने भविष्य के संबंध में उसके हृदय में दृढ़ आस्था उत्पन्न हो गयी। उसे यह आशा हो गयी कि वह दिन दूर नहीं है जब मनुष्य अभाव से, अधीनता से रोग और रोदन से सर्वथा मुक्त हो जायगा। वह सुखी और सम्पन्न, स्वस्थ और स्वाधीन, सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित जीवन-यापन करने में समर्थ होगा।

पर कहाँ तो यह उल्लास था और कहाँ मनुष्य का भविष्य अंधकार में लुप्त होता दिखाई पड़ा। बीसवीं शती के गत पैंतालीस वर्षों में मनुष्य आशा और निराशा के साथ आँखमिचौनी ही करता रहा है। यदि एक ओर बड़े-बड़े आदर्शों की प्रतिष्ठा हो रही थी तो दूसरी ओर उन आदर्शों के भव्य-भवनों की

दीवारें ढहायी जाती रही हैं। यदि एक अन्याय की जड़ खोदी गयी तो दूसरे अन्याय की स्थापना कर दी गयी। यदि स्वतंत्रता और लोकतंत्र की आवाज उठायी गयी तो परतंत्रता और वर्गतंत्र का सर्जन कर दिया गया। यदि विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का घोष किया गया तो अशान्ति और द्वेष के बीज बो दिए गए। विज्ञान यदि सर्जन, संपन्नता और सुख का साधन हो सकता था तो वह विनाश, अभाव और दोहन का हेतु बना डाला गया। युग था जब धर्म के नाम पर उद्भूत हुई साम्प्रदायिकता, रूढ़िपूजा, विवेकहीन परम्परा और अंधविश्वास मनुष्य को पशु बनाए हुए था। उसके वशीभूत होकर मनुष्य ने ऐतिहासिक पट को शताब्दियों तक खून से रंगा। सुनते हैं कि समय आया जब बुद्धिवाद ने उस मूढ़ता का अंत किया। विज्ञान ने नयी दृष्टि प्रदान की। राष्ट्र-भावना ने नव-देव और नव-धर्म का रूप ग्रहण करके मनुष्य के मानस-मन्दिर में प्रतिष्ठा प्राप्त की। पर हुआ क्या? यदि पहले गिर्जे और मसजिद के नाम पर, धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर, मनुष्य मनुष्य का शिरच्छेद करता था तो अब राष्ट्र के नाम पर, जातिगत् श्रेष्ठता के नाम पर, काले और गोरे, भूरे और पीले के नाम पर, वर्ग और दल के नाम पर, वाद और प्रतिवाद के नाम पर मनुष्य के वक्षःस्थल का रक्त मनुष्य पीए जा रहा है। यदि अपनी पशुता को चरितार्थ करने के लिए मनुष्य ने तब धर्म का दुरुपयोग किया तो आज उसी पशुता को चरितार्थ करने के लिए वही मनुष्य विज्ञान और बुद्धिवाद का दुरुपयोग कर रहा है। और तो और बड़े-बड़े आदर्शों और व्यवस्थाओं, सिद्धान्तों और विधि-विधानों का दुरुपयोग भी इसी प्रकार किया गया है।

मनुष्य की यह गति और स्थिति क्यों है इसका उत्तर देने का अधिकार पण्डितों और मनीषियों को होगा। मैं नहीं जानता कि इसका कारण फ्रायड के कथनानुसार मनुष्य की स्वजाति-शत्रुत्व की नैसर्गिक प्रवृत्ति है अथवा मनुष्य का मूलतः पशु-स्वरूप और स्वभाव है। मैं तो केवल इतना देखता हूँ कि मनुष्य के आदर्श और व्यवहार में प्रत्यक्ष वैपरीत्य है। उसका बौद्धिक विकास यद्यपि अकल्पित रूप से हुआ है पर उसका आचार और व्यवहार तथा उसकी प्रवृ-

त्तियाँ उसी अनुपात में विकसित नहीं हुई हैं। उसकी मानसिक उड़ान बहुत ऊँचे पहुँची है पर उसके कर्म और मस्तिष्क में तथा संभवतः मस्तिष्क और हृदय में महान् अन्तर बना रह गया। संभवतः यही कारण है कि संस्कृतियों को जन्म देते हुए भी मनुष्य संस्कृति न हो सका। गत पचीस वर्षों में दो-दो विश्व-व्यापी महायुद्धों का प्रज्वलन कदाचित् उसी का परिणाम है। ये युद्ध संस्कृति के मध्य में असंस्कृति और बर्बरता की धारा के ही प्रतीक हैं। आज जगत् के सामने यही महती समस्या है। मानव-संस्कृति का हृदय विदीर्ण करके प्रवाहित होनेवाली इस मानव बर्बरता का अन्त कैसे हो? मनुष्य इतना तो अनुभव करने ही लगा है कि इस स्थिति का लोप सदा के लिए न हुआ तो उसके अस्तित्व के लिए तथा उसकी संस्कृति के लिए भयावह खतरा उत्पन्न हो जायगा। वह इसका अनुभव करने के लिए बाध्य है क्योंकि बुद्धिशील प्राणी है। गत महायुद्ध के बाद ही इसकी अनुभूति की जाने लगी थी। अनुभूति ही नहीं प्रत्युत स्थिति को सँभालने और समस्या को सुलझाने की चेष्टा भी की गई। समस्या को सुलझाने और स्थिति का परिवर्तन करने के नाम पर ही यूरोप में गत महायुद्ध के बाद कुछ प्रयोग भी किए गए। एक प्रयोग किया विजयी लोकतन्त्रात्मक मित्रराष्ट्रों ने जो राष्ट्र-संघ के रूप में मूर्त हुआ। दूसरा रूस का मार्क्सवादी प्रयोग था और तीसरा था इटली और जर्मनी के फासिस्टियों तथा नाजियों का। राष्ट्रसंघ तथा फासिटियों और नाजियों के प्रयोगों की बीभत्स विफलता स्पष्ट है। एक की विफलता का प्रमाण गत पचीस वर्षों का इतिहास तथा दूसरा महायुद्ध है जो नाजियों और फासिटियों की विफलता सिद्ध कर रही है। मुसोलिनी और हिटलर की वे लाशें जो निर्जीव होते-होते इटली और जर्मनी का सर्वनाश कर गयीं। बाकी बच गया रूस का मार्क्सवादी प्रयोग। मार्क्सवाद जगत् के सामने एक दृष्टि, एक आदर्श, एक पथ, एक पद्धति और एक योजना लेकर उपस्थित होता है। वह पृथ्वी पर ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना का आकांक्षी है जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का दोहन, दलन और दासत्व न रह जाय। वह उस आदर्श स्थिति की स्थापना की चेष्टा करता है जिसमें समाज होगा वर्गहीन और शासनसत्ता होगी लुप्त और मनुष्य होगा

स्वतन्त्र जो अपने श्रम का उचित उपयोग करने में समर्थ होगा। यही है मार्क्सवाद का आदर्श। इस आदर्श में आकर्षण है, मोहकता है। वस्तुतः उपर्युक्त स्थिति ही होगी जो महती मानव-जाति के गौरव के अनुकूल और उसके हित-साधन का हेतु हो सकेगी। इसी आदर्श को लेकर रूस की अक्तूबर-क्रान्ति हुई और लेनिन के नेतृत्व में वहाँ मार्क्सवादी प्रयोग आरम्भ हुआ। यह प्रयोग मार्क्सवादी लक्ष्य की पूर्ति में कहाँतक सफल हुआ है यह ऐसा प्रश्न है जिसपर दो मत हो सकते हैं और हैं। मैं स्वयं यह समझता हूँ कि जिस मार्क्सवादी पद्धति का अवलम्बन करके मार्क्सवादी लक्ष्य की पूर्ति की चेष्टा रूस में बोलशेविक पार्टी ने की वह रूस को उपर्युक्त लक्ष्य की ओर बढ़ाने में सहायक हुई दिखाई नहीं देती। मैं भली भांति जानता हूँ कि गत तीन दशकों में क्रेमलिन के नेतृत्व में रूस ने असाधारण उन्नति की है। उसके नेतृत्व में नव-रूसी राष्ट्र ने जन्म ग्रहण किया है। उसके नेतृत्व में रूस में नए सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन का उदय हुआ है। बोलशेविकों की प्रतिभा और निष्ठा तथा तपस्या के फलस्वरूप रूस में आधुनिक पूँजीवाद की जड़ खुद गई और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में वह महान् बलशील तथा प्रतिष्ठित राष्ट्र के रूप में अवतीर्ण हुआ है। रूस की लालसेना ने वर्तमान महायुद्ध में विजय-वैजयन्ती फहराकर मानव-जाति के इतिहास में नवाध्याय का निर्माण किया है। फलतः बोलशेवी दल ने वहाँ जो किया है वह साधारण बात नहीं है और उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

पर रूस की महत्ता केवल इतने ही के लिए नहीं थी। यदि इतना ही होता तो प्रशंसनीय होते हुए भी रूस विशेष और असाधारण न माना जाता। पतित और पराजित किसी एक राष्ट्र को उठाने का महान् कार्य तो अन्य देशों में हुई क्रान्तियों ने भी किया है। कमाल अतातुर्क ने जर्जर, विनाशोन्मुख, पराजित और धराशायी तुर्क-राष्ट्र को क्या उठा नहीं दिया? विजयी मित्र-शक्तियों का मद, विचूर्ण करके कमाल ने न केवल अपनी मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता उपार्जित की प्रत्युत क्षयग्रस्त तुर्की के समस्त कलुष का परिहार करके नये तुर्की को जन्म प्रदान किया। आज तुर्की विश्व में अपना आदरणीय स्थान रखता है।

हिटलर ने और अपराध चाहे कितने भी क्यों न किए हों पर इसे कौन अस्वीकार करेगा कि केवल ६ वर्षों में उन्होंने पददलित, अपमानित और सर्वथा निराश जर्मन राष्ट्र को प्राणानुप्राणित करके अपने पैरों पर खड़ा कर दिया। जगती के अञ्चल में घटित हुई ऐसी कतिपय घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है, पर उनमें से किसी एक को भी वह स्थान प्राप्त नहीं है जो रूसी क्रान्ति को प्राप्त हुआ है ! आखिर इसका कारण क्या है ! इसका कारण केवल इतना ही नहीं है कि रूस को बोलशेविकों ने शक्ति-सम्पन्न प्रबल राष्ट्र बना डाला है। इसका कारण वस्तुतः वह आदर्श है जिसकी अग्र-दूतिनी बनकर रूसी क्रान्ति धरा पर अवतीर्ण हुई। रूस उसी आदर्श का उपासक और उसी का प्रतीक होकर उपस्थित हुआ। उसकी यही विशेषता थी जिसने जगत् के करोड़ों नर-नारियों के जीवन में आशा और प्रकाश का संचरण किया। उसकी इसी विशेषता ने उसे जगत् के समस्त दलित और दोहित राष्ट्रों और वर्गों के नेता के रूप में चित्रित किया।

फलतः प्रश्न यह है कि रूस उस आदर्श की पूर्ति में कहाँतक सफल हुआ। जिस प्रयोग की सफलता के लिए रूस की बोलशेवी सरकार ने लाखों रूसियों का बलिदान किया वह क्या ऐसे वर्ग-हीन समाज की स्थापना में समर्थ हुआ जिसमें जन-समाज सर्वथा मुक्त हो, प्रकृत मानवी अधिकारों का अक्षुण्ण उपभोग कर रहा हो और स्वयं शासन-सत्ता विघटित और लुप्त होती दिखाई दे रही हो। यदि यह कहिए कि उक्त प्रयोग प्रयोगावस्था में है तो भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उपर्युक्त परिस्थिति की ओर बढ़ने के स्पष्ट संकेत मिल रहे हैं ! मेरी दृष्टि में तो रूस में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन का भयावना केन्द्रीकरण हो गया है जिसके सञ्चालन के लिए अपरिमित शक्तिशालिनी केन्द्रीभूत शासनसत्ता जन-समाज के मस्तकोपविष्ट हो गयी है। उस शासनसत्ता ने स्वभावतः प्रचण्ड केन्द्रीकृत हिंसा का आश्रय ग्रहण किया है। परिणामतः जन-समाज का अङ्ग-प्रत्यङ्ग केन्द्रित सत्ता की उँगलियों से दबा हुआ है। मैं नही समझता कि यह स्थिति उस समाज की स्थापना का संकेत है जो वर्गहीन होगा और जिसमें शासनशक्ति भी विघटित, वितरित और

विलुप्त हुई रहेगी। फलतः मेरी दृष्टि में रूसी क्रान्ति का वह पहलू जो उसकी विशेषता रही है खटाई में पड़ा दिखायी देता है।

तात्पर्य यह कि गत महायुद्ध के बाद मानव-जगत् की समस्याओं को सुलझाने के लिए जो प्रयोग हुए उनकी गति कुछ विचित्र ही हुई। अवस्था यह है कि समस्याएँ सम्प्रति और अधिक गम्भीर होकर उपस्थित हुई हैं। वर्तमान महायुद्ध ने कल के संसार को नष्ट किया है। आज का जगत् विक्षत और विचूर्ण है। अब कल के जगत् के निर्माण का प्रश्न प्रस्तुत है। पर निर्माण किन आधारों पर, किन तत्त्वों को लेकर करना श्रेयस्कर होगा जिसमें मनुष्य अपने भविष्य को सुरक्षित रखने में समर्थ हो सके? यह तो निर्विवाद है कि मनुष्यता ऐसे जगत् के निर्माण की अपेक्षा कर रही है जो हिंसा और पशुता से मुक्त हो, जिसमें वर्ग-प्रभुता, वर्ग-भेद तथा वर्गशोषण न हो, जिसमें मनुष्य व्यक्तिगत तथा समवेत रूप से सांस्कृतिक विभूति के उपभोग का अधिकार तथा अवसर अपनी योग्यता के अनुसार समान रूप से प्राप्त कर सके। मानव-समाज साङ्गोपाङ्ग स्वतन्त्र, सुखी तथा निर्भय होकर जीवनयापन कर सके। यही है लक्ष्य जिसके प्रकाश में भावी व्यवस्था का निर्माण अपेक्षित है। पर प्रश्न तो यह है कि इस लक्ष्य की पूर्ति कैसे की जाय? वह कौन-सा मार्ग है, कौन-सी पद्धति है जिसका अवलम्बन करके मनुष्य इष्ट स्थिति का निर्माण कर सकता है। मार्क्सवाद एक आयोजित पद्धति उपस्थित करने का दावा अवश्य करता है। जगत् के कोटि-कोटि नर-नारियों के हृदय पर उसका प्रभाव है जो उसके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर अग्रसर होने में मानवता का कल्याण देखते हैं।

पर जहाँ यह है वहीं गाँधीजी एक नयी दिशा की ओर, एक नये पथ और नयी पद्धति की ओर संकेत करते दिखाई दे रहे हैं। उनके विचार यूरोप की विचारधाराओं से भिन्न हैं, उनका पथ जगत् में प्रचलित आधुनिक पथों से भिन्न है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन प्रयोगों की विवेचना की गयी है जो गत दो दशकों में यूरोप में प्रयुक्त हुए हैं। उन प्रयोगों के पीछे बहने वाली विचारधाराओं से गाँधीजी के विचारों की तुलना करने की चेष्टा भी की गयी है। स्पष्ट है कि गांधीजी विभिन्न दृष्टि से जगत् की समस्याओं की ओर देखते हैं और तदनुरूप

नव-पद्धति का प्रतिपादन करते हैं। अब उन मनीषियों और पंडितों तथा जन-समाज के विचारशील वर्गों का जिनके हृदय में जगत् हित की कामना है—यह काय है कि वे गाँधीजी के विचारों और उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ की विवेचना करें, उन्हें अपनी बुद्धितुला पर तौलें और यह देखें कि उन विचारों और उस पद्धति में उपर्युक्त लक्ष्य की ओर जगत् को अग्रसर करने की क्षमता है अथवा नहीं। वे यह भी देखें कि आधुनिक त्रुटियों का परिहार करने में तथा वर्तमान समस्याओं का हल उपस्थित करने में गाँधीजी के विचार सहायक हो सकते हैं या नहीं।

मैं गाँधीवादी होने का दावा नहीं करता और न यही दावा करता हूँ कि मैं गाँधीजी के विचारों को जिस रूप में अभिव्यक्त किया है वह गांधीजी अथवा गाँधीवादियों को ग्राह्य होगा। मैंने जिस रूप में गाँधीजी को समझा है उसी रूप में चित्रित कर देने की चेष्टा की है। लक्ष्य केवल इतना है कि विचारक समाज का ध्यान आज उस व्यक्ति के विचारों की ओर आकृष्ट किया जाय जो एकमात्र विश्व-कल्याण की कामना से उत्प्रेरित है, जिसके रोम प्रति रोम से दलित और विताड़ित वसुधा की वेदनामयी रागिनी प्रतिध्वनित हो रही है। मैं अपनी अयोग्यता, सीमा तथा अक्षमता से सर्वथा परिचित हूँ। संभव है अपने को व्यक्त करने में भी मुझे सफलता न मिली हो। पर भला या बुरा जो बन पड़ा है वह पाठकों की सेवा में अर्पित है अपनी त्रुटियों को समझते हुए भी लिखने का साहस किया क्योंकि मैं भारतीय संस्कृति का उपासक हूँ। मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि इस युग में जब भारत अपने इतिहास की कृष्णतम परिस्थिति से जा रहा है गाँधीजी में भारतीय संस्कृति अपनी उज्वल आभा के सहित प्रतिबिम्बित हुई है। ऐसे समय जब जगत् पथानुशीलन में साग्रह संलग्न है और जब विश्व के प्रांगण में गहरी सांस्कृतिक टक्कर होती दिखाई दे रही है मैं यह कामना करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता कि भारत अपनी परम्परा और गौरव के अनुकूल अपना स्थान प्राप्त कर सके।

आज से ढाई सहस्र वर्ष पूर्व के उस युग की स्मृति बार-बार हो जाती है जब भारत का एक महाप्राण मानव काशी के निकट ऋषिपत्तन में धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए अमृतवाणी में बोल उठा था:—

'चरत भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, लोकानुकंपाय, अत्थाद, हिताय, देवमनुस्सान'।

मानव-हृदय की ज्वाला का शमन करने में उसके अन्तर से निर्गत शीतल धारा ने क्या असीम सफलता नहीं प्राप्त की थी ? भारत को अपने उस अभिनय पर आज भी गर्व है। सम्प्रति विमर्दिता और दग्धा मेदिनी पुनः किसी ऐसे ही के कर स्पर्श की प्रतीक्षा कर रही है। भारत उस अभाव की पूर्ति क्या पुन: कर सकता है ? मैं समझता हूँ कि ऐसी कामना करने का अधिकार हमें है। बहुजन हिताय, बहुजनसुखाय, लोकानुकंपाय, गाँधीजी का जीवन अर्पित है। उनके विचारों में भारतीयता का वही रंग झलक रहा है। वे जगत् को वह दे रहे हैं जो भारतीय है। फलतः यह दुर्भाग्य की बात होगी यदि भारत का विचारक समाज उनके विचारों को समझने और तौलने की चेष्टा न करे। देश का शिक्षित युवक-समुदाय अवश्य ही विदेश से आने वाले प्रकाश को ग्रहण करे पर अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा की ज्योति की उपेक्षा करना अपनी आत्मा को और अपने प्राण को खो देना है। आवश्यकता है कि हम आत्मविस्मृत न हों, अपनी विभूति को खो न दें और फिर जो बाहर से मिले उसे बुद्धि और विवेक के सहित ग्रहण करें। इस ग्रन्थ की रचना इसी दृष्टि को लेकर की गयी है। यदि एक व्यक्ति के हृदय में भी मैं उपर्युक्त भावों को जाग्रत कर सका तो अपने श्रम को सफल समझूँगा।

इसके पहिले कि लेखनी को विश्राम दूँ मैं प्रयाग विश्व विद्यालय के छात्र श्री प्रतुल कुमार शर्मन को हृदय से आशीष दिए बिना नहीं रह सकता। इस युवक ने इस ग्रन्थ की कापी तैयार करने में अथक परिश्रम किया है। जेल में मेरा स्वास्थ्य सर्वथा संतोषजनक नहीं रहा। लिखने का आयास मेरे लिए अहितकर सिद्ध हो रहा था। शर्मन ने इसमें मेरी सहायता की। मैं बोलता जाता था और वह लिखता जाता था। प्रायः सारा ग्रन्थ इसी प्रकार लिखा गया। भगवान् उसे चिरायु करें। इति शम्—

१८ जून ४५
नैनी-सेण्ट्रल जेल

कमलापति

विषय-सूची

आधुनिक विश्व का स्वरूप

आज के विश्व पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उसे स्पष्टतः दो विभिन्न स्वरूपों में अभिव्यक्त पाते हैं। उसका एक स्वरूप आशाप्रद है तो दूसरा निराशाजनक है। एक ओर हम आदर्शवादी, बुद्धिशील, समुन्नत और प्रकृति को अपनी चरणसेविका दासी बनानेवाले जगत् को पाते हैं तो दूसरी ओर संकट से आच्छन्न, मनुष्य से उत्पीड़ित, रक्त से लिप्त, विपत्ति की मारी विक्षत वसुधा को सामने पड़ी कराहते देखते हैं। धरित्री का यह दो विभिन्न और विरोधात्मक रूप आज इतना स्पष्ट, इतना व्यापक और इतना गम्भीर हो गया है कि उसकी अनुभूति मानव-समाज का प्रत्येक वर्ग, जगत् का प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक व्यक्ति कर रहा है। एक ओर हम यह देखते हैं कि मनुष्य महान् आदर्शों, महती कल्पनाओं, उत्तम व्यवस्थाओं को जन्म देने में सफल हुआ। जीवन का कोई क्षेत्र चाहे वह सांस्कृतिक हो अथवा बौद्धिक, राजनीतिक हो अथवा सामाजिक, सर्वत्र हम मनुष्य की उन्मुक्त प्रतिभा को इतनी लम्बी उड़ान लेते देखते हैं, इतनी दूर तक जाने में समर्थ पाते हैं कि उसकी कल्पना करना भी कठिन हो जाता है। अपने इतिहास के इस युग में मानव-जाति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जिस उच्चतम बिन्दु पर पहुँची दिखाई देती है वहाँ तक पहुँचने की बात भी एक शताब्दी पहले के मनुष्य ने न सोची रही होगी। उस युग के बीते अभी अधिक समय नहीं हुआ जब मानव-समाज का जीवन रूढ़ियों और परम्पराओं तथा अन्धश्रद्धा के अन्धकार से ही आच्छन्न था। मनुष्य अन्धविश्वासों का ऐसा पूजक था कि अपनी अन्तःस्थली के गवाक्ष को बंद करके सत्य की

प्रकाशमयी रश्मियों को अपने मर्म में प्रविष्ट होने देना भी विघातक समझता था। यूरप का मध्ययुग ऐसा ही काल था जब धर्म-पुरोहितों द्वारा पोषित और पालित अन्धविश्वास पश्चिम की भूमि को धार्मिकता के आवरण में अधार्मिक प्रथाओं तथा युद्धों से उत्पीड़ित करता रहा था। अपने लम्बे ऐतिहासिक युग में भारत अनेक बार ऐसी ही पतितावस्था से पार हो चुका है जब अन्धपरम्पराओं और रूढ़ियों में फँसकर भारतीयता उन्मुक्त चिन्तन और सत्यानुभूति से विरत होकर अधोमुख होती रही है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त बुद्धि के टिमटिमाते दीपक को अपने झटके से बुझा देने में समर्थ अन्धश्रद्धा के उदर से उस अन्धकार का सर्जन होना अनिवार्य है जो जीवन-पथ को तिमिराच्छन्न करके भयावने विनिपात का कारण होता है।

समय आया जब जीवन की चेतना प्रगति के नैसर्गिक प्रवाह से प्रबुद्ध हुई। यूरप में धार्मिक सुधार और उसके बाद पुनरुद्धार युग का अविर्भाव उस बुद्धिवाद के उदय की शुभ सूचना थी जिसने मनुष्य को कठोर अन्धविश्वास के भीषण बन्धन से मुक्त किया। विज्ञान का जन्म इसी बुद्धिवाद के उदर से हुआ, जो आज के मनुष्य की महती विभूति है। विज्ञान ने मनुष्य को प्रगति की शक्तियों पर असाधारण प्रभुता प्रदान कर दी। विज्ञान के द्वारा उसे वह सब मिला जिसकी चाह मनुष्य को हो सकती थी। अपरिमित ऐश्वर्य, असीम विभूति, असाधारण क्षमता, अनिर्वचनीय ज्ञान, अभूतपूर्व गति तथा पृथ्वी पर अकल्पित प्रभुता का अधिकारी मनुष्य हो गया। भौगोलिक बाधाएँ मिट गयीं, अलंघ्य गिरिशृंग तथा अगाध जलनिधि उसकी मुट्ठी में आ गये। अकाल और अवर्षण, प्लावन और तुषारपात से मनुष्य को पस्त करने की जो सामर्थ्य प्रकृति में थी वह बड़े अंश में जाती रही। मनुष्य ने उसकी शान और भय ही जैसे मिटा दिया। विशाल धरातल एक सूत्र में आबद्ध होता दिखाई पड़ा। मानव-बुद्धि और कल्पना तथा उसकी दृष्टि अदर्शनीय परमाणुओं से लेकर ज्वलन्त ग्रह-नक्षत्रों तक का भेदन करने

लगी। उत्पादन के साधन और यातायात के प्रकार में जो महती क्रान्ति हुई उसका तो कुछ पूछना ही नहीं। ऐसा ज्ञात हुआ है कि मनुष्य को वह शक्ति प्राप्त हुई है जिसके द्वारा वह अभाव की सत्ता को ही मिटा देने में समर्थ होगा। मानवता के इतिहास में कभी ऐसा युग नहीं आया था जब मनुष्य को चतुर्दिक् यह महती शक्ति प्राप्त हुई रही हो। संभवतः वह योग्य हो गया था धरती को आर्थिक दुःख और भौतिक अभाव तथा क्लेश से सर्वथा मुक्त कर देने में। इस नये ज्ञान, नयी चेतना और नयी शक्ति के द्वारा मनुष्य नयी संस्कृति को जन्म देने में सफल हुआ। जगत् को नया जीवन, नया दृष्टिकोण, नयी धारणा और नया आदर्श प्राप्त हो गया। फिर तो राजनीतिक और सामाजिक, आर्थिक तथा व्यावसायिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक क्षेत्र में नया प्रकाश फैलने लगा। मनुष्य ने अधिकार और कर्तव्य की नयी विवेचना कर डाली, राज्य-व्यवस्था के आदर्श की नयी कल्पना कर डाली। यूरप की आधुनिक सभ्यता की सबसे बड़ी देन और बहुमूल्य भेंट वह राजनीतिक कल्पना है जिसमें मनुष्य की स्वतन्त्रता का चरम विकास मूर्त दिखाई देता है। इस कल्पना में शासन-व्यवस्था साध्य नहीं साधन है जो व्यक्ति और समाज के हितसम्पादन के लिए ग्राह्य समझी गयी। मनुष्य की स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व के उच्च घोष के साथ यूरप ने मानवसमाज के राजनीतिक विचारों को वह अभिनव स्फूर्ति प्रदान की जिसने सभ्यता के इतिहास में नये अध्याय का आरम्भ कर दिया। लोकतन्त्र के रूप में व्यक्त हुई इस कल्पना ने 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' को वह नैतिक लक्ष्य और आधार प्रतिपादित किया जिस पर शासन-सत्ता का संघटन आश्रित होना चाहिए। आधुनिक मानव को अपनी इन्हीं कल्पनाओं पर गर्व हुआ। ऐसा ज्ञात हुआ कि मनुष्य मनुष्य के उत्पीड़न से, निरंकुश-शासन और स्वच्छन्द राज-व्यवस्था से, दासता और दलन से मुक्त हो गया।

जब धरती परस्पर निकट आने लगी, और भौगोलिक बाधाएँ मिटने लगीं, लंडन और वाशिंगटन में बने पदार्थ अनन्त जलराशि का

सन्तरण करते हुए भारत में सुदूर गाँवों और अफ्रीका के जंगलों तक पहुँचने लगे तो धीरे धीरे अन्तर्राष्ट्रीय चेतना भी जागरित होने लगी। क्रमशः मनुष्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, सहायता और रक्षा का स्वप्न देखने लगा। समस्त मानव-जाति की एकसूत्रता की अनुभूति होने लगी और समय आया जब सारी धरती एक परिवार की और जगत् में विश्व-व्यवस्था की कल्पना भी उदीयमान होने लगी। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य को आशातीत सफलता मिली। कालप्रवाह से विलीन हुए अतीत के सहस्राब्दियों का चित्र अपने ज्ञान की तूलिका से उसने चित्रित कर डाला, धरती का जीवनचरित लिख डाला, विकास-गति की रूपरेखा अंकित कर डाली, प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर डाला और जीवन की उस गूढ़ता में प्रवेश किया जो अब तक दृश्य जगत् से सर्वथा पृथक् और बुद्धि के लिए अज्ञात था। विश्व का यह स्वरूप आशाप्रद नहीं है तो क्या है? मनुष्य की आदर्शवादिता, बुद्धिशीलता और उन्नति का उज्जवल प्रदर्शन स्पष्ट है। पर जहाँ उसका यह स्वरूप है वहीं दूसरी ओर इससे भिन्न रूप भी है जिसकी उपेक्षा असंभव है। जगत् के दुःख और उसकी दरिद्रता का निवारण तो दूर रहा हम ऐश्वर्य के मध्य में अभाव का विकराल और रोमांचक स्वरूप सामने पाते हैं। भले ही एक ओर विलास का झूला पड़ा हुआ हो और कुछ लोग लक्ष्मी की लोल लीला में लिप्त हों पर भूखों और नंगों की अपार भीड़ इतनी विशाल है कि उनके करुण क्रंदन से पृथ्वी प्रकम्पित हो रही है। जठराग्नि की लपलपाती ज्वाला से सारा मानव-समाज भस्म हुआ दिखाई देता है। भले ही उपभोग्य वस्तुओं का निर्माण प्रचुर मात्रा में होता हो, उत्पादक देशों के व्यावसायिकों के गोदाम उत्पन्न पदार्थों से पटे पड़े हों, विस्तृत भूप्रदेशों में खड़ी फसलें लहलहा रही हों, लाखों मन सोने-चाँदी का लेन-देन होता रहता हो, पर व्यापक किन्तु अभागा जन-समूह अभाव की आग में ही जलता रहता है। वह उत्तरोत्तर साधनहीन अधिकाधिक भूखा और दयनीय ही होता जाता दिखाई दे रहा है,

यद्यपि न पदार्थों की कमी दिखाई देती है और न ऐश्वर्य भांडार में क्षीणता। यातायात के साधनों में अकल्पित उन्नति हुई है, पृथ्वी के कोने-कोने में अभीष्ट पदार्थों को पहुँचा देना संभव है पर जन-समाज में यह शक्ति नहीं और न इतना सामर्थ्य बाकी बची कि वे उपलब्ध सामग्रियों से अपनी आवश्यकता का निराकरण कर सकें। जगत् की यह स्थिति अभूतपूर्व असंतोष, उग्र वर्गसंघर्ष और भयावनी कटुता का सर्जन कर रही है।

व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा ने वह तीव्रता ग्रहण की है कि जगत् एकाधिक बार युद्ध की ज्वाला में विदग्ध हो चुका। धरती के प्रदेशों पर आधिपत्य हो स्थापित करने, साम्राज्यों की रचना करने, बाजारों की नकेल अपने हाथों में रखने की चेष्टा अन्तर्राष्ट्रीय भावना, एकसूत्रता और आदर्श-वादिता को पूर्णतः चबा चुकी है। साम्राज्याधीन प्रदेशों का भयावना दोहन संसार को नारकीय बनाए दे रहा है। जिन देशों को लोहे का सामना लोहे से करने की शक्ति प्राप्त नहीं है, जो औद्योगिक देशों के धन-पशु व्यावसायिकों के पीछे चलनेवाली उस देश की सरकार की संगीनों का कुंठन करने की सामर्थ्य नहीं रखते या तो अपने कलेजा फड़वा डालें अथवा अपनी स्वतन्त्रता, अपना सम्मान और अपनी मनुष्यता को तिलांजलि देकर साम्राज्य-लोलुप-प्रभुओं के संमुख सिर झुका दें। आज जगत् में ऐसी ही पराधीनता और पोषण का नग्न स्वरूप प्रदर्शित है। चतुर्दिक् दलन, दासता और दरिद्रता को बीभत्स लीला हो रही है। देश में असंतोष, विदेश में असंतोष और पराधीन देशों में असंतोष की आग दहकती क्या दिखाई नहीं दे रही है। आधुनिक जगत् का सारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संगठन पूँजीवाद पर स्थापित हो चुका है।

इस व्यवस्था ने मानव-श्रम का न कोई मूल्य रहने दिया और न कोई महत्त्व। श्रम से उपार्जित सम्पत्ति पर स्वामित्व उत्पादक का न

होकर किसी अन्य का हो जाता है और उत्पादक स्वयं मजदूरी में मिले वेतन का विनियोग पुनः अपने ही श्रम से उत्पन्न पदार्थ को प्राप्त करने में करता है और इस प्रकार उसके दोहरे शोषण पर 'पूंजीवाद' फलता-फूलता रहता है। परिणाम यह होता है कि एक ओर पूंजी बढ़ती चलती है जिस पर स्वामित्व पूजीपति को प्राप्त होता है और दूसरी ओर उत्पादक रिक्त मंजूषा में पड़े दो-चार ठीकरों पर माल बेचने के बहाने आक्रमण किया जाता है और वह अधिकाधिक शोषित होता चलता है। 'पूँजीवाद' ने जीवन के मूल्य का अंकन करने के लिए एक दूसरा ही माप-दंड उपस्थित कर दिया है। महत्त्व आज केवल धन का रह गया है। मनुष्य की सारी तौल धन के ही द्वारा की जाने लगी है। उसकी योग्यता, बुद्धि, सफलता और महत्ता का तोलन धन ही तुला से किया जाने लगा है। जब धन का ऐसा मूल्य हो गया हो तो उसकी असमानता के आधार पर स्थापित सामाजिक जीवन में घोर वैषम्य का होना अनिवार्य है।

धनशीलों की प्रतिष्ठा, पद, अधिकार और शक्ति भी विशेष रूप ग्रहण करती है। सिद्धान्ततः यह भले ही कहा जाता हो कि न्याय की दृष्टि में सब समान हैं, पर व्यवहारतः धनी और निर्धन दो हो जाते हैं, जिनके साथ तदनुकूल भेद-मूलक बर्ताव किया जाता है। आज तो प्रतिष्ठा और अधिकार धन के ही अंग और उपांग बन गये हैं। जो धनी हैं उन्हीं का सारा अधिकार है और जो निर्धन हैं उनके जिम्मे केवल कर्तव्य ही कर्तव्य है। फलतः जो वर्ग अधिकार का उपभोग करता है उसका स्वार्थ स्वभावतः धन में ही स्थिर हो जाता है उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह धन की रक्षा और उसकी वृद्धि करते जाने में अपनी सारी शक्ति और अधिकार का उपयोग करे। वर्ग-स्वार्थ के लिए सामूहिक हित की बलि इसी कारण चढ़ाई जाने लगती है, जिसका निश्चित परिणाम होता है सामाजिक जीवन में संघर्ष और विक्षोभ का सूत्रपात। यही है पूँजीवाद की स्थूल रूपरेखा।

समस्त पूँजीवादी देशों की जनता अपने देश की पूँजीवादी व्यवस्था से स्वयं त्रस्त और पीड़ित है। पर पूँजीवाद का विष अपनी सीमा से कहीं अधिक दूर तक व्याप्त है। सुदूर देशों के निवासी, महासमुद्रों के पार रहनेवाले, विशेष कर अश्वेत जातियों के लोग, एशिया और अफ्रीका के देश उनसे भी कहीं अधिक दलित और सताये हुए हैं। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए पूँजीवादी राष्ट्र धरातल के विभिन्न भूभागों में अपना साम्राज्य स्थापित करके वहाँ के निवासियों का दुर्दान्त दोहन तथा दलन करते हैं। पर 'पूँजीवाद' इतने से भी सन्तुष्ट नहीं होता। वह है भीषण महाविभीषिका जिसका तोष होना संभव ही दिखाई नहीं देता। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और साम्राज्य-पिपासा के कारण पूँजीवादी राष्ट्र समय-समय पर परस्पर भिड़ जाते हैं अपनी पापाग्नि में अखिल भूमंडल को झोंककर महाविनाश का प्रलयंकर दृश्य उपस्थित कर देते हैं।

इन सबके सिवा पूँजीवाद का सबसे बड़ा दोष तो उन समस्याओं की सृष्टि कर देना है जिन्हें सुलझाना अब उसकी शक्ति के परे हो गया है। जगत् के सामने आज यह प्रश्न उपस्थित है कि पूँजीवादी व्यवस्था ने मानव-समाज को जिस पंक में ला पटका है, वहाँ से अब उसे कैसे बाहर किया जाय ? संसार जहाँ पहुँच गया है यदि वहीं उसे पड़ा रहने दिया जाय तो उसका संहार भी निश्चित दिखाई देता है। क्षण भर के लिए उन समस्याओं पर विहंगम दृष्टि डालिए जिनका सर्जन स्वयं पूँजीवाद ने कर डाला है। यन्त्रों के द्वारा पदार्थों के उत्पादन की मात्रा का अकल्पित रूप से अपरिमित हो उठना स्वाभाविक था। जब तक संसार के अनेक प्रदेशों और बाजारों पर प्रभुता स्थापित करके उत्पन्न प्रभूत पदार्थों को अत्यधिक परिमाण में खपाना संभव था तब तक पूँजीवाद की नैया स्थिर गति से बराबर आगे की ओर बहती चली गयी। पर यह अवस्था अनन्त काल तक नहीं टिक सकती थी। धरती असीम नहीं है और न पदार्थों की खरीद करनेवालों की संख्या ही असंख्य है। साथ-साथ व्यवसाय में किसी एक देश को जगत् भर में एकाधिकार भी प्राप्त नहीं

हो सकता था और न उत्पादन की वैज्ञानिक पद्धति किसी एक ही देश की बपौती होकर रह सकती थी। यूरप के अनेक देश धीरे धीरे नये 'उद्योगवाद' को अपनाने लगे थे जो जगत् के बाजारों पर छापा मारने लगे थे। अनिवार्यतः वह स्थिति आयी जब उत्पत्ति खपत की अपेक्षा अधिक होने लगी। नये व्यवसायियों के लिए अपने माल को खपाने के लिए आवश्यक हो गया कि विरोधियों की अपेक्षा अपने माल को सस्ता करें।

पर अधिक दिनों तक यह स्थिति भी नहीं चल सकती थी। पदार्थों के मूल्य के पतन के साथ-साथ मजदूरी भी कम की जाने लगी, जिसके फलस्वरूप जनवर्ग की क्रयशक्ति का ह्रास होने लगा। जब खरीदार की खरीदने की शक्ति ही न रहेगी तो माल की खपत होगी कैसे? फलतः औद्योगिक देशों में उत्पन्न पदार्थों का भंडार भर उठा। उन्हें खपाये बिना उत्पादन करते जाना संभव नहीं था। खपाने के लिए माल को क्रमशः सस्ता करते जाना पड़ा। परिणामतः उत्पादन की क्रिया रुकने लगी और बेकारी बढ़ने लगी। फलतः ऐसे दुश्चक्र की सृष्टि हुई जिसमें जैसे जैसे उत्पादन बढ़ा वैसे वैसे माल की खपत कम हुई और उत्पादन की गति रुकने लगीं। जैसे जैसे उत्पादन कम होने लगा, माल सस्ता किया जाने लगा वैसे वैसे बेकारी बढ़ने लगी। यान्त्रिक 'उद्योगवाद' ने हस्तकौशलों, ग्राम-उद्योगों और कुटीर-व्यवसायों का सर्वनाश तो पहले ही कर दिया था। जन-समुदाय के लिए सिवाय कल-कारखानों के रोटी कमाने का कोई साधन बाकी नहीं बचा था।

जब कल-कारखाने तथा उत्पादन की क्रिया रुकने लगी तो बेकारों की अपार सेना के लिए न काम बाकी बचा और न भूख की शान्ति करने का कोई उपाय रह गया। इस कुचक्र में पड़कर 'पूँजीवाद' का सारा आर्थिक संघटन स्वयं ही भसकने लगा। जिस उत्पादन की प्रक्रिया के गर्भ से 'पूँजीवाद' का प्रसव हुआ था, वही उसके लिए विघातक सिद्ध होने लगी। औद्योगिक देशों की सरकारों की इस दुर्दशा से राष्ट्र को

बाहर निकालने के लिए नाना प्रकार के उपचार करने पड़े। पर वे सब उपचार समस्या को हल करने की दृष्टि से नहीं किये गये थे, बल्कि उनका लक्ष्य था पतनोन्मुख 'पूंजीवादी व्यवस्था की 'येन केन प्रकारेण' रक्षा करना। पूंजीवादी लोकतन्त्र वास्तव में लोकतन्त्र नहीं वरन् पूंजीपतितन्त्र के रूप में ही प्रतिष्ठित है। सारी प्रभुता, शासन-सत्ता और अधिकार केन्द्रीभूत हैं पूंजीपति वर्ग के हाथ में, क्योंकि सरकारों की नकेल उन्होंने पकड़ रखी है। स्वभावतः ये सरकारें पूँजीपतियों के हित के लिए और 'पूंजीवादी' व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ऐसे उपचार करने लगीं जो समस्या के मूल कारणों की उपेक्षा करके केवल वर्गहित का साधन करते थे।

साम्राज्य के बाजारों में प्रतिस्पर्धियों के माल का आयात रोकना, अपने देशों में जकात की ऊँची दीवारें खड़ी करना राष्ट्रीय उद्योगों के संरक्षण के नाम पर गरीब जनवर्ग को साम्राज्याधिपति राष्ट्र का महँगा माल भी खरीदने के लिए बाध्य करना, मुद्रा और विनिमय की नीति का इस प्रकार संचालन करना कि दूसरे देशों के बाजारों में अपने माल का मूल्य गिराकर बेचा जा सके और वहाँ के उद्योग तथा वाणिज्य-व्यापार को चौपट किया जा सके आदि कुछ ऐसे उपाय थे, जिनका अवलम्बन करके पूँजीपति वर्ग के हित की रक्षा करने का प्रयास किया गया। स्पष्ट है कि समस्या हल होने के बजाय उलझती ही चली गयी, क्योंकि मूल दोष के परिहार की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। दोष था 'पूँजीवादी उत्पादन, वितरण और विनिमय की पद्धति में और उस प्रवृत्ति में जिसके द्वारा उनका संचालन किया जाता है। दोष था उस व्यवस्था का जिसमें उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण होता है अनुत्पादक वर्गों के हाथ में और उसी के हाथों में वितरण और विनिमय का सारा सूत्र भी केन्द्रीभूत हो जाता है। यह स्थिति अनिवार्यतः वर्ग-स्वार्थ का प्रजनन करती है और शोषण का कारण बनती है। 'पूँजीवाद' में इसी का मूर्त रूप व्यक्त होता है। पूँजी और सम्पत्ति का केन्द्रीकरण

केन्द्रित वर्गहित के रूप में उद्भूत हो जाता है, जिसकी रक्षा में सारी अर्थनीति और राजनीति परिचालित होने लगती है।

एक वर्ग के हाथों में सब कुछ का केन्द्रीकरण ही तो मूल दोष था और है, जिसका निराकरण किये बिना समस्या को सुलझाना न संभव था और न हो सकता है। जब वर्ग-भेद होगा तो वर्गहित भी परस्पर विरोधी होंगे और वर्ग-संघर्ष भी अनिवार्य हो जायगा। इस प्रकार 'पूँजीवाद' ने अपने स्वरूप से ही उस स्थिति को उत्पन्न कर दिया है जो उसके लिये स्वयं ही भयावनी और संकटपूर्ण हो गयी है। उसकी अपनी व्यवस्था ही निसर्गतः अपने शत्रुओं का सर्जन करने में समर्थ हुई है। उसकी उत्पादन की प्रणाली और अर्थ-नीति ने स्वयं ही उत्पादन की क्रिया की गति का अवरोध न कर दिया है। उसकी लाभ उठाने की अन्ध-मूलक स्वार्थ-प्रवृत्ति ने स्वतः विरोधी वर्गों की स्वार्थभावना को उत्तेजना प्रदान कर दिया है। फलतः 'पूँजीवाद' अपने ही भार से समूल कम्पित हो उठा है। आज उसने जगत् को उस स्थान पर पहुँचा दिया है, जहाँ विभिन्न राष्ट्रों के पूँजीपतियों का हित परस्पर टकराने लगा है, जिसके फलस्वरूप ऐसे विश्वव्यापी महायुद्धों का सूत्रपात होता है जो 'पूँजीवादी' सभ्यता तथा तदुपार्जित सारे ऐश्वर्य और वैभव को मटियामेट कर देने के कारण होंगे।

जो लोकतन्त्र पश्चिमी सभ्यता की सबसे बड़ी देन थी और जिस पर उसे गर्व था, उसकी हत्या निष्ठुरतापूर्वक करने में पूँजीवाद सफल हुआ दिखाई देता है। लोकतन्त्रवादी कहे जाने वाले देशों में भी लोकतन्त्र की सत्ता बाकी नहीं रह गयी है। लोकतन्त्र की वह कल्पना जो सत्रहवीं और अठारहवीं शती में लाक और रूसो, बेन्थम और मिल के मस्तिष्क में प्रादुर्भूत हुई थी आज कहाँ व्यक्त हो रही है? कहाँ है मानव के उन नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा तथा सम्मान जिनकी पूर्ति के लिए ही उन्होंने सरकारों की उपयोगिता स्वीकार की थी? संक्षेप में लोकतन्त्र के आधारभूत भावों पर दृष्टिपात कीजिए और आज के अधिनायकवादी

नहीं किन्तु लोकतन्त्रवादी यूरोपियन देशों की स्थिति से उनकी तुलना कीजिए। आप देखेंगे कि आज जो कुछ है वह सर्वथा उन सिद्धान्तों का विरोधी है।

लोकतन्त्र की दृष्टि में प्रकृति का अटल सनातन विधान अपना ऐकान्तिक अस्तित्व रखता है जिसके अनुसार जीवन का संचालन होता है। वह विधान मनुष्य के कर्तव्य और अधिकार का निर्धारण स्वयं ही कर चुका है। लोकतन्त्र की घोषणा है कि मनुष्यमात्र का यह नैसर्गिक अधिकार है कि वह स्वतन्त्र रहे, स्वस्थ रहे, जीवन का निर्वाह कर सके और अपनी सम्पत्ति का उपभोग कर सके। लोकतन्त्र की दृष्टि में समाज की रचना का लक्ष्य यही है कि मनुष्य सफलतापूर्वक अपने अधिकारों का उपयोग अधिक से अधिक परिमाण में कर सके; क्योंकि प्रकृति ने ही उसे ये अधिकार प्रदान किये हैं। मनुष्य अधिक से अधिक अवसर, इन अधिकारों का उपभोग करने के लिए प्राप्त करे और परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हों जिनमें अबाध रूप से वह इनका आस्वादन कर सके। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए समाज ने साधनरूप सरकारों को जन्म प्रदान किया।

फलतः 'लोकतन्त्रवाद' के प्रतिपादक विचारकों की कल्पना में समाज और सरकार दोनों का अस्तित्व केवल इसलिए है कि वे मनुष्य को अपने नैसर्गिक अधिकारों का भोग करने में अधिक से अधिक सहायता प्रदान कर सकें; क्योंकि समाज हो अथवा सरकार कोई भी प्रकृति के विधान के परे नहीं है और वह विधान ही मनुष्य के अधिकार का निर्धारण कर देता है। जो शासन-सत्ता इस लक्ष्य की पूर्ति न कर रही हो अथवा अपने कर्तव्य की अवहेलना या उपेक्षा में रत हो उसके विरुद्ध विद्रोह करने और उसे मिटाकर दूसरी सरकार को स्थापित कर लेने का अधिकार समाज को उसी प्रकार प्राप्त है जैसे कोई कुशल शिल्पी अनुपयोगी अस्त्र का त्याग करके उपयोगी को ग्रहण कर लेता है। जब सरकारों की शक्ति और अधिकार समाज-प्रदत्त हैं तो समाज को अधिकार है कि उन अधिकारों का यदि दुरुपयोग होता हो अथवा कर्तव्य की पूर्ति में उनका सदुपयोग न होता हो तो उसे वापस कर ले।

'लोकतन्त्र' की इस कल्पना में स्वभावतः सरकार के संचालन का सारा अधिकार व्यापक जन-समूह के हाथों में ही निहित है। अन्तिम शक्ति सरकार के हाथ में नहीं किन्तु जनता के हाथ में है और शासन-सत्ता उसकी दासी मात्र है। 'बेन्थम' और उसके बाद 'मिल' ने जिस नैतिक सिद्धान्त की स्थापना की थी और जिसे सरकारों के अस्तित्व के आधार का रूप प्रदान किया था वह यही था कि अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक कल्याण, सुख और हित की रक्षा करने में समर्थ होना ही सरकार का लक्ष्य है और इसी दृष्टि से उसका अस्तित्व वांछनीय और उपयोगी है। इस प्रकार 'लोकतन्त्र' ने मनुष्य के अधिकार की घोषणा की थी। पर जहाँ उसने अधिकार की व्याख्या की वहीं कर्तव्य का निर्धारण भी कर दिया। उसकी दृष्टि में कर्तव्य और अधिकार का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। कर्तव्य बिना अधिकार की सत्ता ही नहीं है। जिस प्रकार कर्तव्य पूर्ति किये बिना सरकारों का कोई अधिकार नहीं माना जा सकता उसी प्रकार व्यक्ति के भी कर्तव्य हैं जिनकी पूर्ति किये बिना वह अपने अधिकार का उपभोग कर ही नहीं सकता।

व्यक्ति का कर्तव्य यही है कि वह जिस प्रकार अपने अधिकार की माँग करता है उसी प्रकार दूसरे के अधिकार का सम्मान करे, उसकी रक्षा करे और उसे वही अवसर प्रदान करे जिसे वह स्वयं प्राप्त करना चाहता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, व्यक्ति से व्यक्ति का सम्बन्ध है, अतः कोई भी व्यक्ति अपने अधिकारों का अधिक से अधिक उपभोग उसी समय कर सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति परस्पर दूसरे के अधिकार की रक्षा करने का कर्तव्य पालन करे। यदि आप मेरे अधिकार, मेरी स्वतन्त्रता और मेरे हित पर आघात करते हैं तो कोई दूसरा उसी प्रकार आपके अधिकार, आपकी स्वतन्त्रता और हित पर आक्रमण कर सकता है फिर तो किसी की न तो स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकेगी और न अधिकार। मनुष्य मत्स्यन्याय का शिकार हो जायगा और जिसकी लाठी

होगी उसी की हो जायगी भैंस। फलतः व्यक्ति को अपनी रक्षा, अपने हित, अपनी स्वतन्त्रता और अपने कल्याण के लिए भी यह आवश्यक है कि वह दूसरों की स्वतन्त्रता और हित का विचार करने, उसकी रक्षा और सम्मान करने का अपना कर्तव्य पूरा करे। निरंकुश होकर केवल अहं की पूजा का यहीं अन्त होता है।

अधिक से अधिक 'अहं' का विकास हो सके यह प्रत्येक व्यक्ति की, मनुष्यमात्र की स्वाभाविक एषणा होती है पर प्रकृति स्वयं इस प्रवृत्ति की, सीमा का निर्धारण करती दृष्टिगोचर होती है। 'अहं' के विकास के लिए भी 'अहं' को सीमाबद्ध करना आवश्यक होता है, क्योंकि बिना उसके वह विकास भी संभव नहीं है। 'अहं' के भाव में ही यद्यपि 'पर' के अस्तित्व की स्वीकृति समाविष्ट है तथापि 'अहं' और 'पर' का कल्याण इसी में है कि दोनों 'परस्परं भावयन्तः' के मार्ग का अनुसरण करें। यदि दोनों एक दूसरे के योगक्षेम तथा स्वार्थ और अधिकार का ध्यान न रखेंगे और परस्पर आदर न करेंगे तो वे दोनों स्वयं एक दूसरे का विनाश कर देंगे। इस प्रकार अहंभाव से भावित मनुष्य का स्वत्व परत्व की रक्षा की ओर उन्मुख रहकर ही अपना विकास कर सकता है। फलतः व्यक्ति को अपनी सीमा स्वयं बाँधने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उसे स्वेच्छा से समाज के चरणों में अपनी स्वतन्त्रता का, अपने नैसर्गिक स्वच्छन्द और अक्षुण्ण अधिकारों का अधिकांश समर्पण करना पड़ता है और अपने ऊपर बन्धन लगाकर समाज के निकट जाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। व्यष्टि और समष्टि के इस सान्निध्य, समन्वय और सहयोग पर न केवल व्यक्ति और समाज का अस्तित्व निर्भर है वरन् उन दोनों का विकास तथा श्रेय उसी में संभव है। इसी आधार पर व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध भी स्थापित है। इसी में दोनों के कर्तव्य की व्याख्या है।

व्यक्ति समाज की अवहेलना न करे और समाज व्यक्ति के

विकास का साधक बने। व्यक्ति समाज के हित को पूरा करे और उसमें अपना हित देखे तथा समाज प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक अपने अधिकारों के उपभोग का अवसर प्रदान करे। इस आदर्श की साधना के लिए उसे व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए तथा उसकी रक्षा करने के लिए शासनसत्ता का प्रादुर्भाव हुआ। शासक के हाथ में जो भी अधिकार और शक्ति है, वह समाजप्रदत्त है और उसका मूल व्यापक जनसमूह है। यही थी 'लोकतन्त्र' की कल्पना। मानवता के इतिहास में ऐसा शुभ युग आया जब 'लोकतन्त्र' की उपर्युक्त भावना और दृष्टिकोण का उदय यूरप में हुआ जो धीरे-धीरे जनवर्ग को प्रभावित करने लगा। पश्चिमी यूरप की जनता में इन विचारों ने प्रचंड मानसिक क्रान्ति कर दी, और मनुष्य की स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुत्व में जीवन की सार्थकता दिखाई देने लगी। पशुबल, वर्गप्रभुता और निरंकुशता की भित्ति पर स्थापित तत्कालीन सामन्तवादी समाज की जड़ मनुष्य की प्रगति की धारा के वेग से हिल उठी।

अनियन्त्रित राजन्यवर्ग जो राजसत्ता को दैवी अधिकार और शक्ति से संपन्न घोषित करके अपनी समस्त निरंकुशता और निर्दलन की नीति को धर्म द्वारा प्रतिपादित कर रहे थे वे इस नयी लहर से सिहर उठे। पर जनसमूह की कल्पनाएँ बदलती ही गयीं। सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन का मूल्य आँकने के लिए जिन आदर्शों का मानदंड स्थिर किया गया था वह स्वयं ही विचूर्ण होने लगा। नयी धारणाएँ उनका स्थान ग्रहण कर रही थीं। फलतः फ्रांस में अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में मनुष्य की स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की पुकार लेकर क्रान्ति हुई। जिन आदर्शों की स्थापना के लिए फ्रांस ने शस्त्र का सहारा लिया उन्हें ही ब्रिटिश जनता ने बिना रक्तपात के केवल लोकमत की तीव्रता और शक्ति के द्वारा प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। उधर अमेरिकन स्वाधीनता के युद्ध में 'मानवाधिकार' की घोषणा के द्वारा उन्हीं विचारों को महासमुद्र के पार जन्म दे डाला। वास्तव में 'लोकतन्त्रवाद' का उदय मानव-विकास की

प्रक्रिया में मनुष्य की नैसर्गिक अहिंसक प्रकृति की विजय थी, जिसने वर्ग-प्रभुता, अन्धशोषण और निरंकुश शासन-पद्धति के स्थान पर मानवाधिकार की कल्पना की। लोकतन्त्र की दृष्टि में यह तभी संभव था जब शासन-सत्ता पर जनता का सामूहिक रूप से अधिकार हो। इसी कारण 'लाक' ने प्रतिनिधिमूलक शासन-व्यवस्था के सिद्धान्त की रूपरेखा खींची। 'रूसो' ने तो विशुद्ध जनतन्त्र की कल्पना उसके चरमतम रूप में की। शासन-सत्ता की स्थापना का प्रतिपादन इस रूपमें करके मनुष्य ने जीवन सम्बन्धी प्रश्नों को शान्तिपूर्वक हल करने का उपाय ढूँढ़ निकाला।

अब तक शस्त्र के सहारे सर काटकर समस्याओं को हल करने और व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के संचालन की जो पद्धति थी उसके स्थान पर सर गिनकर समझौते, समन्वय और सामंजस्य के द्वारा उन्हीं बातों को पूर्ण करने की प्रथा ढूँढ़ निकाली गयी। स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण ही उस अहिंसक प्रवृत्ति का द्योतक है जिसकी उत्प्रेरणा मनुष्य के जीवन को स्वभावत: उसी प्रकार प्राप्त होती रहती है जिस प्रकार किसी भी दूसरी प्रवृत्ति की। 'लोकतन्त्र' की यह आभा मानव-जीवन को एक सीमा तक आलोकित करने में समर्थ हुई थी। यूरप की यह मानव-समाज को बड़ी भारी देन थी जिस पर उसे गर्व करने का उचित अधिकार था। लोकतन्त्र के प्रकाश में मनुष्य की ऐतिहासिक गति एक विशेष दिशा की ओर मुड़ती दिखाई पड़ी। पर मानवता के दुर्भाग्य से यह प्रकाश एक दिन क्षीण होता और धीरे-धीरे बुझता दिखाई देने लगा। 'लोकतन्त्रवाद' की जन्मभूमि यूरप में आज लोकतन्त्र का जैसा निर्दलन और उपहास होता दिखाई दे रहा है वह रोमांचक है।

यदि आप लोकतन्त्रात्मक देशों पर दृष्टिपात करें तो देखेंगे जननायक वास्तव में वर्ग-हित का ही साधन कर रहे हैं। अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक हित के संपादन का सिद्धान्त न जाने कब का समाप्त हो चुका है। न कहीं मनुष्य के नैसर्गिक अधिकार रह गये हैं और न कहीं रह गयी है ऐसी सरकार जिसकी सत्ता व्यापक जनवर्ग के अधिकारों की

रक्षा और हित की पूर्ति के लिए साधन रूप समझी जाती हो। वास्तव में आज सरकारें व्यक्ति के लिए नहीं, समाज के लिए नहीं रह गयीं हैं, प्रत्युत व्यक्ति और समाज ही सरकार के लिए रह गया है। स्वतन्त्रता और मनुष्य के अधिकार-सम्बन्धी सिद्धान्त मुख से भले ही उच्चरित होते हों, भले ही लोकतन्त्रात्मक आदर्शों और कल्पनाओं का व्यवधान खड़ा किया जाता हो पर उनके आवरण में प्रचंड निरंकुशता और वर्गप्रभुता की ही साधना की जाती है।

सरकारों की शक्ति और प्रभुता अपरिमित और अक्षुण्ण हो गई है। उसके पास सहारा रह गया है एकमात्र पशुबल का। उसका कर्तव्य हो गया है वर्गों और गुटों के स्वार्थ के लिये आवश्यकतानुसार जन-समाज के अधिकारों का निर्दलन करना। केन्द्रीभूत शक्ति और अधिकार की प्रचंड प्रतिमा के रूप में स्थित सरकार-नामधारी संस्था सम्प्रति विकराल और भयावनी हो चुकी है। 'जनतन्त्र' का अर्थ और उसका भाव तो यह रहा है कि शासन-शक्ति जन-समाज में समान रूप से वितरित हो। जो शक्ति और जो अधिकार किसी युग में अनियन्त्रित राजाओं के हाथ में थे, जो उनके परिवार अथवा कुटुम्बी जनों अथवा सामन्तों की मुट्ठी में थे, उन्हें जनतन्त्र के द्वारा जन-समूह को समर्पित कर देने की चेष्टा ही लोकतन्त्र में मूर्त हुई थी। केन्द्रित और निरंकुश शक्ति का विघटन करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि मनुष्य ने यह अनुभव किया कि किसी व्यक्ति, वर्ग या समूह के हाथों में सर्वाधिकार प्रदान कर देना ऐसा भयावना रोग है जो जनता की स्वतन्त्रता और जनाधिकार के अपहरण तथा जनहित के निर्दलन की ओर अनिवार्यतः प्रवृत्त होगा।

इस रोग का निराकरण उसी दशा में संभव है जब सब पर शासन करने का अधिकार सबको प्राप्त हो। उसी दशा में प्रत्येक प्रत्येक के अधिकार और हित की चिन्ता करने के लिए बाध्य होगा; क्योंकि बिना इसके किसी एक का भी हित सुरक्षित नहीं रह सकता। पर आज 'लोकतन्त्रात्मक' कही जानेवाली सरकारें निरंकुश हैं, जो स्वयं प्रभु हैं और अपने से

उत्कृष्ट किसी दूसरे का अस्तित्व स्वीकार नहीं करतीं। उनकी दृष्टि में उनके सिवा किसी दूसरे के अधिकार का भी अस्तित्व नहीं है और न उनके हित के सम्मुख किसी अन्य के हित का प्रश्न ही उठता है। मनुष्य-समाज अतीत में शासन-सत्ता से उत्पीड़ित होता रहा है। लोकतन्त्र ने उस उत्पीड़न से उसे मुक्त करने का प्रयास किया पर हम देख सकते हैं कि स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। एक दृष्टि से उत्पीड़न की मात्रा पूर्व की अपेक्षा अद्यावधि कहीं अधिक है। आज की सरकारों के पास ऐसे साधन उपलब्ध है, जिनका पूर्वकाल में कहीं पता भी न था। ये सरकारें महती शक्ति से संपन्न हैं जिसका उपयोग करके समाज में जीवन का सारा सूत्र वे अपने हाथों में कर लेने में समर्थ होती हैं। उनकी अकल्पित और यान्त्रिक शक्ति से मानव-जगत् का क्षितिज अन्धकाराच्छन्न हो गया है।

उचित और अनुचित, नीति और अनीति के निर्णय करने का सारा अधिकार उन्होंने हड़प कर रक्खा है। आज की सरकारें दूसरे देशों के सामने मनमाने दावे पेश कर सकती हैं, अपने देश की जनता को अपने चरणों में स्वाधिकार समर्पण कर देने के लिए विवश कर सकती हैं और देश को जब चाहें युद्ध की अग्नि में झोंक सकती हैं। उन्हें अधिकार प्राप्त है कि अपनी सीमा में निवास करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिवार, अपने धन, अपनी संपत्ति तथा अपने प्राण तक को स्वाहा कर देने के लिए बाध्य कर दें। सरकारें यदि चाहेंगी तो आपको मनुष्य की हत्या करनी ही पड़ेगी, चाहे आप इसे पाप ही क्यों न समझते हों। आपकी सरकार युद्ध में लिप्त होकर न्याय कर रही हो या अन्याय, जिन कारणों को लेकर वह मनुष्य द्वारा मनुष्य की हत्या करा रही हो वह उचित हो या अनुचित, पर आपको उसकी आज्ञा के सामने चुपचाप शिर झुका देने के सिवा दूसरा अधिकार प्राप्त नहीं है।

सरकारों के लिए तो नैतिकता का भी कोई बन्धन नहीं रहा। असत्य, स्वार्थ, हत्या, प्रवंचन आदि भले ही व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में

अपराध माने जाते हों, भले ही सरकारें इनके लिए व्यक्ति को दंड का भागी बनाती हों, पर वे स्वयं इनसे परे हैं। वे जब चाहें इनका आश्रय ग्रहण करें, अपनी प्रजा को भी यही करने के लिए बाध्य करें और अपनी सफलता में गर्व करें। कोई शक्ति नहीं है जो उनसे जवाब भी तलब कर सके। व्यक्ति भले ही 'मैं' के सिवा 'तुम' की सत्ता स्वीकार करे, वह अपने संकुचित स्वार्थ की परिधि के परे जीवन के लिए अधिक उत्कृष्ट और उन्नत आदर्श भी भले ही स्वीकार करे, पर सरकारों के सामने इसकी भी कोई मर्यादा नहीं है। वे केवल अपने हित को जानती हैं और जो चाहती हैं वही करना उचित समझती हैं। सरकारों का, उन सरकारों का भी जो लोकतन्त्रात्मक होने का दावा करती हैं, यह स्वरूप है। उनमें भी शक्ति और अधिकार का कैसा भयावना केन्द्रीकरण हो गया है। देश की जनता के जीवन पर आज की सरकारों का कैसा स्वच्छन्द और सम्पूर्ण अधिकार स्थापित है। अपनी प्रभुता बनाए रखने के लिए वह अपने देश की जनता-स्वतन्त्रता पर आघात करती है। किसी को अधिकार नहीं है कि उसकी शक्ति, उसकी प्रभुता और उसके निर्णय के विरुद्ध चूँ भी कर सके।

आखिर क्या कारण है कि सरकारों ने यह रूप ग्रहण किया ? वह कौन-सी प्रक्रिया और परिस्थिति है जिसने उन्हें इस साँचे में ढाल दिया ? जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं और इतिहास के पन्नों पर दृष्टिपात करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि लोकतन्त्र की धारा 'पूँजीवाद' के मरुस्थल में पहुँचकर सूख चली। अकल्पित और अभूत-पूर्व रूप से अत्यधिक मात्रा में पदार्थों का निर्माण जब संभव हुआ और उसे जगत् के सुदूर कोनों में ले जाकर जब बेचना संभव हुआ और जब दुनिया के बाजारों पर अपना अधिकार स्थापित करना सरल हो गया तब 'यन्त्रवादी' उद्योग की कृपा से अप्रत्याशित लाभ उठाना भी संभव हो गया। 'पूँजीवाद' का जन्म और विकास इसी भांति हुआ। केन्द्रीभूत पूँजी का परिणाम पूँजीवाद के रूप में प्रकट हुआ। केन्द्रित पूँजी

परिणाम था यान्त्रिक उत्पादन प्रणाली का, जिसमें उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व स्थापित था पूँजीपतियों का। यान्त्रिक उत्पादन-प्रणाली में उत्पादन के साधन केन्द्रीभूत होते हैं और उत्पत्ति की प्रक्रिया भी केन्द्रित ढंग से ही होती है। पूँजी, उत्पादन, उत्पादन के साधन का श्रम सबका केन्द्रीकरण हुए बिना उत्पत्ति का यान्त्रिक प्रकार चल ही नहीं सकता।

बिना इस केन्द्रीकरण के पदार्थों का निर्माण उस व्यापक और विस्तृत परिमाण में हो ही नहीं सकता जिस मात्रा में आज किया जाने लगा है। उत्पादन भी इस पद्धति के द्वारा धरातल के समस्त मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामग्रियों के निर्माण का एकाधिकार जब यूरप के कुछ प्रमुख औद्योगिक देशों के मुट्ठी भर महाजनों और व्यावसायिकों को प्राप्त हो गया तब उसका परिणाम हो ही क्या सकता था? माल की व्यापक बिक्री और खपत के फलस्वरूप अकल्पित लाभ उठाया गया।

ऐसी स्थिति में पूँजी की उत्तरोत्तर वृद्धि और एकत्रीकरण स्वाभाविक था। जगत् की सारी संपदा कुछ देशों के पूँजीपतियों के करतलगत हुई। केन्द्रीकरण की जिस प्रवृत्ति ने पूँजीवाद को जन्म दिया वही प्रवृत्ति सामाजिक जीवन के अंग-प्रत्यंग में छा गयी। व्यक्ति को तो उसने परावलम्बी बनाकर छोड़ा। जब उत्पादन, वितरण और विनिमय की सारी व्यवस्था केन्द्रीभूत होकर कुछ के हाथों का खेल बन गयी तब साधारण जनता को जीवन की आवश्यक सामग्रियों की उपलब्धि के लिए किसी केन्द्रीय व्यवस्था का मुखापेक्षण करना ही पड़ेगा। कार्यतः यह परावलम्बन उसकी पराधीनता का कारण हुआ, दूसरी ओर सामाजिक जीवन भी वर्गसत्ता और वर्गस्वार्थ से विताड़ित हो गया। जिस वर्ग के हाथों में उपर्युक्त आर्थिक व्यवस्था का सूत्र आ जायगा वह अपने हित और अपने स्वार्थ तथा लाभ की रक्षा और वृद्धि के लिए अधिकाधिक सतर्क और यत्नशील होता ही जायगा।

इसी प्रकार वर्गस्वार्थ का प्रजनन हो जाता है, जिसकी रक्षा के लिए वर्ग की प्रभुता आवश्यक हो जाती है। यह प्रभुता प्राप्त करना तब तक

संभव ही नहीं है, जब तक पूँजीपति वर्ग स्वतः शासन-यन्त्र पर आरूढ़ होकर उसके संचालन का सूत्र अपने हाथों में न ले ले। वर्गस्वार्थ की पूर्ति ही जिस अर्थनीति का आधार हो जाय वह विरोधी वर्गों की उत्पत्ति अवश्य ही कर देगी। सारा जन-समाज यदि किसी केन्द्रित आर्थिक व्यवस्था का परावलम्बी बना दिया जायगा तो निश्चित है कि पराधीनता, शोषण और दलन का सर्जन हो जायगा। यह स्थिति इतनी अप्राकृतिक, अन्यायपूर्ण और अनीतिमूलक है कि उसे स्थायी बनाने के लिए शक्ति और अधिकार के केन्द्र पर छापा मारना उस वर्ग के लिए अनिवार्य था जो उक्त व्यवस्था की रक्षा में अपने वर्गस्वार्थों की सिद्धि देख रहे थे। शासन-सत्ता, शक्ति और अधिकार की संस्था है ही जिसका उपयोग किए बिना पूँजीपतिवर्ग के लिए न अपनी रक्षा करना संभव था, न प्रभुता प्राप्त करना। फलतः उन्होंने अपनी सारी प्रतिभा और धन के द्वारा लोक-तन्त्र की व्यवस्था का गला धर दबोचा। पूँजीवादी यान्त्रिक 'उद्योगवाद' में जिस केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का आविर्भाव हुआ उसने सारे समाज में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति ही पैदा कर दी। शासन-सत्ता भी इस प्रवृत्ति से अछूती नहीं रह सकती। वर्गस्वार्थ जैसे-जैसे उग्र होता गया वैसे-वैसे उसकी रक्षा की चेष्टा भी बढ़ती गई। इस चेष्टा में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक होता गया कि शासन-तन्त्र के अधिकार और उसकी शक्ति का केन्द्रीकरण अधिकाधिक मात्रा में होता चले। 'पूँजी-वाद' के विकास के साथ-साथ शक्ति और अधिकार का केन्द्रीकरण इसी कारण होता गया। लोकतन्त्र आज इसी केन्द्रीकरण का विकृत स्वरूप ग्रहण कर चुका है। जैसा कि कह चुका हूँ, 'जनतन्त्र' शक्ति और अधि-कार के अधिकाधिक वितरण का ही नाम है। यदि वितरण की इस गति का अवरोधन कर दिया गया और उसके स्थान पर केन्द्रीकरण होने लगा तो लोकतन्त्र यों ही मर चुका।

'पूँजीवाद' का शत्रु बोलशेवी रूस यद्यपि 'पूँजीवाद' का विनाश करने चला पर उसने पूँजीवाद की केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बुरी तरह

अपना लिया। आज रूस की मजदूर सरकार केन्द्रित शक्ति और अधिकार का प्रचंड प्रतीक है। उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों का, शक्ति और अधिकार का तथा शासनसत्ता का जो केन्द्रीकरण रूस में हुआ है वह अतुलनीय है। दूसरी ओर लोकतन्त्र का विरोधी 'फ़ासिटीवाद' या 'नाज़ीवाद' शासनसत्ता के केन्द्रीकरण का बीभत्सतम रूप है। पर 'बोलशेवीवाद' और 'नाज़ीवाद' को छोड़ दीजिए तो भी जो 'लोकतन्त्रवादी' बने रह गए वे भी फ़ासिस्टों या नाज़ियों से विशेष भिन्नता नहीं रखते। आज का लोकतन्त्र वस्तुतः 'पूँजीपति' तन्त्र के रूप में ही प्रतिष्ठित है। अमेरिका और ब्रिटेन लोकतन्त्र के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं। पर दो दशकों के उनके इतिहास पर दृष्टिपात कीजिए और आप देखेंगे कि 'लोकतंत्र' का आवरण रखते हुए भी उन देशों में धीरे-धीरे शासन-शक्ति और अधिकार को अधिकाधिक उस सरकार के हाथों में केन्द्रित करते जाने की 'फ़ासिटी' प्रवृत्ति विकसित होती रही है, जिस पर वहाँ के व्यावसायिकों और महाजनों का प्रभुत्व स्थापित है।

उन देशों में जन-समाज के अधिकारों का अपहरण धीरे-धीरे होता गया है। 'लोकतन्त्रवादी' देशों का उपर्युक्त वर्ग स्पष्टतः 'फ़ासिटियों' और 'नाज़ियों' के प्रति प्रशंसात्मक और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि रखता रहा है। फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका की सारी अन्तर्राष्ट्रीय नीति जो गत दस वर्षों में बढ़ती गई है, वह इसका अकाट्य प्रमाण है। प्रमुख और प्रभावशील राष्ट्रनायकों के एक नहीं अनेक ऐसे उद्गारों के उद्धरण उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनमें उन्होंने इटली और जर्मनी की फ़ासिटी पशुता के प्रति प्रेम प्रदर्शित किया है और खुले शब्दों में उनसे मित्रता तथा सहयोग की आवश्यकता बताई है। आज श्री चर्चिल ब्रिटिश जनता के नायक और लोकतन्त्र के परम पोषक होने का दम्भ रच रहे हैं, पर उन्हीं के एक वाक्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना अनुचित न होगा। सन् १९२७ ई० में जब ब्रिटेन में 'वाल्डविन' की सरकार थी श्री चर्चिल

ने अर्थमन्त्री की हैसियत में रोम की यात्रा की और इटालियन जनता के सामने भाषण किया।

आप अपने भाषण में कहते हैं—"सिगनर मुसोलिनी की शान्त, अनासक्त तथा सौम्य मूर्ति को देखकर मैं मुग्ध हुए बिना न रह सका। इतने संकटों और कठिनाइयों के रहते हुए भी उन्होंने जो धीरता प्रदर्शित की है उससे प्रभावित हुआ हूँ। यदि मैं इटालियन रहा होता तो मुझे निश्चय है कि 'लेनिनवाद' की पाशविकता के विरुद्ध मुसोलिनी ने जो सफल युद्ध छेड़ा है, उसमें आरम्भ से अन्त तक उनके साथ रहता और अपनी सारी शक्ति लगा देता। इस अवसर पर मैं फ़ासिज्म के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप पर दो शब्द कहना उचित समझता हूँ। इस आन्दोलन ने स्पष्टतः सारे जगत् की महती सेवा की है। इटली ने यह दिखा दिया कि वर्तमान सभ्य समाज की रक्षा का और उसे स्थिरता प्रदान करने का एक मार्ग है, जिसके द्वारा उन विनाशात्मक शक्तियों का प्रतिरोध किया जा सकता है जो आज जगत् के लिए भयावह हो गयी हैं। उसने वास्तव में रूसी विष का परिहार करने के लिए औषध उपस्थित कर दिया है।"

ये वाक्य हैं चर्चिल महाशय के जो आज 'लोकतन्त्र' के सर्वोत्कृष्ट संरक्षक होने का दम भरते हैं। 'फ़ासिटीवाद' की महिमा उन्हीं ने गायी थी; यद्यपि आज उसी को मानवता का शत्रु और बर्बरता का प्रवर्तक कहते हैं। यह मतपरिवर्तन केवल इसलिए हुआ है कि मुसोलिनी की सौम्य और शान्त मूर्ति तथा जगत् की सेवा करनेवाला फ़ासिज्म समय आने पर विश्व पर छाई ब्रिटिश पताका की प्रभुता और 'साम्राज्यवादी' ऐश्वर्य के लिए भयावह हो उठा। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'लोकतन्त्रवाद' का दम भरनेवाले वास्तव में प्रच्छन्न फ़ासिस्ट हैं जो 'पूँजीवादी' वर्गस्वार्थ की रक्षा के लिए 'लोकतन्त्र' की हत्या करने में समर्थ हुए और जब उसी स्वार्थ को ठेस पहुँची तो लोकतन्त्र के रक्षक होने का दम भरने लगे। तात्पर्य यह है कि 'पूँजीवाद' ने जिन प्रवृत्तियों को जन्म दिया उन्होंने लोकतन्त्र का भी विनाश कर डाला। उत्पादन के साधनों और

उत्पादन की पद्धति के केन्द्रीकरण से पूँजी का केन्द्रीकरण और पूँजी के केन्द्रीकरण से वर्गहित का केन्द्रीकरण तथा अन्त में उसकी रक्षा के लिए शक्ति और अधिकार का केन्द्रीकरण, इस केन्द्रीकरण के फलस्वरूप लोक-तन्त्र का तिरोभाव—संक्षेप में यही प्रक्रिया थी जिसने 'लोकतन्त्र' का विनाश कर डाला।

शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण पर स्थापित व्यवस्था की रक्षा करने के लिए भी कोई न कोई उपाय आवश्यक था। इस उपाय को ढूँढ़ निकाला गया शस्त्र के बल में। आज जगत् की सरकारों ने शस्त्रबल को भी वह सुसंघटित केन्द्रीय रूप प्रदान किया है जिसके भार से धरती डग-मगा उठी है। ब्रिटेन और अमेरिका आदि देशों का ऐसा प्रगतिशील वर्ग अपने अपने देशों में उदीयमान इस प्रवृत्ति से त्रस्त है। अमेरिका के उपराष्ट्रपति श्री हेनरी वैलेस ने भाषण करते हुए अभी हाल में कहा है कि "अमेरिका में नये प्रकार के 'फ़ासिटीवाद' का उदय हो रहा है। मैं देख रहा हूँ कि यह अमेरिकन फ़ासिज्म मानवता की प्रगति के लिए भयावह हुआ चाहता है। युद्धोत्तर व्यवस्था में अमेरिकन राष्ट्र का एकमात्र महान् कर्तव्य यह होना चाहिए कि वह इस नये अमेरिकन 'फ़ासिटीवाद' का विकास रोक दे।"

विचार कीजिए कि यह अमेरिकन 'फ़ासिटीवाद' क्या है ? क्यों उस देश के बड़े-बड़े उद्योगों और व्यवसायों तथा पूँजी के प्रभुओं का गुट शासन-सत्ता पर अपने निरंकुश अधिकार की स्थापना के लिए प्रबल प्रयास में संलग्न हो गया है। उसके लिए वाल्स स्ट्रीट का हित अमेरिका के हित से, मानव-समाज के हित से और जगत् के हित से कहीं बढ़कर है। वह अपने देश की सरकार को अपने हाथों में रखकर राष्ट्र की आर्थिक, राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय नीति का संचालन इस प्रकार करना चाहता है कि अधिक से अधिक विश्व का शोषण हो सके, व्यवसाय से लाभ उठाया जा सके और अपने धनकोष को आकंठ भरा जा सके। आज अमेरिकन लोकतन्त्र भी पूँजीपतिवर्ग-सत्ता की ही अभिव्यक्ति है।

अमेरिका के मानवाधिकार (राइट्स आफ़ मैन) की घोषणा ने मनुष्य को स्वतन्त्र नहीं बनाया। स्वयं अमेरिका के काले 'नीग्रो' की दशा संसार के सम्मुख है। एक अमेरिकन राष्ट्रपति को फिलिपाइन्स द्वीपसमूह पर अपना अधिकार स्थापित करके उसे अपना पराधीन बनाने के लिए दैवी उत्प्रेरणा तक मिल गयी। मनुष्यमात्र की स्वतन्त्रता का उनका सिद्धान्त न जाने कहाँ चला गया है। एशिया-निवासियों के विरुद्ध अमेरिका के वर्णभेदमूलक कानून आज भी उस महासिद्धान्त का मखौल उड़ा रहे हैं जिसका प्रतिपादन और अभिषेचन अमेरिकन रक्त से हुआ था। फ्राँस की राज्यक्रान्ति की नयी कल्पना ने भी मनुष्यमात्र की समानता, बन्धुत्व और स्वतन्त्रता की सत्ता स्थापित न की। फ्राँसीसी साम्राज्यवाद का शिकार होकर न जाने कितना बड़ा जन-समाज शताब्दियों तक परितप्त रहा है। उसकी साम्राज्य-लिप्सा और प्रभुता-प्राप्ति की कामना तथा वर्गहित की साधना फ्राँसीसी राष्ट्र को ही ले डूबी। ब्रिटेन की 'बहुजनहिताय' और 'बहुजनसुखाय' की कल्पना भी अपना विशेष अर्थ रखती है। इंगलैण्ड के मिल-मालिक, महाजन और औद्योगिक प्रभुओं के सिवा वहाँ की शासन-सत्ता की दृष्टि में कदाचित् कोई 'जन' है ही नहीं। उनमें से अधिक से अधिक का हित और अधिक से अधिक का सुख ही उसका लक्ष्य है। वसुधा उसके सिद्धान्त से प्रवंचित है क्योंकि उसके अंक में परिपालित और उसी के गर्भ से उद्भूत अति-व्यापक जनवर्ग 'बहुजनहिताय' तो नहीं पर 'अंगरेज-महाजनहिताय' शोषित, दलित और विताड़ित है। युद्ध के पूर्व तक फ्राँस और इन पंक्तियों के लिखने के समय तक ब्रिटेन, दो सर्वश्रेष्ठ साम्राज्याधिपति राष्ट्र हैं। इन दोनों देशों की सम्मिलित जन-संख्या नौ करोड़ से अधिक नहीं है, जो स्वयं संयुक्त रूप से पृथ्वी के साठ करोड़ नर-नारियों की पराधीनता के कारण हो गये हैं। अकेले इंगलैंड के अधीन प्रायः ४८ करोड़ नर-नारी शोषण और निर्दलन तथा पराधीनता का जीवन यापन कर रहे हैं। उनकी एकमात्र सार्थकता ब्रिटिश पूँजीपतियों, शासकवर्गों और

महाजनों के स्वार्थ, उनकी वासना और प्रवृत्ति की पूर्ति करते रहने में ही समझी जाती है।

आज किस देश में मनुष्य स्वतंत्र है और कहाँ की राजनीति व्यक्ति और समाज के व्यापक हित के लिए परिचालित है? यूरप की फ़ासिटी व्यवस्थाओं से दलित देशों में राज्य-सत्ता की कल्पना तो वैसी ही है जैसी बर्बर युग में रही होगी। "राज्यसत्ता स्वतंत्र और अक्षुण्ण है और व्यक्ति तथा समाज का अस्तित्व यदि है तो केवल उसी लिए।" मुसोलिनी का यही सिद्धान्त है जो समझते हैं कि मानव के उत्तम गुण और उसके उज्ज्वल अंशों का विकास तभी संभव है जब जगत् में समरानल प्रज्व-लित होता रहे। मानव-जीवन की उपयोगिता केवल इतनी समझी जाती है कि उसे कुचलकर शासक अपनी प्रभुता की प्रवृत्ति तृप्त कर सके। मनुष्य के खून से इस व्यवस्था का सेचन हो इसलिए कि वह अधिका-धिक उसका रक्त पान करने में समर्थ हो। हिटलर का नाज़ीवाद तो इससे भी एक पग और आगे बढ़ गया। उनकी कल्पित 'आर्यजाति' का प्रतीक नाज़ी जर्मनी है जिसे, उसके मतानुसार, प्रकृति, ईश्वर और इतिहास से यह अधिकार प्राप्त हुआ है कि आसमुद्र भूमंडल पर वही एकमात्र शासन कर सके। हिटलर की दृष्टि में मानवता का कल्याण इसी बात में है कि वह चुपचाप नाज़ी पदाघात को अपने वक्षःस्थल पर स्थापित कर ले। नाज़ियों की दृष्टि में यही वह ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसे परिपूर्ण करने के लिए हिटलर का अवतार हुआ है। जगत् की जो शक्ति इसमें बाधक हो उसे विनष्ट कर देने का दिव्य कार्यभार विश्वात्मा ने मानों हिटलर पर ही छोड़ा है।

अधिनायक-सत्ताधीन किस देश में जनवर्ग स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व का उपभोग कर रहा है? कहाँ है मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार और कहाँ है अधिक से अधिक लोगों की रक्षा और हित तथा सुख के सम्पादन का आदर्श? जाति-विद्वेष उग्रतम रूप में, पशुबल घृणित मात्रा में और बर्बरता का नग्न नर्तन! यहूदियों का लहू पी लिया गया

क्योंकि वे अनार्य समझे गये। विश्व की प्रभुता के लिए जर्मन जनता बलि चढ़ा दी गयी। अब समाजवादी रूस की ओर चलिए। रूस की सोवियट शासन-पद्धति ने कब व्यक्ति की स्वतंत्रता स्वीकार की? समाजवाद की विचार-धारा में व्यक्तिवाद का उन्मूलक तत्त्व ही विकसित हुआ। व्यक्ति-सत्ता यदि है तो उसकी एकमात्र उपयोगिता और सार्थकता यही है कि समाज के लिए उसकी बलि चढ़ा दी जाय। मार्क्स को इसी में व्यक्ति की उन्नति और उसका हित भी दिखाई देता है। वे कहते हैं—"मानव-जाति का विकास और इस प्रकार व्यक्ति का विकास भी केवल उस ऐतिहासिक प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है जिसमें व्यक्ति की बलि चढ़ा दी जाती है।" फलतः सोवियट-पद्धति व्यक्ति की भावना, स्वतन्त्रता और अधिकार का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं करती। यही कारण है कि उसके शासन का यन्त्र व्यक्तिवाद को कुचल कर ही चलता है।

समाजवादी, व्यक्ति के स्थान पर समाज को स्थापित करता है, पर उसके समाज की सीमा वह नहीं है जो उक्त शब्द के साधारण अर्थ में गर्भित है। उसके समाज का अर्थ श्रमिकवर्ग से है जो मजदूरी लेकर उत्पादनक्रिया में संलग्न है। मज़दूरों का वर्ग ही वह समाज है जिसके हित में, विकास में और उन्नति में समस्त अ-श्रमिकवर्ग को बलि चढ़ा देने में मानवता के कल्याण का साधन और ऐतिहासिक प्रक्रिया की पूर्ति समझी जाती है।

उसका आदर्श है जगत् में ऐसे समाज की रचना करना जो वर्गहीन हो। तर्क यह है कि जब वर्ग ही समाप्त हो जायगा तो शोषक और शोषित का भेद भी मिट जायगा और मिट जायगा वर्गों का परस्पर विरोधी स्वार्थ। इस समाज के अधिकार में उत्पादन और वितरण के सारे साधन रहेंगे। उसी समय राज्य-सत्ता का अस्तित्व भी क्रमशः क्षीण होते होते एक दिन पूर्णतः विलुप्त हो जायगा। यह है उनका आदर्श। पर जब तक उसकी उपलब्धि नहीं होती तब तक कम्यूनिस्टों की ऐतिहा-

सिक प्रक्रिया का परिचालन इसी बात में है कि मज़दूर वर्ग की अधि-नायक सत्ता स्थापित की जाय जो बलपूर्वक अन्य सब वर्गों को कुचल कर वर्गहीनता की ओर बढ़े। श्रमिकों की अधिनायकता का संचालन वह पार्टी करती है जो मज़दूरों का प्रतिनिधि होने का दावा करती है और जिसने मज़दूर क्रान्ति को सफल बनाकर शासन-व्यवस्था पर जबर-दस्ती अधिकार स्थापित कर लिया है।

रूस में आज उसी बोलशेविक पार्टी का आधिपत्य है। वर्गहीन समाज की स्थापना और अराजक समूह-सत्ता का आदर्श कभी व्यावहा-रिक रूप ग्रहण करेगा या नहीं यह तो भविष्य के गर्भ में है, पर सम्प्रति जो कुछ हो रहा है वह इतना ही है कि उक्त व्यवस्था ने उस लौह-युग का प्रजनन कर दिया है जिसके दुर्धर्ष वेगमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता पीस डाली गयी है। निरंकुश और दलगत अधिनायकवाद के सम्मुख मानव-जीवन का कोई मूल्य बाकी नहीं रहा। उसकी लम्बी भुजा व्यक्ति और समाज के जीवन के अंग-प्रत्यंग को अपनी मुट्ठी में रखने में समर्थ हो रही है। उसकी इच्छा और संकेत के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग इच्छा करे, विचार करे, मत व्यक्त करे, कल्पना करे, मिले-जुले, पढ़े-लिखे, मनोरंजन करे, भोजन-शयन करे और अपनी रोटी कमाने का उपाय करे। पूँजीवादी लोकतन्त्र यदि महाजनों और पूँजीपतियों के एक छोटे से वर्ग का हित संपादन करने में ही व्यस्त है, यदि हिटलर की आर्य जाति की कल्पना नाज़ीदल को जगत् की प्रभुता प्रदान करने के निमित्त मानवता के हृदय का रक्त पान करने के लिए उभाड़ रही है, यदि राजसत्ता के अक्षुण्ण अस्तित्व की कल्पना मुसोलिनी को उन्मुक्त शासक बनने के लिए अग्रसर कर रही है तो मज़दूर वर्ग के अधिनाय-कत्व की स्थापना के लिए और अपनी ऐतिहासिक प्रक्रिया की पूर्ति के निमित्त स्टालिन भी अभूतपूर्व दलाधिराज बनकर उस कठोर नौकरशाही सरकार के विधाता बन गये हैं जिसने रूस के जीवन को भी वहाँ की भूमि के सदृश यान्त्रिक जड़ता प्रदान कर दी है। उन देशों के राजनीतिक

संकट की तो बात ही मत पूछिए जो दुर्भाग्य से किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र के शासनाधीन प्रदेश या उपनिवेश हैं। भारत का रोम-रोम उस संकट से भली भांति परिचित है। यह महाराष्ट्र सहस्राब्दियों की उथल-पुथल देख चुका है और देख चुका है कि मानवता किस प्रकार लड़खड़ाती, गिरती, उठती और पुनः आगे बढ़ती चली गयी है। जब से सभ्यता के युग का आविर्भाव हुआ है तब से आज तक धरातल के राजनीतिक रंगमंच पर जितने भी अभिनय हुए उन सबमें अभिनेता की दृष्टि से भारत का स्थान प्रमुख रहा है। कौन नहीं जानता कि यूनान और रोम से प्रायः शताब्दियों पूर्व भारतीय क्षितिज पर राजनीतिक प्रकाश की उज्ज्वल रश्मियाँ चमक चुकी थीं। वही भारत आज उन सभ्यों की शासन-व्यवस्था के अधीन है जो महान् और उन्नत राजनीतिक कल्पना के जनक तथा परिपोषक माने जाते हैं। जब जगत् का अधिकांश बर्बर था, उस समय सभ्यता की जो लहरी प्रवाहित हुई थी उसे भारत ने देखा था। आज जब जगत् का अधिकांश सभ्य है तब बर्बरता की जो उत्कट और उत्ताल तरंगें उठ रही हैं उन्हें देखनेवाला भी उसके समान दूसरा नहीं है। श्वेत जातियों द्वारा शासित और निर्दलित देशों पर आये हुए रोमांचकारी राजनीतिक संकट का प्रकांड साक्षी भारत के समान दूसरा कौन मिलेगा? क्या आज उसकी विवेचना की आवश्यकता है? मैं समझता हूँ कि भारत का एक एक प्राणी इस भूमि का एक एक कण उससे परिचित है। फिर मानव-सभ्यता के इस घृणित अध्याय का वीभत्स वर्णन करके लेखनी कलंकित क्यों की जाय?

अन्तर्राष्ट्रीय संकट की ओर चलिए तो यह देखिएगा कि वह इतना व्यापक, इतना भयावना, और इतना स्पष्ट है कि उसके सम्मुख सारा मानव-समाज आपाद-मस्तक काँप रहा है। सुनते हैं कि किसी युग में आदि मानव अपनी बर्बरावस्था में छोटी-छोटी टुकड़ियों में विभक्त हो, नदी-नालों के तट पर, पर्वतों की कन्दरा, उपत्यका या अधित्यका में, जंगलों के झाड़-झंखाड़ों की आड़ में डेरा डाले पड़ा रहता था। धरणी

और धन-धाम के लिये ये टुकड़ियाँ परस्पर टकराया करती थीं और बलपूर्वक एक दूसरे को कुचल कर जीवन यापन किया करती थीं। संभवतः उनका इतना ही लक्ष्य था और यही था कार्यक्रम। हिंस्र पशुओं की भांति मृगया करना उनका काम था। फिर वह आखेट पशुओं का हो या अपने ही समान दूसरी टुकड़ीके मानव का। यही लक्ष्य उनके जीवन का आधार था जिस पर उनकी सारी राजनीति, अर्थनीति या समाजनीति स्थापित हुई रही होगी। एक फिरकेको दूसरे से कितना भय रहता रहा होगा ? भेड़ियों के झुण्ड से, सिंह की दहाड़ या अजगर की लोल जिह्वा से उन्हें जितना त्रास न होता रहा होगा उससे कहीं अधिक भय और संकट अपने ही पार्श्व में बसे हुए अपने समान मानव से रहा होगा। सदा भय, संशय और आशंका यही जीवन की विभूति थी। हिंसा, निर्दलन और रक्तपात यही कार्य-योजना थी। आदि-सभ्यता का कदाचित् यही रूप था। इसी पर जातीय और अन्तर्जातीय नीति स्थापित थी। पर सुसंस्कृत मानव-समाज की आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय नीति का आधार क्या है ? पारस्परिक भय, संशय और आशंका ही है या कुछ और भी ? हिंसा, रक्तपात और प्रतिशोध के सिवा और कौन-सी उत्प्रेरणा है जो उक्त नीति की परिचालिका बनी हुई है ? बर्बरता की ओर संस्कृति का यह प्रत्यावर्तन कैसा ? गत पचास वर्षों में मेदिनी का जो मर्दन हुआ है वह क्या मनुष्य की संस्कृति का परिचायक है ? छोटे-मोटे युद्धों की गणना न कीजिए पर दो दो विश्वव्यापी महासमरों की प्रज्वलित अग्नि में भूमंडल का भस्म होना क्या उपेक्षणीय है ? तुर्रा यह है कि जो कुछ किया जाता है वह सभ्यता और मानवता, न्याय और नैतिकता, स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के नाम पर किया जाता है ; और इस प्रकार अपने कृत्य का औचित्य सिद्ध करने में संकोच भी नहीं किया जाता। जो शस्त्र उठाता है वह शान्ति, व्यवस्था और लोककल्याण के लिए उठाने का दावा करता है। गत महायुद्ध में अमेरिका को युद्ध संलग्न करते हुए तत्कालीन राष्ट्रपति विल्सन ने अमेरिकन कांग्रेस को जो सन्देश भेजा था उसमें घोषणा की

गयी थी कि "अमेरिका किसी अपने स्वार्थ के लिए नहीं प्रत्युत मानव-समाज के कल्याण के लिए समरांगण में उतर रहा है।" ब्रिटिश राज-नीतिज्ञों ने भी युद्ध में कूदने के पूर्व कुछ ऐसी ही घोषणा की थी। आधुनिक महायुद्ध में भी हम दोनों पक्षों से इसी प्रकार की घोषणाएँ सुनते जा रहे हैं। हिटलर भी कहते हैं कि हम संसार की व्यवस्था और शान्ति के लिए युद्ध की आग भड़काने को अग्रसर हुए हैं। दूसरी ओर चर्चिल के हृदय में ब्रिटेनके स्वार्थ का लेशमात्र भी ध्यान नहीं है। वे कहते हैं कि हमें ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार की इच्छा नहीं है। हमारे हृदय में रंच-मात्र भी स्वार्थ नहीं है ब्रिटेन भीषण बलिदान कर रहा है इसलिए कि जगत् आततायी आक्रमणकारियों की पशुता से सदा के लिए मुक्त हो जाय। जिधर से देखिए यही दावा है कि वह शान्ति, व्यवस्था और न्याय का पुजारी है। एक ओर हिटलर तो दूसरी ओर चर्चिल दोनों एक ही ईश्वर को अपना साक्षी और सहायक समझते हैं और घोषणा करते हैं कि उसी ने उनको जगत् की रक्षा के लिए अपना निमित्त बनाया है। पर इतिहास इस बात का साक्षी है कि इन दावेदारों के द्वारा न न्याय की रक्षा हुई, न मानवता की, न स्वतन्त्रता की, न सभ्यता की। युद्धों के द्वारा जिन उद्देश्यों की सफलता की घोषणा की गयी उनके विपरीत परिणाम सारा संसार भोगने का बाध्य हुआ है। न्याय की रक्षा के नाम पर घोर अन्याय किया गया और स्वतन्त्रता तथा सभ्यता की रक्षा के लिए उन्हीं का गला घोंट दिया गया।

अपने स्वार्थ पर जगत् के कल्याण का आवरण डालकर निर्लज्जता-पूर्वक उसकी सिद्धि करने में सारे संसार का उद्योग करना आज के सुसभ्य और सुसंस्कृत मानव की परमपटुता का द्योतक हो गया। डायसी का यह कहना सोलहो आना सत्य है कि 'मनुष्य सरलता से यह स्वीकार कर लेता है कि जो व्यवस्था और प्रबन्ध उसके लिए लाभ-जनक तथा उसके स्वार्थ की पूर्ति का साधक है वही दूसरे के लिए भी लाभ-जनक होगा।' फलतः सार्वजनिक हित के नाम पर जिन सिद्धान्तों का

स्थापन और प्रतिपादन किया जाता है उनका पट उठाकर देखिए तो स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने स्वार्थ पर सुन्दर और आकर्षक आवरण डालने में सफल मनुष्य की कूटबुद्धि और प्रवंचनात्मक शक्ति के सिवा दूसरे कुछ नहीं हैं। जो जगत् के लिए कल्याणकर है उसी में अपना भी कल्याण है यह स्वीकार करने के बदले अस्वीकार किया जाने लगा है कि जो मेरे लिए कल्याणकर है उसी में जगत् अपना कल्याण देखे। स्वार्थ-प्रवृत्ति की यह पराकाष्ठा है जिस पर आज मानव-समाज अग्रसर हो रहा है। अंगरेज समझता है कि विश्व में ब्रिटेन की प्रभुता जगत् के हित के लिए आवश्यक है। जगत् का दोहन और पृथ्वी के विस्तृत भूभागों पर अपना शासन तथा विभिन्न राष्ट्रों को अपने चरणों के नीचे दबा रखना सभ्यता, विकास तथा प्रगति के लिए आवश्यक है। अंगरेज ही नहीं, बल्कि समस्त श्वेत जातियाँ यह समझती हैं कि जगत् पर उनके राष्ट्र-विशेष की प्रभुता में ही मानव-संस्कृति का विकास संभव है। कारलाइल कहते हैं कि 'प्रकृति का यह विधान है कि काला आदमी यदि अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार श्वेत प्रभुओं के लिए कार्य नहीं करता तो उसे अधिकार ही नहीं कि वह उस भूमि से उत्पन्न पदार्थों का उपयोग कर सके जिस पर वह निवास करता है। इसके विपरीत श्वेत प्रभु को यह अधिकार है कि वह उससे बलपूर्वक काम करावे और इस प्रकार काम लेकर उसकी जीविका का उपाय करे।' यही क्यों? श्वेत जातियों को अधिकार है कि वे अश्वेतों की हत्या कर डालें, उनके कलेजे को गोलियों से छेद डालें, उनकी स्वतन्त्रता छीन लें और उनकी इज्जत तथा कमाई लूट ले जायँ। अपने इसी अधिकार में वे सभ्यता की रक्षा और मानवता का कल्याण देखते हैं। तभी तो मनुष्य के अधिकारों की घोषणा करनेवाले अमेरिका में काला आदमी आज भी जीवित जला डाला जाता है और एशिया की भूरी, पीली जातियाँ वहाँ के भेदमूलक कानूनों के द्वारा अपमानित होती हैं। इसी अधिकार के कारण ब्रिटेन के श्वेत उपनिवेशों में भारतीय दलित हैं और अपने ही देश में पराधीन

हैं। इसी अधिकार के बल पर अभी दो वर्ष पूर्व तक चीन में बसनेवाले सफेद चमड़े के लोग 'सुविधा-प्राप्त विशेष अधिकार क्षेत्रों' की रचना करने में समर्थ हुए थे।

सेसिल रोड्स लिखते हैं कि "अंगरेज जगत् की सर्वप्रथम उत्कृष्ट जाति है, फलतः पृथ्वी का जितना अधिक भूभाग उसके अधीन हो उतना ही अधिक मानव-समाज का कल्याण होगा।" एक और अंगरेज लेखक के मत से "ईश्वर ने मानवता के विकास की क्रिया संपादित करने के लिए अंगरेजों को ही नियुक्त किया है"। जब एक की यह दृष्टि है तो हिटलर का नाजीवाद धरित्री का कल्याण जर्मन राष्ट्र की अधीनता में क्यों न देखे और क्यों न इटालियन फासिटीवाद उस विलुप्त हुए रोमन साम्राज्य की पुनः स्थापना का स्वप्न देखे जो इतिहास के किसी युग में यूरप की सभ्यता का प्रवर्तक रहा है। स्पष्ट है कि बड़े-बड़े सिद्धान्तों और आदर्शों का उद्घोषण करने में सब एक दूसरे से बढ़कर हैं और वास्तव में उनकी ही आड़ में अपने स्वार्थ और अपनी लोलुपता की पूर्ति करने में एक दूसरे से बाजी मार ले जाने की चेष्टा करते हैं।

आदर्श और सिद्धान्त का उल्लेख केवल जगत् का प्रवंचन करने के लिए किया जाता है। युद्ध की आग लगाई जाती है सभ्यता और न्याय के नाम पर किन्तु लक्ष्य होता है अपने स्वार्थ का साधन। गत महायुद्ध के बाद जिस व्यवस्था की स्थापना की गयी वह अपना हित साधन करने के लिए थी पर गुहार लगाई गयी सामूहिक रक्षा और विश्वशान्ति की। मानवता के कल्याण की परिभाषा यह थी कि विजयी ब्रिटेन और फ्रांस का कल्याण जिसमें हो उसी में संसार का कल्याण है। उनकी प्रभुता बनी रहे, संसार के बाजारों की नकेल उनके हाथों में रहे, विस्तृत साम्राज्यों का आधिपत्य प्राप्त रहे, ऐश्वर्य के भोग की प्रवृत्ति पूरी होती चले और सारा मानव उनकी कल्याणसिद्धि में सर्वस्व समर्पण करता रहे। ब्रिटिश नेताओं ने जो घोषणाएँ बारबार की थीं वे आज भी कानों में गूँज रही हैं। क्या यह नहीं कहा था कि "ब्रिटेन वर्षों से युद्ध में संलग्न

है पर किसी अपने स्वार्थ के लिए नहीं। उसके हृदय में न कोई आकांक्षा है न अपना हितसाधन करने की चाह। वह मानव जाति के आध्यात्मिक कल्याण की कामना लेकर ही महान् बलिदान कर रहा है।' वर्त्तमान महायुद्ध में चर्चिल और रूजवेल्ट की घोषणाओं में भी बार-बार इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किए जा रहे हैं। अमेरिकन जनता के सामने वाशिंगटन में चर्चिल ने यह दावा किया कि ब्रिटेन को न प्रभुता की चाह है न भूमि की। उसे अपने लिए कुछ चाहिए भी नहीं वह तो मानवता की विभूति की रक्षा के लिए ही रणलिप्त है। जिसके अभाव में यह पृथ्वी नरक बन जायेगी। गत युद्ध में विल्सन ने १४ महा मन्त्रों का उच्च घोष किया था और इस बार रूजवेल्ट ने अतलांतक घोषणा घोषित की है।

पर मानव जाति की जो आध्यात्मिक कल्याण-कामना युद्ध के बाद की गई वह जगत् के सामने स्पष्ट है। विल्सन की घोषणाओं का परिणाम भी दुनिया देख चुकी। इस बार जो होने जा रहा है उसके लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अतलांतक घोषणा का गला तो उसका जन्म होते ही घोंट दिया गया। चर्चिल ब्रिटिश साम्राज्य को ज्यों का त्यों बनाये रखने के लिए बद्धपरिकर हैं। सिद्धान्तों की जो छीछालेदर तब हुई वही अब न होगी यह मानने का कोई कारण नहीं है। जगत् का प्रवंचन जैसे तब हुआ वैसे ही इस बार न होगा यह स्वीकार कर लेना अपने आपको धोखा देना है। स्पष्ट संकेत इस का मिल रहा है कि गत युद्ध के बाद यदि ब्रिटिश और फ्रेंच साम्राज्य जगत् में अनन्य प्रभुता स्थापित करने के लिए अग्रसर हुए तो इस बार भूमंडल को ब्रिटिश और अमेरिकन साम्राज्यवाद की विभीषिका का साक्षात्कार करना पड़ेगा। तमाम बड़ी-बड़ी बातों के आवरण में इसी स्वार्थपरता का नग्न नाच होने जा रहा है।

इसी मनोवृत्तिपर सारा अंतर्राष्ट्रीय संघटन और अंतर्राष्ट्रीय नीति तथा संबन्ध स्थापित है। राष्ट्रों का जो गुट जगत् का दोहन और शासन

करने में समर्थ होता है वह अपने हित और स्वार्थ की रक्षा में ही जगत् का कल्याण समझता है। इसी दृष्टि के आधार पर सारी अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, शिष्टाचार और विधान की रचना की जाती है। प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक प्रोफेसर टोयन बी कहते हैं कि "अन्तर्राष्ट्रीय विधान और व्यवस्था मानवता के सामूहिक तथा चरम कल्याण के लिये आवश्यक है। जो इसके विरुद्ध विश्व की व्यवस्था में हिंसा को स्थान देना चाहते हैं वे मानव समाज के द्रोही हैं।" प्रोफेसर के इस कथन में किसे सन्देह हो सकता है पर प्रश्न तो यह है कि वे जिस अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और विधान का नामोल्लेख करते हैं उसका अर्थ उनकी दृष्टि में क्या है? ब्रिटेन और फ्रांसकी प्रभुता बनी रहे, अंग्रेजी भाषा-भाषियों में सारा विश्व विभक्त हो जाय, ब्रिटिश साम्राज्य सुदृढ़ रहे और अंग्रेज व्यवसाइयों और महाजनों के लिये मुक्त रहे। यही है आपकी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और विधान अथवा दूसरा कुछ? जो दलित हैं, अभाव से परितप्त हैं और शोषित हैं वे अपने प्रभुओं की लोलुपता की पूर्ति के साधक चुपचाप बने रहें इसके सिवा आपके विधान और आपकी व्यवस्था का क्या अर्थ है? जो है उसे बनाए रखने के लिए विधान और व्यवस्था का नाम लिया जाता है और उसकी रक्षा करना नैतिकता घोषित कर दी जाती है। जो इसके विरुद्ध आवाज़ उठाए उसे अनैतिक, मानव-द्रोही तथा संस्कृति का शत्रु एलान कर दिया जाता है।

धरती का यह संकट और भी अधिक उग्र हो गया है क्योंकि मनुष्य की शक्ति अपरिमित मात्रा में बढ़ गई है। लोभ और भोग की कामना तथा प्रभुता की पिपासा का शिकार तो मनुष्य सदा से रहा है। उसके इतिहास के पन्नों में उसकी पशुता की कहानी भी भरी पड़ी है। जगत् में सहस्राब्दियों से युद्ध होते चले आ रहे हैं और मनुष्य मनुष्य की हत्या और निर्दलन भी करता रहा है। पर आज संकट ऐसा है जैसा मानव-समाज के इतिहास में कभी नहीं आया था। मनुष्य ने कभी भी इतनी उग्रता, विकरालता और भयानकता नहीं प्राप्त की थी। प्राप्त कर भी नहीं

सकता था क्योंकि कभी उसे इतनी शक्ति उपलब्ध नहीं हुई थी और न उसकी बुद्धि के लिए कभी इतने साधन प्रस्तुत हुए थे। कब सारा भूमण्डल बेर की भांति उसकी मुट्ठी में समा गया था और कब दिक्काल की बाधा का सर्वथा लोप हो गया था? आज आकाश और पाताल, पारावार का असीम वक्षःस्थल तथा नभचुम्बी हिमाकीर्ण गिरि-शिखरों का सारा रहस्य और अभिमान मानव के वैज्ञानिक ज्ञान ने विचूर्ण कर डाला है। मनुष्य पक्षी बन जाता है, मछली हो जाता है और निश्शंक चरणों से समस्त पृथ्वी को माप लेता है। कदाचित् मनुष्य विधिप्रपंच का सबसे शक्तिमान् और साधन—संपन्न प्राणी हो गया है। पर उसकी इस शक्ति ने उसे सबसे अधिक विकराल भी बना दिया है। शक्ति वह वस्तु है जो एक ओर वरदान है तो दूसरी ओर अभिशाप भी। यदि वह कल्याणका साधन बन सकती है तो विनाश-कारण के रूप में भी सन्मुख आ सकती है। उसका सदुपयोग यदि अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त कर सकता है तो दुरुपयोग पतन, मृत्यु और प्रलय का दृश्य भी उपस्थित कर सकता है। फ्रायड के शब्दों में कह सकते हैं कि, "मनुष्य ने प्रकृति को वशीभूत कर के अपनी शक्ति को उस बिन्दु पर पहुँचा दिया है, जब उसका उपयोग करके वह अपनी ही जाति के अन्तिम प्राणों तक को मिटा देने में समर्थ हो सकता है। मनुष्य इसे जानता है और सम्भवतः आज जो असन्तोष, नैराश्य तथा संशय और अविश्वास फैला हुआ है उसका मुख्य और मूल कारण मनुष्य का अपनी ही शक्ति के सम्बन्ध में भयभीत हो उठना ही मुख्य है"। विडम्बना यह है कि शक्ति-वृद्धि के साथ-साथ उसी अनुपात में मनुष्य का लोभ, उसकी आक्रमणशीलता और उसका स्वार्थ भी बढ़ता गया। मानव-समाज के लिए यही स्थिति आशंका का कारण हो रही है। एक ओर मनुष्य की शक्ति बढ़ी और दूसरी ओर उसके अंतःस्थ पाशव का जागरण हो चला जिसके फलस्वरूप वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने में मस्त हो गया है। आज उसकी सारी शक्ति विनाश की ओर उन्मुख और उन्मुक्त है जो धरती को मनुष्य से विहीन कि?

बिना शान्त होती दिखाई नहीं देती। गत २५ वर्षों का इतिहास इसी का इतिहास है। अपनी इसी पशुता को मनुष्य ने सभ्यता का नाम प्रदान किया है। जगत् में घृणा और क्रोध का कैसा भयानक विष उबल रहा है। गत महायुद्ध के समय लगातार चार वर्षों तक लोमहर्षक पशाचिक प्रवृत्तियाँ उच्छृखल होकर नाचती रहीं पर परिणामस्वरूप विश्व में न्याय का साम्राज्य स्थापित न हो सका। यदि हुआ होता तो हिटलरीय प्रवृत्ति का उदय न हुआ होता। युद्ध को सदा के लिए समाप्त कर देने तथा जगत् की शान्ति के लिए, मनुष्य ने मार्ग ग्रहण किया, द्वेष और अशांति का। आज देख रहे हैं कि न शान्ति स्थापित हुई और न युद्ध का लोप हुआ। न सभ्यता की रक्षा हुई न जगत् से दासता और दलन का नामनिशान मिटा। मानव मानवीय भी न हुआ प्रत्युत अमानवता उत्तरोत्तर उत्तेजित होती गई। पागलपन और पशुता यदि एक बार अनियंत्रित होकर उमड़ चलती है तो अपनी चरम सीमा तक गए बिना बीच में रुकना नहीं जानती। परस्पर के इस बीभत्स द्वेष, अविश्वास और प्रतिशोध की आग जलाकर मनुष्य भूमण्डल को भस्मीभूत करता दिखाई दे रहा है। मानव-समाज के संमुख उपस्थित हुआ यह अन्तर्राष्ट्रीय संकट उस सांकृतिक महाविनाश का कारण हो रहा है जो यदि इसी प्रकार चलता रहा तो मनुष्य जाति को ही ले डूबेगा।

मनुष्य पीड़ित है मनुष्य की पशुता से और यही है उसकी महती समस्या। यही है आधुनिक जगत् का विकराल और भयावह रूप। सारी धरती उससे त्रस्त है और सारे जगत् का विचारशील वर्ग भय तथा शंका से पीड़ित हो चुका है। एक समय था जब यूरोप के विचारक यह समझते थे कि मानवसमाज सहज ही विकास और प्रगति की ओर अभिमुख है। पर आज स्वयं यूरोप के विचारकों की इस धारणा की जड़ हिलने लगी है। आज स्पष्टतः यह देख रहे हैं कि यूरोप के विचारकों का एक वर्ग यह प्रश्न करने लगा है कि आज जगत् की सांस्कृतिक स्थिति प्रगति की द्योतिका है अथवा पतन की परिचायिका? क्या जो आदर्श,

जो पथ, जो प्रकार और जो व्यवस्था आज के मनुष्य के सम्मुख उपस्थित है वही उसके विकास और अभ्युत्थान का सच्चा साधन है ? यदि वर्तमान व्यवस्था मनुष्य के विकास की द्योतिका है तो फिर उसकी गति का कुंठन कैसा ? इस संस्कृति के गर्भ से सम्भूत यह भयावनी बर्बरता कैसी ? प्रश्न किया जाने लगा है कि जीवन, संस्कृति और इतिहास के सारे प्रवाह में आज कहाँ विकार है और कहाँ है त्रुटि जिसका परिणाम मानव-जगत् को भोगना पड़ रहा है ? विश्व के सम्मुख जो जटिल समस्याएँ उपस्थित हैं उनकी न जाने कितनी विवेचनाएँ कर डाली गयीं, संकट को सुलझाने के लिए न जाने कितने कारण ढूँढ़ निकाले गये और तरह-तरह की व्यवस्थाओं को जन्म प्रदान कर डाला गया पर स्थिति सुधरने की अपेक्षा बिगड़ती ही चली गई। धीरे-धीरे अनुभव किया जाने लगा है कि मानवता के कल्याण और उसके सांस्कृतिक विकास की धारा को सुरक्षित प्रवाहित होने देना है तो आधुनिक स्थिति में समूल और अपेक्षित परिवर्तन करना ही होगा। यह अनुभव किया जाने लगा है इसलिए कि मनुष्य अपनी सांस्कृतिक गति से सम्भूत दुर्गति में फँसता दिखाई दे रहा है।

पी० ड्रकर नामक प्रसिद्ध विद्वान् अपनी पुस्तक 'दी एन्ड आफ इकनामिक मेन' में लिखते हैं कि यूरप की जनता यह अनुभव करने लगी है कि उसके समाज का संचालन करने वाली शक्ति में बुद्धि और विवेक नहीं है। वह अंध, शैतानी और उच्छृंखल ज्ञात होती है। अपनी सभ्यता के प्रति ऐसी ही शंका प्रगट करते हुए 'मैन दी अननोन' नामक ग्रन्थ में अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक विद्वान् एलेक्सिस कैरेल लिखते हैं कि "मनुष्य पतनाभिमुख है। आधुनिक सभ्यता का जो प्रवाह है उसके अनुकूल प्रवाहित होने में मनुष्य असमर्थ दिखाई दे रहा है। जड़ भौतिक पदार्थों के सौंदर्य को देख कर मनुष्य मोहित हो गया पर यह भूल गया कि उसका शरीर और उसकी चेतना उन प्राकृतिक विधानों के अधीन है जो अदृश्य होने के कारण भौतिक नियमों की अपेक्षा कहीं

अधिक सूक्ष्म हैं। वह यह न देख सका कि विश्व की अज्ञात व्यवस्था से उसका और उसके अंतर्लोप का कोई अटूट संबन्ध भी है। मनुष्य सर्वोपरि प्राणी है अतः यदि उसका पतन होता है तो संस्कृति का सौंदर्य मिट जायगा और इस भौतिक जगत् की महिमा भी लुप्त हो जायगी। मानवता के ध्यान को आज भौतिक जगत् तथा कल-कारखानों से हटाकर मानव शरीर और उसकी आत्मा की ओर ले जाना है। हम आज अपनी सभ्यता के दौर्बल्य और उसकी त्रुटि का अनुभव करने लगे हैं। हममें ऐसे लोग उत्पन्न हो गये हैं जो यह समझ रहे हैं कि इस सभ्यता को उलट कर नयी धारणाओं के आधार पर समाज की रचना करने से ही कदाचित् मानवता की रक्षा हो सकेगी।'

एक के बाद दूसरे ऐसे अनेक उद्धरण उपस्थित किये जा सकते हैं जिनमें वर्तमान अवस्था के प्रति शंका और जगत् की सहज प्रगतिशीलता के सिद्धांत के संबंध में संदेह प्रकट किया जाने लगा है। फ्रायड के समान विचारशील व्यक्ति यह कह चुके हैं कि "मनुष्यता के भाग्य का निपटारा इस प्रश्न पर अवलम्बित है कि मनुष्य का सांस्कृतिक विकास उसके हृदय की आक्रमणशीला और स्वविनाशोन्मुखी प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है या नहीं।" आज जगत् में मनुष्य की उक्त प्रवृत्ति पर सांस्कृतिक विकास की विजय के लिये गत पचीस वर्षों में व्यापक उपाय किए गये हैं। संकट को सुलझाने के लिए आधुनिक व्यवस्था के परिवर्तन करने की चेष्टा की गयी है और नयी धारणाओं तथा आदर्शों को उपस्थित किया गया है पर क्या मनुष्य को सफलता मिली और क्या जगत् की समस्या सुलझ सकी? इन प्रश्नों का उत्तर तथा यूरप द्वारा प्रयुक्त कुछ प्रयोगों की विवेचना आगामी पृष्ठों में की जायेगी पर इतना कह देना आवश्यक है कि अबतक जो उपाय किए गये वे स्थिति को सुलझाने की अपेक्षा जटिल ही बनाते दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में अंधकाराच्छन्न जगत् के सम्मुख एक अभिनव उपाय लेकर गाँधीजी उपस्थित होते हैं। उनके विचारों में, उनके पथ में और उनकी पद्धति में कुछ

अनोखापन दिखाई देता है। उनकी धारणा और ध्वनि दूसरे लोगों की दृष्टि और उनके व्यवहार से सर्वथा भिन्न है। आज यद्यपि भारत में गाँधीजी का प्रयोग चल रहा है तथापि वे जगत् की व्यापक समस्याओं के हल के लिए नये उपाय की ओर स्पष्ट संकेत कर रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि वे लोग जिनके हृदय में मानवता की पीड़ा वेदना का संचार कर रही है, जो मानव-समाज के उत्थान और विकास के आकांक्षी हों गम्भीरता-पूर्वक विश्व की गतिविधि की समीक्षा करें। वे देखें कि आधुनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए अब तक जो प्रयोग हुए उनमें त्रुटि कहाँ है और गाँधीजी जिन तथ्यों को उपस्थित कर रहे हैं वे समस्या के मूल का स्पर्श करते हैं अथवा नहीं ?

राष्ट्रसंघ और विश्व-समस्या

गत महायुद्ध के बाद विश्व की समस्याओं को सुलझाने के लिए यूरोप में मुख्यतः तीन प्रयोग हुए। एक प्रयोग हुआ पूजीवादी देशों की ओर से जो राष्ट्रसंघ तथा अन्य विश्व-सम्मेलनों के रूप में मूर्त हुआ। दूसरा प्रयोग हुआ रूप में मार्क्सवाद का जो बोलशेवी क्रान्ति के रूप में व्यक्त हुआ। तीसरा प्रयोग हुआ इटली और जर्मनी में जो 'फासिटीवाद' और 'नाज़ीवाद' के रूप में विख्यात हुआ। इन तीनों प्रयोगों के सम्बन्ध में आगामी पृष्ठों में कुछ लिखने का प्रयास करना चाहता हूँ। मनुष्य के अन्तःकरण पर, उसके विचारों पर बहुत सी बातों का प्रभाव पड़ता रहता है। वह एक ही प्रश्न को विभिन्न दृष्टिकोण से देख सकता है और विभिन्न समाधान उपस्थित कर सकता है। परिस्थिति एक होते हुए भी सब पर एक ही प्रकार का प्रभाव नहीं डालती। एक ही परिस्थिति में पड़े हुए अनेक व्यक्तियों पर उसका प्रभाव भिन्न-भिन्न पड़ सकता है। फिर सर्वत्र परिस्थित एक ही प्रकार की होती भी नहीं। मनुष्य की अपनी आवश्यकता होती है और तदनुकूल अपना दृष्टि-कोण होगा और परिस्थिति का जैसा प्रभाव उस पर पड़ता होगा उसी के अनुसार उसके अन्तर में प्रतिक्रिया होगी, वैसे ही उसके विचार होंगे और उसी के अनुकूल वह कार्य करने के जिए अग्रसर होगा।

फलतः गत महायुद्ध के बाद विश्व में जो परिस्थिति उत्पन्न हुई उसका विभिन्न प्रभाव विभिन्न राष्ट्रों पर पड़ा। फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका आदि विजयी पूँजीवादी देशों की आवश्यकता विशेष प्रकार की थी, उनका दृष्टिकोण अपने हित के अनुकूल दूसरा था अतः परिस्थिति भी विशेष रूप में प्रतिभासित हुई। इसी प्रकार रूस के लिए परिस्थिति

दूसरी आवश्यकता प्रटक कर रही थी और जर्मनी तथा इटली के लिए दूसरी। फलतः तीनों ने अपनी-अपनी आवश्यकता, अपने-अपने हित और अपने-अपने दृष्टिकोण से परिस्थिति को देखा और उसी में जगत् का कल्याण और उसकी समस्याओं का समाधान देखा जिसमें उनकी आवश्यकता की पूर्ति हो रही थी। उनकी विचार-धारा वास्तव में प्रतिच्छाया थी उन आवश्यकताओं की जिन्हें तत्कालीन परिस्थिति प्रकाश में ला रही थी।

तत्कालीन विभिन्न देशों की आवश्यकता पर विचार कीजिए। विजयी राष्ट्रों की शक्ति की सत्ता जगत् में स्थापित हो गयी थी, उनका शत्रु और प्रतिद्वन्दी धराशायी था- विश्व के शोषण और उस पर अपनी प्रभुता बनाए रखने का मार्ग उनके लिए अकंटक हो गया था। बड़ी कठिनाई और रक्तदान के बाद विजयं प्राप्त हुई थी। विजयी देख रहे थे कि उनके सम्मुख विश्व का उपभोग करने का अवसर उपस्थित है। उसी समय इस अभिलाषा की पूर्ति हो सकती थी जब विश्व अपने वर्तमान रूप में पूँजीवादी विधि और व्यवस्था के साथ बिना किसी परिवर्तन के जैसा था वैसा बना रहता। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए जगत् में शान्ति अपेक्षित थी। कोई उक्त व्यवस्था को ललकारने वाला न हो, उसे उलटने-पलटने की चेष्टा करने का साहस कोई न करे और युद्ध तथा संघर्ष के द्वारा स्थिति के बदले जाने का कोई खतरा न रहने पावे। यह सब उसी दशा में सम्भव था जब जगत् में शान्ति बनी रहती और विजयी परस्पर की रक्षा और सहायता में तत्पर रहते। इसी में उन्हें अपनी भलाई दिखाई पड़ी पर आपकी ही नहीं वे जगत् की भलाई भी इसीमें देखने लगे। युद्ध और संघर्ष यदि न हो तथा विश्व में शान्ति बनी रहे और पृथ्वी उस रक्तपात और महाविनाश से बच जाय जिसका परिचय गत महासमर में मिल चुका था तो इससे बढ़कर दूसरी बात क्या हो सकती थी।

उनकी समझ में आया कि इसीमें दोनों का कल्याण है। एक को

जगत् की प्रभुता मिलेगी और दूसरे को मिलेगी शान्ति। फलतः राष्ट्र-संघ और विश्व-सम्मेलनों के रूप में अपनी तथा जगत् की समस्या को हल करने का प्रयोग आरंभ हुआ। रूस में भी बोलशेवी क्रान्ति जिन परिस्थितियों में हुई उस पर दृष्टिपात कीजिए तो आप देखेंगे कि वह देश यद्यपि पूँजीवादी औद्योगिकता की ओर बढ़ने लगा था पर पूँजीवादी देशों के समान वहाँ लोकतंत्र की स्थापना अब तक नहीं हुई थी। अब तक रूसमें एक प्रकार की पूँजीवादी औद्योगिकता तथा दकियानूसी सामन्तशाही की मिली-जुली व्यवस्था ही चल रही थी। यूरोप में सामंतवाद के पतन पर ही पूँजीवादी लोकतन्त्र का भवन निर्मित हो पाया था। पर जब गत महायुद्ध छिड़ा और जार उसमें सम्मिलित हुए तो उस समय रूस विकृत आधुनिकता और भ्रष्ट तथा जर्जरीभूत पुरातनता का ही शिकार था। जिस समय बोल्शेवी क्रान्ति हुई उस समय रूस की हार हो रही थी, दस लाख सैनिक आवश्यक सामग्रियों के न मिलने से विनष्ट हो चुके थे, देश दरिद्र हो गया था, किसान दाने-दाने को मुहताज थे। इतने पर भी निरंकुश राजसत्ता युद्ध लिप्त बने रहने का हठ पकड़े हुए थी। रूसी क्रान्तिकारी एक ओर अपने देश के निकम्मे, अनुत्तरदायी, भ्रष्ट और निरंकुश शासक-वर्ग से क्षुब्ध थे तो दूसरी ओर पूँजीवादी यूरोपियन राष्ट्रों के दुश्चक्रों में पड़े अपने देश को व्यर्थ के युद्ध से बरबाद होते देख रहे थे। तीसरी ओर वे अपने राष्ट्र की छाती पर होने वाले दरिद्रता, दैन्य और दासता के बीभत्स नर्त्तन से उत्तप्त थे। मार्क्स की विचार-धारा के लिए, जो निरंकुशता, वर्ग-सत्ता तथा पूँजीवादी व्यवस्था का मूलोच्छेद करने का भाव लेकर अग्रसर हुई थी वहाँ फूलने-फलने के लिए उर्वर क्षेत्र मिल गया। लेनिन के समान महाप्रतिभाशील व्यक्ति, जो जन्मतः विद्रोही और जन्मजात नेता था, यह देख रहा था कि न केवल रूस का प्रत्युत सारे जगत् का भयावना संहार इस पूँजीवादी निरंकुशता तथा वर्गमूलक प्रभुता के कारण हो रहा है। जगत् के कल्याण का मार्ग फिर सिवा इसके और क्या था कि धरती

से पूँजीवादी सत्ता मिटा दी जाय? फलतः रूस समाजवादी जनक्रान्ति का प्रयोग करने के लिए अग्रसर हुआ।

इटली और जर्मनी में 'फासिटी' और नाजी प्रवृत्तियों के उदय के प्रबल कारण वर्तमान थे। युद्धोत्तर विश्व की परिस्थिति ने ही वे कारण उपस्थित कर दिए थे। इटली अपने मित्रों द्वारा प्रवंचित था और जर्मनी था विजयोन्मत्त विजेताओं द्वारा अपमानित और विताड़ित। युद्ध के बाद जर्मनी की जो दशा की गयी उस पर थोड़ा सा प्रकाश आगामी पृष्ठों में यथास्थान डाला जायेगा। यहाँ इतना कह देना असंगत न होगा कि जर्मन तथा इटालियन राष्ट्र के हृदय में प्रतिशोध की जो ज्वाला थी वह नाजीवाद या 'फासिटीवाद' के रूप में फूट पड़ी। 'नाजीवाद' वस्तुतः कोई प्रयोग नहीं किन्तु प्रहार है, मानवता पर जिसका परिणाम जगत् भोग रहा है। ये दोनों न केवल अपनी ही आग में भस्म हो रहे हैं प्रत्युत अपने साथ जगत् को भी जलाने में समर्थ हुए हैं। इस प्रकार यूरोप में जो प्रयोग हुए वे भिन्न-भिन्न दिशा से आरंभ हुए! उनका स्वरूप परस्पर भिन्न था और उनका मार्ग भी भिन्न ही था। उनके पीछे जो उत्प्रेरक प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं वे भी परस्पर भिन्न ही थीं।

पर युद्धोत्तर पश्चिम में जहाँ उपर्युक्त प्रकार के प्रयोग हुए और उपर्युक्त प्रकार की विचार-धाराएँ प्रवाहित हुईं, वहीं ठीक उसी युग में भूमण्डल के प्राची में एक ऋषि ने ऐसी अभिनव पद्धति को जन्म दिया जो प्रतीची की सारी प्रवृत्ति और प्रक्रिया तथा प्रकार से मूलतः भिन्न, स्वरूपतः विषम तथा स्वभावतः विपरीत है। मेरा तात्पर्य सेगाँव से सम्भूत उस स्वर-लहरी से है जो अपने आकार और अपनी आत्मा में, अपने भाव और अपनी उत्प्रेरणा में, अपने पथ और अपनी गति में भिन्न है जगत् की उन समस्त ध्वनियोंसे जो धरित्री के अम्बर को सम्प्रति आलोडित कर रही हैं। लण्डन और वाशिंगटन से आनेवाली आवाज हो या रोम और बर्लिन का बीभत्स चीत्कार अथवा मास्को का प्रचंड गर्जन, उस स्वर का मेल उनमें से किसी के साथ नहीं बैठता। वह पश्चिम की सारी

पुकार से भिन्न है। धारणाओं की जिस आभा में और भावों के जिस आलोक में पश्चिम ने जीवन-चित्र को चित्रित किया है और उसके फलस्वरूप जिस दृश्य का सर्जन हुआ है उन सबसे पृथक् वह कल्पना है जो आज वर्धा से उठकर भारतीय वातावरण में व्याप्त हो रही है।

जहाँ यूरोप की सारी प्रयोगपद्धतियाँ केन्द्रीकरण की ओर बढ़ती हैं वहाँ गाँधी विकेन्द्रीकरण की ओर अग्रसर होता है। जहाँ यूरोप के सभी प्रयोग किसी न किसी रूप में वर्गप्रभुता और वर्गहित को सर्वोपरि स्थान देते हैं वहाँ गाँधी की पद्धति व्यापक और सामूहिक रूप से समस्त मानव-जाति के हित को लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित करती है। और विरोधी वर्गों के हितों में वह सम्बन्ध और सामंजस्य स्थापित करना चाहती है जो वर्गसंघर्ष का ही अंत कर दे। यूरोप की सभी प्रयोगपद्धतियाँ जहाँ हिंसा का आश्रय ग्रहण करती हैं वहाँ गाँधी अहिंसा का मार्ग पकड़ता है और साधन तथा साध्य में एकात्मता स्थापित करके यह आशा करता है कि जैसा कारण है वैसा ही परिणाम भी उपस्थित होगा। अन्त में यूरोप की समस्त विचार-सरणि और दृष्टिधारा में, चाहे वह व्यक्तिवाद हो या समाजवाद, उपयोगितावाद हो या बुद्धिवाद जहाँ भौतिकवाद का गहरा सम्मिश्रण हो गया है वहाँ गाँधी स्थूल अथवा पर्थिव दृष्टि से जीवन और जगत् पर दृष्टिविक्षेप करने का अभ्यस्त ही नहीं है। वह न तो जीवन के मूल में केवल जड़ता का दर्शन करता है न जगत् को आकस्मिक और लक्ष्यहीन घटना के रूप में देखता है और न भोजन और प्रजनन तथा अस्तित्व रक्षा की प्रवृत्तियों को ही सृष्टि की एकमात्र संचालिका शक्ति के रूप में स्वीकार करता है।

यूरोप के भौतिकवाद ने मनुष्य को एकदेशीय और एकांगी बनाकर जीवन को निषिद्धपथ प्रदान कर डाला है। भौतिक सत्ता सत्य है इसे स्वीकार न करना दुराग्रह है, पर उससे भी बड़ा दुराग्रह यह स्वीकार कर लेना है कि वही एकमात्र सत्य है। भौतिकता का अपना स्थान है जिसकी उपेक्षा करना मूढ़ता है, पर जीवन उस सीमा से परे नहीं है

यह मान लेना भी अंधमूढ़ता ही है। यूरोप की और गाँधीजी की दृष्टिमें यही सब से बड़ा मौलिक भेद है। फलतः मौलिक दृष्टि के आधार पर निर्मित की गयी प्रयोग-पद्धतियों में गहरी विषमता का होना अनिवार्य है। वे इन पृष्ठों में मेरा उद्देश्य गाँधीजी की पद्धति की तुलना यूरोप की विचार-धाराओं से करना और उनके पारस्परिक भेद पर प्रकाश डालना है। इस बात की भी विवेचना करना चाहते हैं कि यूरोपियन पद्धतियाँ क्या उस आदर्श को प्राप्त करने में सफल हुईं जिनकी ओर जगत् को ले जाने का दावा करके उनका प्रयोग आरम्भ किया गया था ?

गत २५ वर्षों से यूरोप में जो प्रयोग हुए हैं वे जगत् की समस्याओं को हल करने की दृष्टि से आरम्भ हुए। आक्रमणकारिता, हिंसा, शोषण, दासता और मनुष्य की ही पशुता से उत्पीड़ित हुई मानवता की रक्षा करना आवश्यक देखकर यूरोप ने उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के उपायों का प्रयोग आरम्भ किया। सन् १९१४ ई० में युद्धका जो भयावना ज्वाला-मुखी फूट पड़ा और जिसके कारण वर्षों तक भयानक विनाश होता रहा तथा ८० लाख नवयुवकों के खून से धरती लाल की गयी, उसने अन्ततः यूरोप को यह अनुभव करने के लिए बाध्य किया कि उसकी गति विधि में, उसकी व्यवस्था और अवस्था में कहीं न कहीं दोष है जिसका परिहार किए बिना सारी पाश्चात्य संस्कृति का महासंहार अवश्यम्भावी है। तथोक्त लोकतन्त्रात्मक किन्तु पूँजीवादी राष्ट्रों ने उपर्युक्त दिशा में जो प्रयास किया उसकी विवेचना पहले कर लेना उचित होगा।

गत महायुद्ध के बाद युद्ध-विदग्धा शोणित-पूरिता और महाश्मशान बनी पृथ्वी को शान्ति प्रदान करने का कार्यभार स्वभावतः उनके कन्धों पर था जो सौभाग्य से विजयी हुए थे। भूमण्डल विक्षत, विरूप और विकृत हो चुका था। महासंहार के प्रलयंकर नर्तन से चतुर्दिक् त्राहि-त्राहि मची हुई थी। युद्ध के बाद भी जगत् के विभिन्न कोनों में छोटी-मोटी २३ लड़ाइयाँ लड़ी जा रही थीं। शस्त्रधारी अनेक गुट मध्य यूरोप और पूर्वी यूरोप में अपने शस्त्र के बल से नयी-नयी सीमाओं की स्थापना

मनमाने ढग से करते जा रहे थे। न जाने कितने देशों में भयावनी बीमारियाँ फूट पड़ी थीं जो त्रस्त और सताये हुए असहाय प्राणियों को अपना ग्रास बना रही थीं। जर्मनो, आष्ट्रिया, हँगरी, रूस आदि देशों में दावाग्नि की भाँति अकाल फैल रहा था और लाखों नर-नारी भूख की आग में कीट-पतिंगों की भांति भस्म होते जा रहे थे। कतिपय देशों में विद्रोह भड़क उठा था। चारों ओर भयंकर अव्यवस्था, घोर दुर्दशा और रोमांचक चीत्कार मची हुई थी। इन सबके सिवा वे समस्याएँ मौजूद ही थीं जिनके कारण महायुद्ध उत्पन्न हुआ था। यूरोप के यान्त्रिक उद्योगवाद ने जिस पूंजीवाद को जन्म प्रदान किया था उसके विकास के साथ- साथ भयावनी आर्थिक और राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता का प्रजनन हो जाना स्वाभाविक था। निर्मित पदार्थों को खपाने के लिए और कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। फलतः जिनके पास साम्राज्य था वे उसकी रक्षा के लिये और जिनके पास नहीं था वे उसे प्राप्त करने के लिये सन् १९१४ में व्यापक रूप से भिड़ गये। वर्षों तक महासंहार होने के बाद जगत् की आँखें खुलीं और परिस्थिति के प्रकाश में मनुष्य ने नयी आवश्यकताओं की अनुभूति की।

युद्ध के बाद आवश्यकता थी इस बात की कि पुरानी व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन किया जाय और नयी व्यवस्था ऐसी स्थापित की जाय जिसमें मानव-जाति के महासंहार की स्थिति की पुनरावृत्ति की सम्भावना न रह जाय। ठीक ऐसे ही समय जब जगत् की उपर्युक्त स्थिति और आवश्यकता थी, अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति स्वर्गीय विलसन ने ८ जनवरी सन् १९१८ को अपने प्रसिद्ध १४ सिद्धान्तों को घोषणा की। उन्होंने उन सिद्धान्तों के आधार पर जगत् में नयी व्यवस्था स्थापित करने तथा विश्व के सन्मुख प्रस्तुत समस्त समस्याओं का समाधान ढूँढ़ निकालने का प्रस्ताव भी किया। विरामसन्धि के एक मास बाद विलसन ने यूरोप की भूमिपर पदार्पण किया। विलसन की घोषणा विद्युत्-लहरी

की भांति जगत् के एक कोने से दूसरे कोने तक लहरा उठी। विकल मानवंता ने राहत की साँसली और विल्सन को अपने सहायक तथा उद्धारक के रूप में देखा। विल्सन जगत् के अति शक्तिशाली और महान् राष्ट्र के विधाता थे। जगत् यह देख रहा था कि स्वतन्त्रता, लोकतंत्र और न्याय तथा शान्ति का सबसे बड़ा समर्थक और पोषक अमेरिका है जिसके सर्वोत्कृष्ट नायक की ओरसे उक्त प्रस्ताव उपस्थित किए गये हैं। युद्धोत्तर विश्व पर अमेरिका की धाक वैसे ही बैठ गयी थी। सारा यूरोप उस समय अमेरिका की दया पर आश्रित था। विजयी राष्ट्रों को उसकी सहायता ने विजय प्रदान की थी। धन और भोज्य सामग्री के लिए भी यूरोप उसका मुँह देख रहा था। ऐसी सर्वश्रेष्ठ शक्ति और महत्तम राष्ट्र के विधाता ने जब भावी विश्व की व्यवस्था और शान्ति की स्थापना के लिए उन्नत, उदार तथा प्रगतिशील सिद्धान्तों को आधार के रूप में उपस्थित किया तो स्वाभाविक था कि जगत् उनमें मानवता के लिए नव-युग की आभा देखता।

मित्रराष्ट्रों ने, मध्य यूरोप के देशों ने, यूरोप और एशिया तथा अफ्रिका की समस्त दबी हुई और त्रस्त जातियों ने समान रूप से उन प्रस्तावों में उज्वल भविष्य की योजना देखी। ज्ञात हो रहा था कि मनुष्य समाज सचमुच विकास की यात्रा में एक लम्बा डग बढ़ाने जा रहा है और ये प्रस्ताव भावी युग की स्वतन्त्रता और सुरक्षा के लिए जागरण-महामंत्र के रूप में प्रकट हुए हैं। ११ नवम्बर सन् १९१८ ईसवी को विराम सन्धि हुई। जर्मनी धराशायी था, कैसर भाग चुके थे और जर्मन-सेना उन तमाम भूप्रदेशों से जिन्हें उसने पददलित किया था वापस हो रही थी। विराम सन्धि के साथ-साथ महान् जर्मन साम्राज्य और इतिहासप्रसिद्ध प्रशियन सैनिक के दम्भ तथा उद्दंडता का मस्तक चूर हो चुका था। जर्मन साम्राज्य ही नहीं प्रत्युत रूसी साम्राज्य, आस्ट्रो हँगेरियन साम्राज्य तथा आटोमन साम्राज्य धरती से लुप्त होकर इतिहास के लिए अतीत की गाथा बन चुके थे। ऐसे समय पेरिस में सन्

१९१९ ईसवी की जनवरी में सन्धि सम्मेलन का सूत्रपात हुआ जहाँ जगत् के भविष्य का निर्माण होने जा रहा था। भूमंडल की विभिन्न जातियों के अनेक राष्ट्र-नायक, छोटे-बड़े देशों के राजनीतिज्ञ और नेता विशेषज्ञ तथा अर्थशास्त्री बड़ी संख्या में एकत्र हो चुके थे। स्वतन्त्रता के लिए लड़नेवाली अफ्रीका और एशिया की जातियों के प्रतिनिधि भी एकत्र थे। तात्पर्य यह कि पेरिस सम्मेलन में प्राय: समस्त पृथ्वी के प्रतिनिधि एकत्र होकर नव-निर्माण की चेष्टा में संलग्न हुए। स्वभावत: जगत् को यह आशा हुई थी कि अब वह समय आ गया है जब युद्ध के कटु-अनुभव के बाद जगत् की शान्ति और व्यवस्था के लिए एक नयी किन्तु न्याय-सम्मत तथा स्थायी योजना बनायी जा सकेगी।

आज पचीस वर्षों के बाद हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या पेरिस-सम्मेलन जगत्को शान्ति-प्रदान कर सका? क्या विल्सन की आदर्शवादिता उन समस्याओं को हल कर सकी जिनके परिणामस्वरूप गत महायुद्ध का प्रजनन हुआ था? क्या पेरिस में एकत्र हुए तत्कालीन जगत् के प्रतिनिधि उस स्थिति का परिमार्जन करने और उन दोषों के परिहार करने में सफल हुए जो अशान्ति और अव्यवस्था के कारण थे? विजयी राष्ट्र जो यह घोषणा कर रहे थे कि "युद्ध का अन्त करने के लिए यह युद्ध हो रहा है" तथा "मनुष्य की स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र और न्याय की स्थापना करना मित्र राष्ट्रों का लक्ष्य है", मनुष्य की स्वतंत्रता लोक-तन्त्र की रक्षा और न्याय की स्थापना करने में समर्थ हुए? क्या अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और शील की अभिवृद्धि हुई? मनुष्य के सौख्य और कल्याण का मार्ग क्या प्रशस्त हुआ और क्या धरातल सुन्दर तथा मानवीय हो सका? पर इन प्रश्नों का उत्तर क्या स्पष्ट नहीं है? गत २० वर्षों का जगत् का इतिहास क्या इसका एक ही उत्तर नहीं है? १९३९ ईसवी की १ सितम्बर क्या इसका उत्तर नहीं है जब जर्मन रणवाहिनी पौलैण्ड पर चढ़ दौड़ी और सारे जगत् में युद्ध की आग भड़क उठी? गत ५

वर्षों से भूमण्डल की छाती पर महाकाल का जो पैशाचिक नर्तन हो रहा है वही क्या इसका उत्तर नहीं है ?

माना कि सन्धि-सम्मेलन में विलसन का वह प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसके द्वारा राष्ट्रसङ्घ की स्थापना की गयी। कहा गया कि "अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और सुव्यवस्था के लिए ही राष्ट्रसङ्घ की स्थापना की जा रही है"। निश्चय किया गया कि जगत् में सहयोग और न्याय के लिए शान्ति और सुव्यवस्था के लिए विश्वव्यापी व्यवस्था बनायी जायगी। कहा गया कि अब भविष्यत् के लिए "शस्त्र उठा कर युद्धाग्नि प्रज्वलित न करने की प्रतिज्ञा की जायगी। विभिन्न राष्ट्रों के न्यायसम्मत अधिकार और सम्मान की रक्षा की जायगी। पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना खुले रूप से की जायगी। सदा अन्तर्राष्ट्रीय नियम तथा विधान के अनुकूल आचरण किया जायगा और सदा न्याय की नीति तथा सन्धियों और समझौता के उत्तरदायित्वका निर्वाह किया जायगा।"

लक्ष्य उत्तम था, बातें भी परिपूत् थीं पर गत बीस वर्षों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि लोकतंत्र के पूजक और स्वतंत्रता के उपासक इन महाराष्ट्रों के प्रतिनिधि न जगत् की आर्थिक समस्या को हल कर सके न राजनीतिक और न अन्तर्राष्ट्रीय। न निःशस्त्रीकरण करा सके न युद्ध के मार्ग का अवरोधन कर सके और न आक्रमणशीलता की प्रवृत्ति का विलोप। हम तो यह देखते हैं कि इन महान् कार्यों की पूर्ति तो दूर रही युद्ध में विजयी हुए राष्ट्र पराजितों से सन्धि करने में सफल न हुए। उनका प्रयोग समस्याओं को हल करने की अपेक्षा रोग-वृद्धि का कारण हुआ। पवित्र आदर्शों का उद्घोष करते हुए भी मानव-पशुता का नग्न प्रदर्शन किया गया। क्लेमेंशो और लायडजॉर्ज ने विल्सन को ऐसा मूर्ख बनाया कि वे १४ महासिद्धान्त जिन पर जगत् की शान्ति और व्यवस्था आश्रित होने वाली थी जन्म के पहले ही मर मिटे। सन्धि-सम्मेलन में फ्रांस और ब्रिटेन ने कौन-कौन सी गोटियां-

चाली की, कितनी धूर्तता और प्रवंचना का सहारा लिया, असत्य और दम्भ का कैसा परिचय दिया और किस प्रकार विल्सन की आँखों में धूल झोंक कर अपना काम साधा—आदि बातों का वर्णन करना प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि द्वेष और दम्भ तथा स्वार्थ और प्रभुता की कामना में अन्धे हुए विजयी राष्ट्रों ने जो पाप उस समय किया और लूट के माल के बँटवारे के लिए उसमें जो प्रतिस्पर्धा भड़क उठी उसने आहत पृथ्वी के व्रणों को घृणित प्रकार से कुरेद डाला।

विचार करके देखिए कि राष्ट्र-संघ का प्रयोग तथा संधि-सम्मेलन ही, क्या जगत् को आज की भयावनी स्थिति में झोंक देने का मुख्य कारण नहीं हुआ है! वारसेई का सन्धिपत्र क्या था धराशायी जर्मनी के लिए मौत का परवाना था। उस सन्धियोजना के द्वारा पराजित राष्ट्रों की क्रूर हत्या कर देने की चेष्टा की गयी। जर्मनी के मस्तक पर ४४० धाराओं का सन्धिपत्र मढ़ दिया गया और उसका गला घोंट देने की पूरी व्यवस्था कर दी गयी। इन तमाम धाराओं का एकमात्र लक्ष्य यह था कि जर्मनी को इस प्रकार जकड़ दिया जाय कि वह सदा के लिए पंगु हो जाय। उसे आर्थिक दृष्टि से असहाय और राजनीतिक दृष्टि से दास्य-स्थिति में सदा के लिए रख देने की चेष्टा की गयी। सन्धिवार्ता के लिए जर्मन प्रतिनिधि जब वारसेई पहुँचे तो उन्हें रत्ती भर भी पता न था कि इस प्रकार की सन्धि उनके गले मढ़ी जाने वाली है। उन्हें आशा थी कि सन्धि का आधार विल्सन के वे सिद्धान्त होंगे जिनका डंका पीटते हुए अमेरिकन राष्ट्रपति ने यूरोप की उत्पीड़ित भूमि पर पदार्पण किया था। विराम-सन्धि के दो सप्ताह पूर्व ही जर्मन जनता ने अपने उन शासकों के विरुद्ध विद्रोह किया था जिन्होंने उन्हें युद्ध में झोंक दिया था। कैसर पदच्युत किये जा चुके थे, जर्मनी में प्रजातन्त्र की स्थापना की जा चुकी थी और यही विद्रोह युद्ध की समाप्ति का कारण हुआ था। स्वाभाविक था कि जर्मनी यह आशा करता कि विजयी राष्ट्र उन्ही सिद्धान्तों के

आधार पर सन्धि करेंगे जिनकी घोषणा की जा रही थी। पर जो हुआ वह यह था कि जर्मन प्रतिनिधि सन्धि-सम्मेलन में इस प्रकार लाए गये जिस प्रकार बन्दी न्यायालय के सामने लाया जाता है।

तदुपरान्त सन्धिपत्र का मोटा पोथा जो पहले से ही तैयार था उनके सामने हस्ताक्षर के लिए रख दिया गया। इस सन्धि के अनुसार जर्मनी की अष्टमांश यूरोपियन प्रजा उससे छीन ली गयी। न केवल 'आल्सेल लोरेन' प्रत्युत 'सार' का कोयले का क्षेत्र फ्रांस को दे दिया गया। डैंजिग और मेमल मित्रराष्ट्रों के कमीशन के अधीन कर दिए गये। (उसके अंग काट कर पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकियामें मिला दिए गये।) कोयले और लोहे के उसमें क्षेत्र ले लिए गये, उपनिवेश छीन लिए गये, व्यापारी जहाजी बेड़ा हजम कर लिया गया और उन नदियों तक पर विजयी राष्ट्रों के कमीशन की सत्ता स्थापित कर दी गयी जिनके जल-मार्गों से वह व्यापार करता था। उसकी सेना इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर दी गयी कि वह अपनी रक्षा करने लायक भी न रहा। अस्त्र-शस्त्र के निर्माण और सैन्य-संग्रह पर भी उग्र प्रतिबन्ध लगा दिये गये। यह सारी तबाही और अपमान करने के बाद भी प्रतिशोध की आग में जलने वाले विजयी देशों को संतोष न हुआ। वे जर्मनी को पीसकर धूल में मिला देने के लिए और पराजित शत्रु के मस्तक पर पदाघात करने के लिए आतुर थे। फलतः युद्ध का सारा उत्तरदायित्व और अपराध जर्मनी के शिर थोप दिया गया। उसके ऊपर हरजाने की ऐसी प्रचण्ड रक़म लाद दी गयी जिसे अदा करते-करते उसकी कमर टूट जाती। संक्षेप में किसी राष्ट्र को सदा के लिए कुचल देने के उद्देश्य से मानव-मस्तिष्क जो व्यवस्था ढूँढ़ निकाल सकता था वही प्रस्तुत कर दी गयी।

जर्मन प्रतिनिधियों के विरोध और रोने-कलपने का कुछ भी परिणाम न निकला। अंततः जर्मनी को सन्धि स्वीकार करनी पड़ी पर एक जीवित राष्ट्र के क्षोभ और प्रतिशोध की भावना ने ही आज हिटलरवाद के रूप में जन्म ग्रहण किया। जर्मनी के साथ जैसा व्यवहार

किया गया वैसा ही आस्ट्रिया के साथ, हंगरी के साथ और सेव्र की संधि में तुर्कों के साथ किया गया। इटली को, जो जर्मनी का साथ छोड़ कर मित्रराष्ट्रों से मिल गया था, तथा जिसकी भूपिपासा और लोभ की पूर्ति का वचन दिया गया था, युद्ध के बाद अँगूठा दिखा दिया गया। मध्य पूर्व में अरबों को धोखा दिया गया और शाम, फिलस्तीन तथा इराक में मोसल के प्रदेश साम्राज्यवाद के शिकार हुए। आत्म-निर्णय के अधिकार की घोषणा करते हुए भी न भारत की स्वतंत्रता स्वीकार की गयी और न चीन के उन अधिकृत प्रदेशों को छोड़ा गया जहाँ यूरोपियन राष्ट्रों की पताका फहरा रही थी। अफ्रीका के उपनिवेश ज्यों के त्यों बने रहे और मिश्र को विजयी ब्रिटिश जाति के चरणों के नीचे पिसते रहने के लिए छोड़ दिया गया। शस्त्र के बल पर जो विजय-लाभ किया गया था उसकी रक्षा के लिए शस्त्र का सहारा लेना ही उचित समझा गया।

इतनी कथा कहने का मेरा लक्ष्य केवल यह दिखाना था कि पूँजी-वादी लोकतंत्रात्मक विजयी राष्ट्रों ने युद्ध में यद्यपि विजय पाई, यद्यपि बड़े-बड़े आदर्शों की घोषणा की तथापि युद्ध के बाद शांति-स्थापन के लिए की जाने वाली संधि न कर सके। वारसेई के अनर्थ को रोकने में न विल्सन की आदर्शवादिता समर्थ हुई और न राष्ट्रसङ्घ सफल हुआ। सफल होना तो दूर रहा संघ के रङ्गमञ्च पर साम्राज्यवादी विभीषिका विश्वशांति के पर्दे के पीछे भयावना अभिनय करने में समर्थ हुई जिसके फलस्वरूप अशांति और अन्याय का ही प्रजनन तथा अभिषेक हुआ। राष्ट्रसङ्घ राष्ट्रपति विल्सन का मानस पुत्र था जिसका जन्म वारसेई की संधि के गर्भ से हुआ था। यह संघ दुनिया के स्वतंत्र देशों का समूह था जिसके निर्माण का उद्देश्य "भविष्य में न्याय और सम्मान के आधार पर जगत् के राष्ट्रों में सहयोग और मैत्री का सम्बंध स्थापित करके युद्धों को सदा के लिए रोक देना था।" उद्देश्य बड़ा सुंदर था पर राष्ट्रसंघ निर्जीव और नपुंसक सिद्ध हुआ। संघ का संघठन करते हुए यह प्रतिज्ञा

की गयी कि उसका प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र तब तक किसी दूसरे राष्ट्र से युद्धलिप्त नहीं होगा जब तक शांतिपूर्वक समस्या को हल करने के सारे उपाय असफल न हो जायँ। किसी झगड़े के उठने पर नौ महीने के भीतर तो किसी भी हालत में शस्त्र उठाया ही न जायेगा। यदि कोई सदस्य-राष्ट्र यह प्रतिज्ञा भङ्ग करे तो अन्य सभी राष्ट्र उससे अपना आर्थिक सम्बंध विच्छेद कर लेंगे।

संघ का विधान वारसेई के संधि-पत्र का अंग था। इस विधान में यह उल्लिखित था कि अस्त्र-शस्त्र की संख्या सभी देश घटा कर उतना ही कर देंगे जितना राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यक हो। जर्मनी का निःशस्त्रीकरण इस दिशा में पहला कदम होगा और दूसरे सब राष्ट्र उसी का अनुगमन करेंगे। विधान की धारा में यह भी लिख दिया गया था कि यदि कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करे तो आक्रमण-कारी के विरुद्ध काररवाई की जायगी। बातें बड़ी अच्छी थीं। इन घोषणाओं से जगत् में उत्साह और आशा उमड़ पड़ी। मनुष्य समाज ने समझा कि जगत् में शांति और सुव्यवस्था तथा न्याय और समता का राज्य स्थापित होने जा रहा है। पर मनुष्य के हृदय का पाप बड़े-बड़े विधान और आदर्शों को नष्ट-भ्रष्ट करने में सफल हुआ। संघ का निर्माण करते हुए जो तिकड़म की गयी उससे जगत् का प्रवंचन अवश्य हुआ पर दुनिया की समस्या हल नहीं हो सकतीं थी। विधान में जहाँ बड़ी-बड़ी बातें थीं वहीं यह व्यवस्था भी थी कि उसके प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र की प्रभुसत्ता अक्षुण्ण रहेगी। जब विभिन्न राष्ट्रों ने इस अंतर्राष्ट्रीय संघटन के सम्मुख अपने किसी अधिकार का रत्ती भर भी विसर्जन नहीं किया तो संघ की सत्ता केवल एक क्लब के सिवा और क्या रह गई? उसके निर्णय को मानना किसी के लिए अनिवार्य नहीं, निर्णय मनवाने के लिए सङ्घ के पास कोई साधन नहीं। नियम यह था सङ्घ का कोई भी निर्णय तभी निर्णय माना जा सकता है जब वह सर्वसम्मत हो। यह नियम ऐसा था जो निर्णय करने के मार्ग को ही

रोक देने का कारण हुआ। स्पष्ट है कि कोई भी निर्णय सर्वमान्य हो ही नहीं सकता और एक के भी विरोध करने पर निर्णय का मार्ग रुक जाना निश्चित था। इस प्रकार विधान में ही ऐसी व्यवस्था कर दी गयी जो सङ्घ को निकम्मा बनाने का साधन हुआ।

ऐसा संघ जगत् में भला शांति की क्या व्यवस्था कर सकता था? निःशस्त्रीकरण आरम्भ से ही उसका परम वांच्छित और प्रिय लक्ष्य रहा है। युद्ध में हुए लोमहर्षक हत्याकांड के बाद यह आवश्यक समझा गया कि संहार के साधनों को सीमा-बद्ध कर दिया जाय। जगत् ने उसी समय यह अनुभव किया कि विज्ञान का दुरुपयोग और मनुष्य की शक्ति की अकल्पित अभिवृद्धि किस प्रकार संसार के लिए अभिशाप बन जा सकती है। फलतः राष्ट्रसंघ की-स्थापना करते समय निःशस्त्रीकरण के संबंध में संघ के विधान की धारा में यह कहा गया "राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि जगत् की शांति बनाए रखने के लिए सभी राष्ट्रों के अस्त्र-शस्त्रों में जहाँ तक संभव हो कमी कर देना आवश्यक है। संघ की 'काउन्सिल' प्रत्येक राष्ट्र की भौगोलिक स्थिति और राष्ट्रीय रक्षा की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अशस्त्रीकरण के लिए विभिन्न सरकारों के विचारार्थ योजना उपस्थित करेगी।"

इस दिशा में संघ का प्रयत्न जिस दयनीय और उपहास्य स्थिति का प्रदर्शन करता है उस पर स्वयम् मानवता लज्जित है। युद्धोत्तर काल में यद्यपि जर्मनी, आस्ट्रिया और हंग्री आदि पराजित राष्ट्र बलपूर्वक निःशस्त्र बनाये गए पर दूसरे सभी देशों ने अपने अस्त्र-शस्त्र घटाने की अपेक्षा उनकी वृद्धि में ही सारी शक्ति लगा दी। स्वयं वे राष्ट्र जो राष्ट्रसंघ के विधाता थे और जिन पर उसके संचालन का भार था इस कुकृत्य में अपेक्षाकृत आगे थे। विभिन्न राष्ट्रों के तत्कालीन बजट पर साधारण दृष्टि भी इन राष्ट्रों की धूर्तता और राष्ट्रसंघ की पोल खोल देती है। ग्रेट ब्रिटेन युद्ध के पूर्व अस्त्र-शस्त्र में अपनी राष्ट्रीय आय में से जहाँ केवल पौने चार सौ मीलियन (मीलियन = १० लाख) पौंड खर्च करता

था वहाँ सन् १९३० ई० में ५३५ मीलियन पौंड खर्च कर रहा था। फ्रांस सन् १९१३ से इस मद में केवल साढ़ेतीन सौ मीलियन खर्च कर रहा था पर सन् १९३० में उसका खर्च ४॥ सौ मीलियन हो गया था। अमेरिका भी इसमें किसी से पीछे न रहा। उसने २॥ सौ मीलियन से बढ़ा कर अपना व्यय प्रायः सवा सात सौ मीलियन कर दिया था।

एक ओर यह सब हो रहा था और दूसरी ओर निःशस्त्रीकरण का राग अलापा जा रहा था। इस वायुमंडल में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का आयोजन राष्ट्र संघ के उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया। कई बार ऐसे सम्मेलन हुए पर किसी में भी सफलता न मिली। स्वार्थ तथा अहङ्कार की भावना उन लोगों की बुद्धि और दृष्टि को मलिन कर दिया था जिनके हाथों में जगत् की बागडोर थी। सारी धरती पर अपनी प्रभुता बनाए रखने की कामना लेकर निःशस्त्रीकरण की बात करने वाले भला शांन्तिस्थापना में कैसे सफल होते ? सन् १९२७ में जिनेवा में जो निःशस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ वह असफल हुआ; क्योंकि ब्रिटेन ने अपने क्रूजरों की संख्या कम करना अस्वीकार कर दिया। भला ब्रिटेन के लिए अपने जल-सैनिक बल को घटाना कैसे सम्भव होता ? उसे तो संसार के जलमार्गों की नकेल अपने हाथ में रखनी थी और पृथ्वी के सुदूर भागों के उन भूखंडों को दबाए रखना था जिनके शोषण और दलन पर ब्रिटिश साम्राज्य, ब्रिटिश पूँजीपतियों का व्यवसाय, उनका ऐश्वर्य और वैभव आश्रित था। सन् १९३२ से ३४ तक जिनेवा में दूसरा सम्मेलन भी संयोजित हुआ जिसकी गति भी वही हुई जो पहले की हुई थी। यह सम्मेलन क्या था घृणित धूर्तता और कूटनीति का, अंधस्वार्थपरता और दंभ का निर्लज्ज नर्तन था।

कहा गया कि "निःशस्त्रीकरण के लिए आवश्यक है कि अस्त्र-शस्त्रों में दो प्रकार के भेद कर दिए जायँ। एक शस्त्र होते हैं आक्रमणात्मक और दूसरे होते हैं रक्षात्मक। आवश्यकता यह है कि आक्रणात्मक अस्त्र-शस्त्रों का परिहार कर दिया जाय, पर जो रक्षात्मक हैं उनका निर्माण और

संग्रह स्वीकार किया जाय। इस निर्लज्ज तर्कको उपस्थित करते हुए यह भी सोचा गया कि सभी शस्त्र रक्षात्मक या आक्रमणात्मक दोनों हो सकते हैं। जिन शस्त्रों से रक्षा की जा सकती है उन्हीं से आक्रमण भी किया जा सकता है। फलतः अस्त्रों में रक्षात्मक या आक्रमणात्मक का भेद किया ही नहीं जा सकता। पर यदि यही मान लिया जाय कि ऐसा भेद करना सम्भव है तो भी प्रश्न यह था कि कौन से शस्त्र आक्रमणात्मक हैं और कौन से रक्षात्मक ? उनका निर्णय करे कौन ? निर्णय करने वाले भी तो यही लोग थे। फलतः जिसके पास जो अस्त्र न थे उन्हें वह आक्रणात्मक घोषित करने लगा और जो थे उन्हें कहने लगा रक्षात्मक। ब्रिटेन को यह कहते संकोच न हुआ कि गोताखोर जहाज, तथा २० टन से अधिक के टैंक उग्ररूप से आक्रमणात्मक है। पर बमवर्षी विमान और विशाल तथा भयावने रणपोत सर्वथा निर्दोष और रक्षात्मक हैं। पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि उस समय ब्रिटेन न केवल गोताखोरों से विहीन था वरन २० टन से अधिक का टैंक उसके पास एक ही था।

सम्मेलन में रूस और अमेरिका के प्रस्ताव अवश्य ऐसे थे जो सचमुच निःशस्त्रीकरण के लक्ष्य को सामने रख कर उपस्थित किए गये थे। सोवियट रूस ने यह प्रस्ताव किया कि सभी देशों के अस्त्र-शस्त्रों में सामान्य रूप से ५० प्रतिशत की कमी कर दी जाय। अमेरिका ने एक तिहाई कमी का प्रस्ताव किया। रूस ने आक्रमणकारी की परिभाषा करते हुए यह प्रस्ताव भी रखा कि जो किसी देश की सीमा का उल्लंघन अपनी सशस्त्र सेना के द्वारा करे वह आक्रमणकारी घोषित कर दिया जाय। पर इन बातों को सुनने वाला कौन था ? सम्मेलन में उपस्थित प्रायः सभी राष्ट्रों ने स्वार्थपूर्ण दृष्टि ही ग्रहण कर ली थी। फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और जापान की स्वार्थपरता तो अपनी सीमा पार कर रही थी। इन सब ने मिल कर रूस का विरोध किया। जापान तो उस समय, जब निःशस्त्रीकरण सम्मेलन हो रहा था और आक्रमणकारी की व्यवस्था करने की चेष्टा की जा रही थी, मंचूरियापर चढ़ दौड़ा था। फलतः उसके

लिए इसका विरोध करना अनिवार्य था। ब्रिटेन को अपने साम्राज्य को दबाए रखना था, फलतः उसे भी विरोध करना ही था। उसने तो एक दूसरी योजना भी उपस्थित कर दी, जिसका अर्थ यह था कि संसार भर की जातियों की सैनिक शक्ति अवश्य परिमित कर दी जाय, पर ब्रिटिश शक्ति की कोई सीमा न रखी जाय क्योंकि उसे विस्तृत साम्राज्य का रक्षण करना है। फ्रांस को जर्मनी से सदा भय था फलतः उसे अपनी रक्षा के लिये ऐसा उपाय वांछित था जिसके फलस्वरूप किसी राष्ट्र के लिए आक्रमण करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाय। फलतः उसने यह प्रस्ताव कर दिया कि संघ के अधीन एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना संघटित कर दी जाय और दुनिया भर की आकाश सेना को उसी के हवाले कर दिया जाय। इस शक्ति का उपयोग आवश्यकता पड़ने पर आक्रमणकारी के विरुद्ध हो। फ्रांस के इस प्रस्ताव का अर्थ यह था कि वह न केवल जर्मन आक्रमण के भय से मुक्त हो जाय बल्कि राष्ट्रसंघ में अपने प्रभाव के फलस्वरूप सारे यूरोप की नकेल अपने हाथ में रखने में समर्थ हो।

जहाँ ऐसी दशा हो रही हो वहाँ अशस्त्रीकरण का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है? बेचारे जर्मनी को, जो पराजित था अवश्य दबा दिया गया, उसकी सैनिक शक्ति विघटित कर दी गयी। अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण और संचय पर रोक लगा दी गयी और इस प्रकार राष्ट्रसंघ के विधान के उस अंग का परिपालन किया गया जो जर्मनी को निरस्त्र करने से संबन्ध रखता था। पर दूसरे अंश की, जिसमें अन्य सभी के अस्त्र-शस्त्र घटाने की बात कही गयी थी, भरपूर मखौल उड़ाई गयी। निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में जगत् को मूर्ख बनाने के सिवा दूसरा प्रयत्न नहीं किया गया। निःशस्त्रीकरण का आयोजन शस्त्रवृद्धि का कारण हो गया। सम्मेलन के आवरण में कुचक्र रचने की चेष्टा की जाती रही। यूरोप के बड़े-बड़े औद्योगिक देशों के शस्त्रनिर्माण के कारखानों के बहु-वेतन भोगी 'एजेन्ट' परदे के पीछे से निःशस्त्रीकरण की योजना को

विनष्ट करने की चेष्टा करते रहे। पूँजीवादी दुनिया में हथियारों और विनाश के साधनों के निर्माण का व्यवसाय बड़ा भारी है जिससे गहरा मुनाफा उठाया जाता है। ये कारखाने दुनिया की सरकारों के लिए शस्त्र बनाते हैं पर होते हैं बड़े-बड़े पूँजी पतियों की निजी संपत्ति। ये पूँजीपति हथियार बेच कर अकल्पित लाभ उठाते और धन-कुबेर बन जाते हैं। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ और हिस्सेदारों में गहरे मुनाफे बाँटती हैं। बहुधा देशों के प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ और नायक इन कम्पनियों के हिस्सेदार होते हैं। युद्ध और युद्ध की तैयारियाँ इन कारखानों के लाभ का साधन होती हैं।

अपने धन के प्रभाव से इन कारखानों के मालिक अपनी सरकारों पर गहरा प्रभाव रखते हैं। बड़े-बड़े सरकारी अफसर घूस देकर मिलाए जाते हैं। अखबारों के जरिए देश की रक्षा के नाम पर शस्त्रवृद्धि का प्रचार किया जाता है। विभिन्न देशों के पारस्परिक सम्बन्ध को बिगाड़ने और उनमें शत्रुता उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है और यह इसलिए किया जाता है कि शस्त्रों की खरीद-बिक्री का व्यवसाय धूम से चलता रहे। यह सिद्ध हो चुका है कि विभिन्न देशों के शस्त्रव्यवसाइयों ने मिल कर अपना अन्तर्राष्ट्रीय संघटन बनाया था जिसका एकमात्र प्रयत्न होता है किसी प्रकार निःशस्त्रीकरण की योजना को विफल कर देने का। उनके एजेन्ट लम्बी-लम्बी तनखाहें पाते हैं और जगत् की सरकारों के ऊँचे से ऊँचे अधिकारियों तक पहुँचते हैं, उन्हें प्रभावित करते हैं, चाँदी-सोने से उनकी पूजा करते हैं, परराष्ट्र विभाग के दफ़्तर की गुप्त से गुप्त बातों का पता लगाते हैं और विभिन्न देशों के पारस्परिक सम्बंध को विषाक्त करके अपना काम साधते हैं। परिणाम यह होता है कि एक ओर जो शक्तियाँ मंचूरिया पर हुए जापानी आक्रमण की निन्दा करती हैं वही दूसरी ओर चीन और जापान दोनों के हाथ अस्त्र-शस्त्र बेचकर धन कमाने की चेष्टा करती हैं। शान्ति और निःशस्त्रीकरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ढंग से हुए प्रयत्न की उपहास्य और

दयनीय स्थिति तथा उसकी लज्जाजनक विफलता का प्रमाण इससे बढ़कर और क्या हो सकता है! सब शांति की बात करते हैं पर तैयारी करते हैं युद्ध की। निःशस्त्रीकरण का प्रयत्न हुआ पर की गई अस्त्र-शस्त्रों की अकल्पित वृद्धि।

पूँजीवादी लोकतंत्रात्मक राष्ट्रों का प्रयोग यदि न्यायसंगत संधि-स्थापन में सफल न हुआ, यदि प्रभावकर अन्तर्राष्ट्रीय संघटन की स्थापना में वे समर्थ न हुए और यदि निःशस्त्रीकरण करने और आक्रमण-शीलता को रोक कर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की स्थापना में वे समर्थ न हुए तो आर्थिक समस्या और प्रश्न को भी न सुलझा सके। पूँजीवाद जिस अर्थनीति का प्रतिनिधित्व करता है और जिसके आधार पर आश्रित है उसी से संभूत समस्याओं को पूँजीवादी राष्ट्र न तो सुलझा सके और न उससे उत्पन्न परिस्थिति को सँभाल सके। युद्धोत्तर विश्व में यह आशा की जाती थी कि उन आर्थिक प्रश्नों का समाधान किया जा सकेगा जिनका प्रजनन विज्ञान द्वारा प्रदत्त उत्पादन की यांत्रिक प्रणाली के गर्भ से हो गया था। सभी स्वीकार करते हैं कि विश्वव्यापी महा-युद्ध के मूल में मुख्य कारण आर्थिक ही रहे हैं। पूँजीवाद अप्रतिहत प्रतिस्पर्धा तथा उत्पादन की यांत्रिक प्रणाली और प्रतिबन्धहीन व्यवसाय पर फलता फूलता है। एक युग आया जब कच्चे माल को प्राप्त करने और उत्पन्न पदार्थों को खपाने के लिए बाजारों की खोज करते हुए महान औद्योगिक पूँजीवादी राष्ट्र एक दूसरे के गले पर झपट पड़े और धरती युद्ध की धधकती आग में भस्म हुई। आशा की जाती थी कि युद्ध के बाद ऐसी व्यवस्था चलेगी जिसमें उन कारणों का परिहार तो हो ही जायगा जो युद्ध के मूल में थे, साथ ही साथ वे दोष भी मिटा दिए जायेंगे जिनके कारण आर्थिक विषमता फैलकर जगत् के बहुसंख्यक वर्ग को भूख और अभाव से भस्म किया करती है। पर युद्धोत्तर विश्व में आर्थिक स्थिति क्रमशः बिगड़ती चली गई और बिगड़ती हुई उस बिन्दु को पहुँची जब सारे जगत् में गहरी मन्दी महामारी की तरह

व्याप्त हो उठी। इस विश्वव्यापी मन्दी ने गजत् का गला ऐसा धर दबोचा कि उसकी सारी सक्रियता नष्ट हो चली।

जगत् का व्यवसाय रुका, वे उर्वर खेत जो भोज्य पदार्थों का उत्पादन कर रहे थे ऊसर छोड़ दिए गये, कहीं-कहीं खड़ी फसलें सूखने के लिए छोड़ दी गयीं। खाने और उपभोग के अन्य आवश्यक सामान जो गोदामों में भरे पड़े थे न ; कर दिए गये, सारी दुनिया में व्यापार रुका और पदार्थों की कीमत तेजी से गिरने लगी। सन् १९३३ ई० में सारे जगत् का व्यवसाय सन् १९२९ ही अपेक्षा ३५० प्रतिशत कम हो गया था। राष्ट्र संघ ने इस व्यवसाय की कमी की जाँच करके जो संख्या प्रकाशित की थी उसमें बताया गया है कि १९२९ ई० के प्रथम तीन महीनों में जगत् भर के आयात-निर्यात व्यवसाय का मूल्य जहाँ १५ हजार मीलियन डालर से अधिक था वहाँ सन् १९३३ ई० में यह संख्या घट कर ५ हजार मीलियन डालर के करीब हो गयी। यह संख्या इस बात को स्पष्ट कर देती है कि जगत् की आर्थिक स्थिति किस सीमा तक पहुँच गई थी।

व्यापार की मन्दी का परिणाम यह हुआ कि जगत् का व्यवसाय ठप होने लगा। चारों ओर कल-कारखाने रुकने लगे। बेकारों की संख्या भयजनक रुप से बढ़ चली। केवल यूरोप और अमेरिका में तीन करोड़ से अधिक मजदूर बेकार हो गए। फिर दूसरे भूखण्डों के बेकारों से कोई मतलब नहीं। भोज्य पदार्थों का मूल्य इतना गिरा कि जगत् के किसानों की हड्डी-पसली चूर हो उठी। यूरोप में लाखों की संख्या में बेकार नर-नारी रोटी की खोज में इधर-उधर भटकते दिखाई देने लगे। अमेरिका के समान धनी श्रीसपन्न और साधनयुक्त देश मन्दी की मार से अपेक्षाकृत सबसे अधिक पीड़ित हुआ। हजारों की संख्या में अमेरिकन बैंकों का दिवाला पिट गया और भूख तथा अभाव चतुर्दिक् व्याप्त दिखाई देने लगा। स्मरण रखने की बात है कि बेकारी, भूख, व्यापार और व्यवसाय की मन्दी फैली हुई थी पर इसका अर्थ

हम उनके द्वारा किए गये उपायों पर दृष्टिपात करते हैं तो यह पाते हैं कि समस्या सुलझने के बजाय और अधिक उलझती ही गई। तत्कालीन यूरोप का आर्थिक इतिहास उस अर्थनीति का इतिहास है जिसे ग्रहण करके यूरोपियन राष्ट्रों ने अपनी सारी आर्थिक व्यवस्था और व्यापारिक गति को विचूर्ण तथा जड़ बना दिया। यह सङ्कट और मंदी जगत्-व्यापिनी थी। फलतः उसका उपाय भी अंतर्राष्ट्रीय आधार पर ही हो सकता था। पर न तो दूरदर्शिता के साथ अंतर्राष्ट्रीय उपाय ढूँढ़े गए और न जो प्रयत्न उस दिशा में हुए वे सफल हुए। जो उपाय किया गया वह यही था कि सभी राष्ट्रों ने अपने अपने हित को सामने रख कर अर्थनीति सञ्चालित की।

जिसे देखिए वह विदेशों से होने वाले आयात को रोकने और अपने देश के माल को अपने देश में तथा बाहर खपाने का चेष्टा करने लगा। औद्योगिक देशों ने युद्ध के कारण उध्वस्त हुए अपने कल-कारखानों को जब सजीव करना आरंभ किया और यह देखा कि माल की खपत के लिए दुनिया की बाजारें तो उपलब्ध हैं ही नहीं बल्कि दूसरे प्रतिस्पर्धी राष्ट्रों से अपने देश में ही अपने व्यवसाय का खतरा उत्पन्न हो रहा है तब उन्होंने तट-कर की ऊँची दीवारें खड़ी करके विदेशी माल का आयात रोकने और अपने व्यवसाय को संरक्षण प्रदान करने की चेष्टा की। उन्हें यही एकमात्र मार्ग सुझाई पड़ा। उन्होंने देखा कि इसी के द्वारा वे अपने देश के निर्मित पदार्थों की खपत अपने देश में सुरक्षित रख सकते हैं और अपने व्यवसाय की रक्षा करके बेकारी दूर कर सकते हैं। स्वयम् इंगलैंड ने भी मुक्त-व्यापार की अपनी पुरानी परम्परा को छोड़ कर विदेशी माल पर लंबी चौड़ी जकातें बैठा दी। निस्संदेह यह उपाय क्षणिक लाभ पहुँचा सकता था पर समस्या को अंततः अधिक उलझाने का कारण होता। तत्कालीन स्थिति की विवेचना कीजिए तो आप देखेंगे कि परिणाम यही हुआ। इस नीति से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की गति रुकने लगी। जगत् की संपत्ति का आदान-प्रदान होने

से धन में जो सञ्चलन होता था वह जड़ होने लगा। माल की खपत के के लिए एक ओर बाजारें बन्द होने लगीं तो दूसरी ओर यान्त्रिक पद्धति से उत्पादन अधिकाधिक होने लगा। इस स्थिति में पदार्थों का मूल्य और अधिक गिरना अनिवार्य था।

पदार्थों का मूल्य बढ़ाने के लिए दूसरे अप्राकृतिक उपाय की शरण ली गयी। विविध राष्ट्रों ने अपनी-अपनी मुद्रा का पतन करना आरंभ कर दिया। मुद्रा के पतन का अर्थ होता है उसकी संख्या को बढ़ा देना। अर्थशास्त्र का मोटा सा सिद्धांत है कि मुद्रा की संख्या बढ़ जानें से मुद्रा सस्ती हो जाती है। अर्थात् मुद्रा की सस्ती के फलस्वरूप पदार्थों का मूल्य बढ़ जाता है। विभिन्न देशों में जब इस उपाय का अवलंबन किया किया गया तो सारे जगत् में मुद्रा के पतन की ही होड़ लग गई। जब एक देश में मुद्रा का पतन किया जाता है तो दूसरे देश भी वही करने को बाध्य होते हैं क्योंकि एक देश की मुद्रा यदि दूसरे देश की मुद्रा की तुलना में गिरी हुई हो तो गिरी हुई मुद्रावाले देश का माल उस देश में जाने लगेगा जहाँ की मुद्रा का मूल्य ऊँचा होगा। मुद्रा गिरा कर राष्ट्र इसी प्रकार दूसरे देशों में लगाए गए तट-कर को व्यर्थ करके अपना माल खपाने की चेष्टा करते हैं। इस स्थिति में स्वाभाविक था कि सभी एक दूसरे के मुकाबिले में अपनी-अपनी मुद्रा का पतन करते चलते। पर इस अवस्था ने और भी उलझन पैदा कर दी। एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की तुला बुरी तरह डगमगा गयी और दूसरी ओर अपने अपने देशों में ही सरकारों की शाख समूल हिल उठी। कागजी सिक्कों को चला कर ही उनकी संख्या बढ़ाई जाती थी और संख्या इतनी अधिक हो जाती थी कि सरकारी स्वर्ण भंडार उसके आधार नहीं बने रह सकते थे। फलतः कानून बना कर स्वर्णमान का भी परित्याग किया जाने लगा।

पाठक इस आर्थिक दुर्व्यवस्था, अराजकता और भ्रष्टता की कल्पना भली भांति कर सकते हैं। जब सरकारों की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय

साख चौपट हो गई हो, जब विनिमय की दर में विश्वास उठ गया हो, जब मुद्राओं का कोई मूल्य न रह गया हो, तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति का सम्पूर्ण अवरोध न हो जाय तो आश्चर्य ही क्या है ? इसके फलस्वरूप व्यापक महामन्दी का और उग्र हो उठना क्या स्वाभाविक नहीं था ? इस मन्दी के फलस्वरूप कल-कारखानों का रुकना अनिवार्य होने लगा। परिणामतः बेकारी बढ़ने लगी। बेकारी के कारण जनवर्ग की क्रय शक्ति का ह्रास होते जाना अवश्यम्भावी था। जब जनता निर्मित पदार्थों की खपत करने में असमर्थ हो तो यंत्र में अपरिमित मात्रा में उत्पन्न माल का मूल्य अधिकाधिक गिरता ही जायगा। जैसे-जैसे यह मूल्य गिरेगा वैसे-वैसे बेकारी फैलेगी और वैसे-वैसे माल की खपत रुकती जायगी। पूँजीवादी लोकतंत्रात्मक विजयी राष्ट्रों की नीति ने ऐसा ही दुश्चक्र प्रवर्तित कर दिया जिसमें फँस कर सारा जगत् स्वयं पूँजीवादी समाज के सहित पिस उठा।

एक ओर माल से भरे हुए भंडार और दूसरी ओर दावाग्नि की धधकती भूख दिखाई दे तो कोई आश्चर्य न था। जिन लोगों ने और जिनकी व्यवस्था तथा प्रयोग ने इस अनर्थ का सर्जन किया था वे यह न देख सके कि रोग का मौलिक उपचार क्या हो सकता है ? उन्होंने पदार्थों का मूल्य बढ़ाने के लिए दूसरे पैशाचिक उपाय किए। भोज्य और भोग्य पदार्थों का उत्पादन रोका जाने लगा और उत्पन्न पदार्थों का विनाश किया जाने लगा। इङ्गलैंड में सन् १९३० में लगभग १३ करोड़ रुपये पूँजी से एक नैशनल शिप बिल्डर्स सिक्योरिटी लिमिटेड नामक कम्पनी की स्थापना की गई। इस कम्पनी का उद्देश्य यह था कि जहाज बनाने के कारखानों को खरीद कर उन्हें नष्ट किया जाय, और उनकी भूमि को जहाँ कारखाना बना है दूसरों के हाथ इस शर्त पर बेच दिया जाय कि वहाँ जहाज बनाने का कारखाना न खोला जायेगा। कपड़े की उत्पत्ति घटाने के लिए सन् १९३३ में 'लङ्का-शायर काटन कार्पोरेशन' की स्थापना हुई और कुछ समय बाद टेकुआ कानून बना कर एक करोड़ ४० लाख

टेकुए नष्ट किए गए और उस लोहे को रद्दी के भाव बेच दिया गया। कहा जाता है कि उपर्युक्त 'कारपोरेशन' ने १४४ मिलों को खरीदा था जिनमें से ८० सन् १९३६ तक नष्ट की जा चुकी थीं।

भोज्य पदार्थों की उत्पत्ति भी रोकी गयी। रूई, रबर, चाय, गेहूँ आदि के बोने पर अमेरिका आदि देशों में गहरी रुकावटें लगाई गयीं। केवल अमेरिका में १ अरब ८४ करोड़ ८० लाख पौंड काफी नष्ट की गयी। कहते हैं कि सारी दुनिया के प्रत्येक व्यक्ति को एक पौंड काफी बाँट देना केवल उस परिमाण में सम्भव था जितना नष्ट कर दिया गया। गेहूँ, रूई, शकर आदि भी इसी प्रकार नष्ट की गई। गोदमों में पटे माल सड़ा डाले गए। यह सब किया गया इसलिए कि पदार्थों का मूल्य बढ़ाया जा सके। स्मरण रखिए कि बन्धन और विनाश की यह सारी प्रक्रिया एक ओर जारी थी और दूसरी ओर जगत्का व्यापक जन-समाज दो रोटी और गज भर कपड़े के लिए तरस रहा था। औरों की बात जाने दीजिए। अमेरिका धरती का सबसे सम्पन्न और धनी देश समझा जाता है। कहते हैं कि सन् १९२७ ई० में अमेरिकन राष्ट्र का कुल राष्ट्रीय धन चार खरब डालर था। उस समय अमेरिका की जन-संख्या पौने बारह करोड़ के लगभग थी और इस हिसाब से औसतन प्रायः ३॥ हजार डालर प्रतिव्यक्ति उक्त धन का अनुपात पड़ा। युद्ध के बाद सारा यूरोप अमेरिका का ऋणी था। उसे सारे जगत् से कुछ न कुछ पाना था। सारी दुनिया का दो तिहाई सोना अमेरिकन राष्ट्र की जेब में रखा हुआ था। पर यह सारी सम्पत्ति उसके किस काम आई। मन्दी की मार से तीन करोड़ नर-नारी अमेरिका में बेकार हो गये थे जो दाने-दाने को तरस रहे थे। अमेरिका के कृषक भूख और अभाव की आग में इस प्रकार जले कि स्वयम् वहाँ के किसान विक्षुब्ध हो कर विद्रोह तक करने को तैयार हो गये।

पैसे के अभाव में अमेरिकन किसानों के खेत बैंको के हाथ रेहन और बय होने लगे और उनका जीवनोपाय छिनने लगा। धनी अमेरिका

में पैसे का ऐसा अभाव था कि पदार्थों के विनिमय की सारी प्रक्रिया रुक गयी। सैकड़ों संस्थाएँ ऐसी पैदा हो गई जो पदार्थों का विनिमय पदार्थ से करने के पुराने ढंग को अपनाने लगीं। मुद्रा के द्वारा विनिमय का आधुनिक ढंग ही चूर हो गया। एक दूध वाला एक विश्वविद्यालय को दूध देता था और विश्वविद्यालय एवज में उसके बच्चे को शिक्षा प्रदान करता था। ऐसी पद्धतियाँ अन्य देशों में भी चल पड़ीं। तात्पर्य यह कि लक्ष्मी की गोद में विलास करने वाले औद्योगिक देशों की सारी सम्पदा पड़ी सड़ती रही और लोग भूखों मरते रहे। पूँजीवादी देशों की इस ज्वलंत असफलता पर अधिक टीका करना व्यर्थ है। राष्ट्र संघ के तत्वावधान में सन् १९३३ ई० में विश्व-आर्थिक-सम्मेलन किया गया। पर इसमें भी विभिन्न राष्ट्रों की स्वार्थपरता और प्रतिस्पर्धा का ही नग्न प्रदर्शन हुआ। महीनों तक माथापच्ची करने के बाद सम्मेलन विघटित हो गया। न वह जगत् की मौद्रिक अव्यवस्था को दूर कर सका न व्यवसायिक गतिरोध मिटा सका और न मन्दी का परिहार कर सका। संक्षेप में उसके किए न कोई निर्णय हो सका और न वह कोई समुचित उपाय ढूँढ़ सका।

लंदन की यह कांफ्रेन्स पूँजीवादी दुनिया की असफलता का एक और प्रमाण उपस्थित करके लुप्त हो गयी और दुनिया असहाय, निराश, हतबुद्धि पड़ी हुई एक दूसरे का मुँह देखती रही। स्वयम् पूँजीवादी देशों ने अपनी असफलता का अनुभव किया सन् १९३२ ई० में ब्रिटिश सरकार ने अमेरिकन सरकार को एक नोट लिखा था जिसमें कहा गया था "सर्वत्र अंधाधुन्ध कर-वृद्धि की गई है, खर्च घटाया गया है पर स्थिति को सुलझाने के लिये जो भी उपाय किए गए वे उसे अधिकाधिक जटिल और उग्र बनाने में ही समर्थ हुए"। यह है युद्धोपरांत जगत् की असफलता की संक्षिप्त कहानी। पूंजीवादी देशों की प्रतिस्पर्धा बढ़ गई, उनका आर्थिक संघटन चूर हो गया, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विषाक्त हो गया, निःशस्त्रीकरण के स्थान पर शस्त्रीकरण आरंभ हो गया और

शान्ति के स्थान पर अशान्ति के काले बादल क्षितिज में एकत्र होते दिखाई देने लगे। कौन कह सकता है कि वाशिङ्गटन, लंदन और पेरिस के तथोक्त लोकतन्त्रवादी गुट ने राष्ट्रसंघ के रूप में जिस प्रयोग का सूत्रपात किया था वह बुरी तरह असफल नहीं हुआ। गत दो दशकों की घटनाओं से तो यह भी सिद्ध होता है कि रोग के उपचार की पद्धति से उपसर्गों का शमन होना तो दूर रहा उन्हें उत्तेजन ही मिलता गया। आज रोग असाध्य हुआ दिखाई दे रहा है। दुनिया ने देखा कि राष्ट्रसंघ साम्राज्यवादी यूरोपियन राष्ट्रों की स्वार्थान्धता और प्रभुता की लिप्सा की पूर्ति का निमित्तमात्र है। न्याय, लोकतंत्र, स्वतन्त्रता और विश्वशांति की बातें थोथी हैं। उसने यह भी देखा कि वह न तो आर्थिक संकट टालने में समर्थ हुआ, न निःशस्त्रीकरण के द्वारा जगत् की शान्ति को सुरक्षित रखने में और न न्याय तथा समानता के आधार पर अन्त-र्राष्ट्रीय सहयोग तथा सम्बन्ध की अभिवृद्धि करने में। किए गए अन्याय को मिटाने की बात तो दूर रही उसे स्थायी बनाए रखने में ही उसकी सारी शक्ति लगी हुई है।

यूरोप की छोटी कौमों ने और एशिया तथा अफ्रीका की दबी हुई जातियों ने यह भी देखा कि राष्ट्रसंघ उनकी रक्षा करने में तथा उनके साथ न्याय कराने में भी असमर्थ है। वह न तो भारत ऐसे पराधीन देशों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिला सका, न जापान और इटली ऐसे देशों की आक्रमण शीलता रोक सका और न विश्वसंघ की कल्पना को जीवन प्रदान कर सका। जगत् ने यह भी देखा कि हाथों में खड्ग लेकर जो अन्याय मिटाना चाहे उनके सामने बड़े-बड़े दंभी शिर झुकाते लज्जा का अनुभव नहीं करते। जो गुंडई का उत्तर डंडे से दे वही पूज्य और आदरणीय है पर जो सौजन्य, शील और व्यवस्था का आश्रय ग्रहण करे वह न तो सुरक्षित है और न कोई उसकी सुनने वाला है। पूँजी-वादी देशों की असफलता ने सारे जगत् में कुछ ऐसी ही मनःस्थिति उत्पन्न कर दी थी। यह मनःस्थिति उस लोकतंत्र को भी खा जाने का

कारण हुई जिस पर यूरोप के राष्ट्रों को गर्व रहा है। लोकतंत्र न्याय, सहयोग और दूसरे के हित में अपने अधिकार को संकुचित करने के वातावरण में ही फलता-फूलता है। उनके अभिषेचन के लिए शस्त्र नहीं किन्तु सहिष्णुता की रस-धारा अभीष्ट होती है।

स्वयम् तथोक्त लोकतन्त्रात्मक देशों ने जो आदर्श उपस्थित किया वह सर्वथा उपर्युक्त कल्पना के विरुद्ध था। अभी कुनीति ने जगत् को न्याय, सहयोग और सहिष्णुता में विश्वास खो देने के लिए बाध्य किया। सब ने अनुभव कर लिया कि अपने हित, अपने स्वार्थ और अपनी रक्षा के लिए अपने बल का भरोसा करना होगा। सबने देखा की शस्त्र का बल ही एकमात्र साधन है और अपने ही स्वार्थ की चिन्ता करना एक-मात्र लक्ष्य। अंतर्राष्ट्रीयता के स्थान पर उग्र राष्ट्रवादिता ने और सह-योग तथा पारस्परिक विश्वास के स्थान पर शस्त्र ने अपनी सत्ता प्रति-ष्ठित की। प्रतिशोध का प्रतिशोध से, अन्याय का अन्याय से, स्वार्थ का स्वार्थ से और हिंसा का हिंसा से उत्तर देने में ही सफलता दिखाई देने लगी। यह मनोधारा लोकतंत्र का विनाश करके जगत् को एक बार पुनः मध्ययुगीन निरंकुश राजसत्ता की ओर ले बही। जिन्हें देखने को आँखें और समझने को बुद्धि है वे स्वीकार करेंगे कि रोम और बर्लिन में जिस फासिस्ट और नाजी व्यवस्था का उदय हुआ उसके लिए सबसे अधिक उत्तरदायी वे हैं जो राष्ट्रसंघ के प्रवर्तक और विश्वशांति के ठेके-दार बन कर उपस्थित हुए थे।

रोम और बर्लिन में ही नहीं वरन् समस्त युद्धोत्तर यूरोप में हम अधिनायकवाद का जन्म होते देखते हैं। यह परिणाम हुआ उस पद्धति और मनोवृत्ति का, नीति और कार्य का जिसका प्रदर्शन महती पूँजीवादी शक्तियों ने किया था। उन्होंने स्वयम् ऐसी समस्याओं की सृष्टि कर दी, जिससे पार पाने के लिये शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण की ओर बढ़ना अनिवार्य हो गया। ऊपर जिस आर्थिक और अन्तर्राष्ट्रीय अरा-जकता का चित्र खींचा गया है उसमें भला लोकतंत्र के लिये इष्ट वाता-

वरण कहाँ मिल सकता था ? जब बेकारों की भीड़ खड़ी हुई जीविक के लिये हल्ला मचा रही हो, जब राष्ट्रों का दीवाला निकल रहा हो जब भूख की आग लगी हुई हो, जब व्यापार और व्यवसाय के फलस्वरूप अस्त्र-शस्त्रों के संग्रह का पागलपन सवार हो गया हो और जब पूँजीपति-सम्पन्न वर्गों के शिर पर स्वर्थ का भूत चढ़ बैठा हो और उनके पैर के नीचे की धरती खिसकती जा रही हो उस समय सारी शक्ति और सारे अधिकार को कुछ हाथों में केन्द्रित करके अपनी रक्षा करने की चेष्टा की ओर बढ़ाव होना स्वाभाविक ही था। फलतः सारे यूरोप में अधिनायकवादिनी सत्ताएँ एक के बाद दूसरी पनप उठीं। लोकतंत्र धराशायी था और उसके मस्तक पर इटली और स्पेन में, युगोस्लाविया और ग्रीस में, आस्ट्रिया और हंग्री में, बलगेरिया और रोमानिया में, पोलैन्ड और रूस में अधिनायक सत्ताएँ स्थापित हो गयीं।

और तो और लोकतंत्रवादी देश जहाँ 'पार्लिमेन्ट्री' पद्धति प्रचलित थी धीरे-धीरे शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण की ओर बढ़ चले। उनमें फासिटी प्रवृत्तियां स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति के हाथों में सदा से बड़े अधिकार केन्द्रित रहे हैं। पर गत कुछ वर्षों में उसके अधिकार की भारी वृद्धि की गई है। फ्राँस और इंगलैंड, जो लोकतंत्रवाद के गढ़ माने जाते हैं, पार्लीमेन्टें अपनी पुरानी शक्ति धीरे-धीरे खोती गयी हैं और अधिकारका केन्द्रीकरण मन्त्रिमंडलों के रूप में प्रतिष्ठित गुट के हाथ में होता गया है। पार्लीमेंटों का काम धीरे-धीरे परामर्श देनेमात्र का रह गया है। इङ्गलैंड में पुराने जमाने में साधारण सभा का जो अधिकार था वह यद्यपि विधानतः आज भी मौजूद है, पर व्यवहारतः तमाम बड़े-बड़े मसलों का निर्णय मंत्रिमंडल ही कर देता है और साधारण सभा का काम मुख्यतः स्वीकृति देनामात्र रह जाता है। आज इंगलैंड में ऐसी परम्परा उदीयमान हो चुकी है जिसमें पार्लमेंट किसी कानून के साधारण

सिद्धान्त पर अपना मत तो व्यक्त कर देते है पर उसकी रूप-रेखा चित्रित करके उसे साकार बनाने का काम मन्त्रिमंडल पर ही छोड़ दिया जाता है।

यह सच है कि 'पार्लमेंट' को यह अधिकार विधानतः प्राप्त है कि वह किसी सरकार को पदत्याग करने के लिये बाध्य करे, पर इस उग्र शस्त्र का प्रयोग न करने की अथवा यथासंभव न करने की भावना दिन-दिन प्रबल होती जा रही है। आज की बदलती हुई दुनिया में जहाँ प्रतिक्षण नई समस्याएँ उपस्थित हुआ करती हैं और तत्क्षण निर्णय की अपेक्षा करती हैं, पार्लमेन्टें सरकारों के हाथों में अधिकाधिक अधिकार का विसर्जन करती जा रही हैं। प्रसिद्ध ब्रिटिश विद्वान् 'लारक' इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि हमारी सरकार वास्तव में मन्त्रिमंडल की अधिनायकवादिनी सरकार हो गई है। यह अवस्था उस इंगलैंड की है जहाँ लोकतंत्र का जन्म शताब्दियों पूर्व हो चुका था। आज वहाँ भी लोकतंत्र क्षयग्रस्त हो गया है। वास्तव में लोकतंत्र का अस्तित्व पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था में सम्भव ही नहीं है, क्यों कि उन दोनों में नैसर्गिक विरोध है। पूँजीवाद और लोकतंत्र का संघर्ष सजात और अबाध है। लोकतंत्र का अर्थ यदि कुछ हो सकता है तो वह यही है कि शक्ति और अधिकार का विकेन्द्रीकरण इस प्रकार किया जाय कि जन-जीवन आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से समता प्राप्त कर सके। पूँजीवाद आर्थिक केन्द्रवाद पर स्थित है जो स्वभावतः शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण की ओर अग्रसर होगा। बिना इसके वह उस वैषम्य की रक्षा कर ही नहीं सकता जो पूँजीवाद का प्रकृत रूप है। फलतः लोकतंत्र और पूँजीवाद का संघर्ष भीतर-भीतर चलता रहा है जो महायुद्ध के बाद उग्र होकर स्वयम् लोकतन्त्र को निगल गया। यह हुआ परिणाम लोकतन्त्रात्मक देशों के प्रयोग और उनकी पद्धति का। उसकी असफलता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता कि वे न पूँजीवाद की रक्षा कर

सके न लोकतन्त्र की। उन दोनों को नष्ट करते हुए जगत् को भी विनाश के गर्त में ला पटका।

गत बीस वर्षों में जगत् की समस्याओं को हल करने में जिस प्रकार पूँजीवादी लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रों का प्रयोग असफल हुआ उसकी संक्षिप्त रूपरेखा उपस्थित की जा चुकी। यह असफलता आश्चर्य की वस्तु नहीं है, क्योंकि जो हुआ वह होना अनिवार्य था। राष्ट्रसंघ की कल्पना में अंतर्राष्ट्रीयता, विश्वशान्ति और न्याय तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के आदर्श में कोई त्रुटि नहीं थी। पर त्रुटि थी रोग का मौलिक निदान करने में तथा उस रोग के फलस्वरूप प्रकट हुए उपसर्गों का शमन करने की उपचार-पद्धति में। आदर्श के अनुकूल यदि पथ ग्रहण न किया जायगा तो असिद्धि नितान्ततः अनिवार्य है। 'पूँजीवादी' उपर्युक्त लोक-तन्त्रात्मक देशों में आदर्श का उचित निर्धारण करते हुए भी पथ वह पकड़ा गया जो उसके विपरीत था। रोग का उपचार ऐसा किया गया जो उसे उत्तेजित करने का कारण हुआ। आवश्यकता इस बात की थी कि मानव समाज को संकट के गर्त में से निकालने के लिए वर्तमान व्यवस्था को सर्वथा मिटा दिया जाता। जगत् की स्थिति वास्तव में उस पूँजीवादी व्यवस्था के विकार से उत्पन्न हुई थी जो अपना जीवन और अपनी उपयोगिता समाप्त कर चुकी थी। उसके सड़े हुए शरीर से वह विष प्रवाहित हो रहा था जो सारे सामाजिक जीवन को विषाक्त कर रहा था। यदि जगत् की रक्षा करनी है तो यह अपेक्षित था कि पूँजीवाद की अन्त्येष्टि कर दी जाय। पर लोकतंत्रात्मक देशों ने यही नहीं किया। पूँजीवाद से उत्पन्न समस्याओं ने युद्ध का प्रजनन किया था पर युद्ध उसे हल नहीं कर सकता था। उसी से उत्पन्न समस्याओं ने आर्थिक, राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय दुरवस्था उत्पन्न की थी पर उनका समाधान पूँजीवादी पद्धति को ज्यों का त्यों बनाए रखकर कदापि नहीं किया जा सकता था।

यूरोप के विचारशील लोग सर आकलैन के शब्दों में "यह अनुभव

कर रहे थे कि समाज का विघटन आरंभ हो गया है और यूरोप में एक युग समाप्त हो रहा है।" पर यह अनुभव करते हुए भी अनुभव करने-वालों ने नवनिर्माण के लिए नव-पद्धति और अनुकूल नव-उपायों का अवलम्बन नहीं किया। कदाचित् उनका स्वार्थ उनकी दृष्टि को मलिन किए हुए था। फलतः वे गहराई में प्रवेश करके वस्तुस्थिति को देख न सके। महामन्दी आई पर क्यों आई और उसके परिहार का उपाय क्या था? किसी ने कहा कि मन्दी के मूल में युद्ध का ऋण है जो जगत् की रीढ़ तोड़े दे रहा है, किसी ने कहा कि सोने की कमी दुनिया में हो गयी है जिसके फलस्वरूप मुद्रा का आधार डगमगा गया है। दूसरों ने यह मत प्रगट किया कि सारे अनर्थ की जड़ वह आर्थिक राष्ट्रीयता है जिसे अपनाकर जगत् के विभिन्न देशों ने तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाए और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति को रुद्ध कर दिया। जो और गहराई में गए उन्होंने यह कहा कि सारी कठिनाइयाँ पदार्थों का आवश्यकता से अधिक उत्पादन होने के कारण उत्पन्न हुई हैं।

पर विचार करके देखा जाय तो उपर्युक्त बातें मन्दी के कारण नहीं थे परन्तु किसी मौलिक दोष का उपसर्गमात्र थे। मन्दी स्वतः किसी मूल दोष का ही परिणाम था। यदि अत्यधिक उत्पादन ही मुख्य कारण था तो भी यह पूछा जा सकता है कि अत्यधिक उत्पादन के रहते हुए भी लाखों की संख्या में नरनारी आवश्यक पदार्थों के अभाव से उत्पी-ड़ित कैसे हुए। कैसे लाखों अन्न और वस्त्र के समान जीवन के लिए नितान्त आवश्यक समान से भी वञ्चित थे? मौलिक प्रश्न यह था कि यह स्थिति आई क्यों और इसका उपचार किस प्रकार किया जा सकता था? कहा जाता है कि जनता की क्रय-शक्ति का ऐसा क्षय हो गया था कि वह निर्मित पदार्थ को खरीद कर उसका उपभोग करने में समर्थ ही नहीं रह पाई थी। परिणाम स्वरूप एक ओर माल पड़ा सड़ता था और दूसरी ओर अभाव की आग धधक रही थी। प्रश्न किया जा सकता है कि आखिर जनता की क्रय-शक्ति का ऐसा ह्रास ही क्यों

हुआ ? अर्थ शास्त्री तो यह कहते रहे हैं कि उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ जनता की क्रय-शक्ति का बढ़ना अनिवार्य है। वे कहते हैं कि मालका उत्पादन और उसकी खपत होगी तो उत्पादक जनवर्ग के हाथ में पैसे आवेंगे, उसे काम मिलेगा, धन में संचलन होगा और उसका वितरण हो सकेगा। पर यहाँ स्थिति उल्टी क्यों हुई ? उत्पादन यदि हुआ तो जनता की क्रय-शक्ति बढ़ने के बजाय घटती क्यों चली गई और क्यों माल की खपत रुकती गई, मन्दी फैलती गई और बेकारी बढ़ती गई ?

वस्तुतः बात यह है कि उत्पत्ति की वृद्धिमात्र से उपभोग की शक्ति नहीं बढ़ जाती। यह बात जगत् की गत दो दशकों की स्थिति से सिद्ध हो चुकी है। श्रीविश्वेश्वरैया ने अपनी 'प्लैण्ड इकनामी' नामक पुस्तक में लिखा है कि "इस समय भी उद्योग प्रधान देशों की उत्पादनशक्ति सारे संसार के लोगों की क्रय-शक्ति से पचास प्रतिशत अधिक है।" पर जहाँ उत्पादन-शक्ति इतनी अधिक है वहाँ क्रय-शक्ति का कम होना क्या यह सिद्ध नहीं करता कि उत्पत्ति की वृद्धि से जनवर्ग की क्रय-शक्ति का बढ़ जाना जरूरी नहीं हुआ करता ? उपभोग करने की इच्छा उपभोग करने की आवश्यकता और उपभोग करने की शक्ति में महान् अन्तर है। इच्छा और अवश्यकता रहते हुए भी यदि पदार्थ को प्राप्त करने का साधन जन-समाज को उपलब्ध नहीं है तो उत्पत्ति के बढ़ जाने से भी उसकी क्रयशक्ति में वृद्धि नहीं हो सकती। क्रयशक्ति में वृद्धि उसी दशा में हो सकती है जब माल को खरीदने और उसका मूल्य चुकाने के लिये जनता के पास आवश्यक पैसा हो। प्रश्न यह किया जा सकता है कि आखिरकार जन-समाज के पास पैसे का यह अभाव ही क्यों हो गया ? ये तमाम प्रश्न थे जिनका समुचित उत्तर खोज निकाले बिना जगत् का आर्थिक प्रश्न हल हो ही नहीं सकता था। पूँजीवादी लोकतंत्रात्मक राष्ट्रों ने या तो इन प्रश्नों का उत्तर खोजा नहीं अथवा यदि खोजा तो उसके उत्तर की उपेक्षा की। उपेक्षा इस लिये की कि वे उत्तर पूँजी-

वादी व्यवस्था के विरुद्ध निर्णय प्रदान करने वाले थे और पूँजीवादी देश उन्हें ग्रहण करके अपने संकुचित स्वार्थ को छोड़ने के लिये तैयार न थे।

जनता की क्रय-शक्ति का ह्रास हुआ था पूँजीवादी अर्थ-नीति के परिमाणस्वरूप। पूँजीवादी व्यवस्था में धन का उचित और सम बटवारा संभव ही नहीं है। पदार्थ का उत्पादक उस लाभ और आय का साझीदार होता ही नहीं जो उत्पन्न सम्पत्ति की खपत के द्वारा होती है। इस सम्पत्ति का स्वामी वह वर्ग होता है जिसकी संख्या मुट्ठी भर से अधिक नहीं है और जो स्वयम् अनुत्पादक है। इसके सिवा सारी पूँजीवादी अर्थनीति व्यक्तिगत सम्पत्ति, व्यक्तिगत लाभ, और अबाध निरंकुश तथा अव्यवस्थित प्रतिस्पर्धा पर आश्रित है। जन वर्ग उत्पादक भी है और उपभोक्ता भी है। वह माल तैयार भी करता है और मूल्य चुका कर उसे खरीदने के लिए बाध्य भी होता है। परिणामतः उसका दोहरा शोषण होता है। इस स्थिति में धन का दोषपूर्ण और विषम वितरण अवश्यम्भावी है। सारी सम्पत्ति का कुछ के हाथों में एकत्र हो जाना भी अनिवार्य है। जब यह दशा होगी तो जनवर्ग की क्रय-शक्ति का ह्रास हुए बिना बाकी नहीं रह सकता। इसके फलस्वरूप माल की खपत रुकेगी, मन्दी आवेगी, कल कारखाने शिथिल होने लगेंगे, बेकारी बढ़ेगी और जनता माल की खरीद करने में अधिकाधिक असमर्थ होती जायगी। स्पष्ट है कि इस दुश्चक्र का मूल पूँजीवाद है। इसके परिहार का उपाय यही है कि धनका उचित बटवारा हो और उत्पादन, उपभोग तथा वितरण में ऐसा सामंजस्य स्थापित किया जाय कि धन का एकत्रीकरण तथा उसकी विषमता दूर की जा सके। ऐसा करने के लिए पूँजीवादी अर्थनीति को और उस पर स्थापित सारी सामाजिक व्यवस्था को मिटाना होगा। पूँजीवादी लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रों के लिए ऐसा करना अपने हित का और उस दुनिया का जिससे वे परिपालित थे, विसर्जन करना होता। इतना बड़ा त्याग करने के लिए वे तैयार न थे। फलतः आर्थिक संकट को दूर भी न कर सके। जो उपाय किये गये वे किसी

प्रकार प्रत्यक्ष प्रकट हुए दोषों को छिपा कर वर्तमान को यथासंभव बनाए रखने के लिए ही किए गये। परिणाम यह हुआ कि समस्या सुलझने के बजाय उलझती चली गई और स्थिति सँभलने की अपेक्षा बिगड़ती ही गई।

आर्थिक संकट न सुलझ सकने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय संबन्ध भी विषाक्त होता गया और युद्ध की सम्भावना बढ़ती गई। युद्ध का भय बढ़ेगा तो निःशस्त्रीकरण के लिये स्थान रह ही नहीं सकता। आर्थिक संकट के कारण सभी देशों का आन्तरिक राष्ट्रीय स्वरूप भी विकृत हो चला। जो अर्थ और सम्पत्ति के प्रभु थे और जिनके हाथों में प्रभुता तथा अधिकार था उन्हें आर्थिक अव्यवस्था ने भयभीत कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध के खतरे से भी वे सशंक हो उठे। असाधारण स्थिति में, और ऐसी स्थिति में जब अशान्ति के बादल उमड़ रहे हों लोकतंत्र यों ही शिथिल होने लगता है। इसके सिवा जब पूँजीवादी वर्ग यह देखता है कि उसका बना-बनाया भवन ढहना चाहता है तो उसके लिये अपनी सारी शक्ति लगा कर उसकी रक्षा करना एकमात्र मार्ग रह जाता है। फलतः वह लोकतन्त्र को तिलाञ्जलि देकर शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण की ओर अग्रसर होता है। इस केन्द्रीकरण द्वारा ही निरंकुश और असाधारण उपायों का अवलम्बन करके वर्तमान को बनाए रखने की चेष्टा करता है। एक वर्ग की यह प्रवृत्ति अधिनायकवाद की जननी होती है। इसका परिणाम और भी भयावह होना स्वाभाविक है। वर्गप्रभुता और वर्गस्वार्थ का केन्द्रीकरण दूसरे वर्गों में घोर विक्षोभ उत्पन्न कर देता है। वर्ग-संघर्ष तीव्र हो जाता है। जनता की बेकारी, दलन और अधिकारापहरण वर्ग-संघर्ष की तीव्रता को और उग्र बना देता है। परिणामतः दूसरा वर्ग भी विद्रोही हो जाता है और बल-पूर्वक शासनसत्ता पर अधिकार स्थापित करके अपने हाथों में अधिकार का केन्द्रीकरण करने की चेष्टा करता है। तात्पर्य यह कि जनवर्ग हो या पूँजीवाद-वर्ग दोनों की ही गति अधिनायकवाद तथा

वर्ग-प्रभुता-वाद की ओर हो जाती है। विचारा लोकतन्त्र दोनों ओर से मारा जाता है और उसके शव पर कहीं फासिटीवादी और कहीं कम्युनिस्ट समाज-वादी वर्गमूलक अधिनायक-वादिनी व्यवस्था अट्टहास करती दिखाई देती है जो परस्पर विरोधी वर्गों का रक्तपान करती हुई नरमुंड मालिनी भयावनी विभीषिका के रूप में दृष्टिगोचर होती है।

यही है युद्धोत्तर विश्व की कहानी। कहा जा सकता है कि यह स्थिति न उत्पन्न हुई होती यदि गत महायुद्ध में विजयी हुए राष्ट्रनायकों ने, जो जगत् की समस्या सुलझाने चले थे, दूरदर्शिता, कल्पनाशीलता और मानव समाज के सामूहिक हित की भावना से काम लिया होता। यह स्थिति तब तक सुलझ भी नहीं सकती जब तक आवश्यकता और परिस्थिति के अनुकूल जगत् की सारी व्यवस्था में इष्ट और मौलिक परिवर्तन नहीं कर दिया जाता। जगत् को दुर्दशा के गर्त से निकालने के लिए आज की व्यवस्था को बदल कर वह स्थिति लानी होगी जिसमें अर्थ का समुचित बटवारा हो सके। आर्थिक विषमता को दूर करना होगा और मानव समाज को शोषण, दलन तथा दासता से मुक्त करना होगा। ऐसी व्यवस्था परिचालित करनी होगी जिसमें राष्ट्रों का संबन्ध गला-घोटू प्रतिस्पर्धा तथा द्वेष पर न होकर सहयोग तथा सहायता पर स्थापित हो! विज्ञान ने दिक्काल और भौगोलिक बाधाओं को दूर करके यदि धरती को एक परिवार का रूप प्रदान कर दिया है और मानव-समाज परस्पर निकट आ गया है तो अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व की सामूहिक हित की कल्पना से काम लिए बिना और उसी के आधार पर आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, तथा सांस्कृतिक व्यवस्था को परिचालित किए बिना कोई दूसरी गति है ही नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वशान्ति के लिये उन सीमाओं का उल्लंघन करना होगा जो उसमें बाधक हो रही हैं। मनुष्य को इस योग्य बनाना होगा कि वह अपने स्वार्थ, अपने अहम् और अपनी कामना की सीमा को तोड़ दे और जगत् के सामूहिक हित में उसे लय हो जाने दे। जीवन

के प्रति उसकी सारी कल्पना और दृष्टि को क्रमशः बदल लेने की चेष्टा करनी होगी। जगत् के सामने प्रश्न यह है कि यह सम्भव कैसे हो और कैसे इस लक्ष्य की पूर्ति की जा सके। इतना तो सर्वमान्य है कि पूँजी-वाद की सारी कल्पना, दृष्टि, विधि और व्यवस्था इस लक्ष्य के ही प्रति-कूल है। फलतः यह भी सभी को स्वीकार होगा कि पूँजीवादी व्यवस्था को बदलना ही एकमात्र उपाय है। पर प्रश्न यह है कि यह व्यवस्था पलटी कैसे जाय और उसका स्थान ग्रहण करने वाली वस्तु कैसी हो जो उपर्युक्त लक्ष्य की पूर्ति कर सके। पूँजीवादियों ने स्वयं सुधार करने के लिए जिस पथ, पद्धति और प्रयोग का अवलम्बन किया वह किस प्रकार असफल हुआ इस पर गत पृष्ठों में प्रकाश डाला जा चुका है। दूसरा उपाय समाजवाद उपस्थित करता है जिस पर अगले अध्याय में विचार करने की चेष्टा की जायेगी। पर यहाँ इतना कह देना असंगत न होगा कि समाजवाद जो उपाय उपस्थित करता है वह वर्गमूलक द्वेष और हिंसा का आधार ग्रहण करता है। यद्यपि वह आदर्श रखता है आर्थिक समता और राजनीतिक स्वतन्त्रता का, वर्गभेद के नाश और विश्व की शान्ति का; पर पथ पकड़ता है वर्ग-प्रभुता और वर्ग-मूलक हिंसा तथा निरंकुश अधिनायकवाद का।

फलतः उसकी पद्धति उसे आदर्श से विमुख ले जाती है। गांधी इन सब से भिन्न तीसरा उपाय उपस्थित कर रहा है। वह उपाय है जगत्-समस्या को अहिंसक ढंग से हल करने का। वह पद्धति आर्थिक समता के स्थापन की, पूँजीवाद के विसर्जन की, स्वत्वापहारिणी, हिंसाश्रिता राजनीतिक सत्ता के विघटन की मौलिक पद्धति है। गांधी जी आधुनिक पूँजीवाद के, आर्थिक विषमता के, राजनीतिक दासता और राष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय हिंसावाद के मूल कारण को ही लुप्त करने की चेष्टा और उपाय का अवलम्बन कर रहे हैं। वे समझते हैं कि पूँजीवाद के मूल में उत्पादन की वह यांत्रिक पद्धति है जो उत्पत्ति की प्रक्रिया का, उत्पन्न सम्पत्ति का, वर्ग स्वार्थ की रक्षा के लिए शक्ति और अधिकार

की सत्ता का केन्द्रीकरण कर देती है। वे उत्पादन की इस पद्धति का ही लोप चाहते हैं क्योंकि उस पर प्रतिष्ठित सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था स्वभावतः वर्ग-भेद पर, दलन और दोहन पर तथा हिंसा और शस्त्र पर आश्रित हो जाती है। आर्थिक विषमता और जन-दास्य तथा अन्तराष्ट्रीय द्वेष और युद्ध का मार्ग उक्त स्थिति में प्रशस्त हुए बिना बाकी नहीं रह सकता। यंत्र से काम ले कर मनुष्य बेकार बनाया जाय और आशा यह की जाय कि उसकी क्रयशक्ति बढ़ेगी, विशुद्ध भ्रान्ति के सिवा कुछ नहीं है।

अत्यधिक उत्पादन यदि समस्या है तो इसका सर्जन भी यंत्रवाद के गर्भ से ही होता है। यदि धन का समुचित बँटवारा न होना आर्थिक संकट के मूल में है तो इसका कारण भी वह पूँजीवाद है जिसका जन्म यंत्र के द्वारा ही हुआ है। गाँधीजी यह मानते हैं कि यंत्र की उपयोगिता मनुष्य के लिये ही स्वीकार की जा सकती है न कि मनुष्य का अस्तित्व यंत्र के लिये है। मनुष्य को निकम्मा, निर्धन, निस्सत्व और निस्साहाय तथा निर्दलित करके यंत्र को ग्रहण नहीं किया जा सकता। हाँ, यंत्र को बेकार करके भी यदि आवश्यक हो तो मनुष्य को काम दिया जा सकता है और उसके योगक्षेम, उसकी स्वतन्त्रता और सुख तथा उसके स्वत्व और शान्ति की वृद्धि करना उचित हो सकता है। किसी अर्थशास्त्री ने अथवा यांत्रिक उत्पादन-पद्धति के समर्थक ने अब तक ऐसा चिट्ठा और ब्योरा उपस्थित नहीं किया है जिसमें यह सिद्ध किया गया हो कि जगत् में मनुष्य की जितनी शक्ति उपलब्ध है वह उतना उत्पादन करने में समर्थ नहीं है जितने की आवश्यकता मानव-समाज को अपने जीवन की रक्षा के लिये प्रतीत होती है। अब तक किसी ने यह हिसाब लगा कर नहीं बताया कि मनुष्य को पदार्थों की कितनी कमी है तथा उसे उत्पन्न करने की उसकी शक्ति कितनी कम है जिसकी पूर्ति के लिये अमुक निश्चित सीमातक यंत्र की सहायता अपेक्षित है।

आज तो हम यही देख रहे हैं कि यंत्र से काम लेकर मनुष्य मनुष्य

को बेकाम बनाया जा रहा है, उसकी आर्थिक शक्ति का क्षय करता जा रहा है, आर्थिक विषमता फैलाता जा रहा है और अत्यधिक उत्पादन तथा दोषपूर्ण साम्पत्तिक वितरण की समस्या उपस्थित करके जगद्व्यापी आर्थिक संकट उपस्थित करता जाता है। श्री विश्वेश्वरैया ने महान् औद्योगिक देशों के उद्योग और व्यवसाय में लगे नर-नारियों की एक तालिका उपस्थित की है। मैं पाठकों से निवेदन करता हूँ कि वे नीचे लिखी तालिका पर दृष्टिपात करें।

उद्योग धन्धों में		करोड़	व्यवसाय और यातायात में	करोड़
ग्रेट ब्रिटेन	·९१	,,	·४०	,,
अमेरिका	१·५४	,,	१·२०	,,
जर्मनी	१·३२	,,	·५२	,,
फ्रांस	·७१	,,	·३६	,,
जापान	·५७	,,	·०५	,,
कुल	·०५	करोड़	२·५३	करोड़

इस तालिका से स्पष्ट है कि जगत् के उपर्युक्त ५ महान उद्योग-प्रधान देशों के सारे उद्योग-धंधों, व्यवसायों और यातायात में सन् १९३०-३१ में कुल प्रायः ७॥ करोड़ आदमी लगे हुए थे। स्मरण रखिए कि उपर्युक्त देशों की कुल जन संख्या प्रायः ३२ करोड़ के पहुँचती है। इस जन संख्या के चतुर्थांश से कुछ कम ही नर-नारी समस्त उद्योग व्यवस्था में लगे हुए थे पर उनके द्वारा उत्पन्न पदार्थ से जगत् इस प्रकार भर उठा था कि व्यापक महामन्दी से विश्व का समस्त आर्थिक जीवन विचूर्ण होता दिखाई पड़ा। अमेरिका की कुल जनसंख्या जगत् की सारी जन संख्या के ६ प्रतिशत से अधिक नहीं है पर अकेला अमेरिका संसार में बननेवाली मोटर गाड़ियों का ८७ प्रतिशत, पिट्रोल का ७१ प्रतिशत और कोयले का ४३ प्रतिशत उत्पादन करता है।

प्रश्न यह उठता है कि यांत्रिक उत्पादन की यदि यह स्थिति है तो

जगत् की अवस्था क्या हो जायगी ? जब दुनिया के कुछ देश अपनी जनसंख्या के चतुर्थांश से भी कम मानव-शक्ति का उपयोग करके सारे संसार की आवश्यकता से अधिक पदार्थों का उत्पादन कर सकते हैं तो उस समय क्या स्थिति होगी जब जगत् के अन्य देश भी उद्योगप्रधान हो जायँगे ? उस समय क्या स्थिति होगी जब सारी दुनिया भर के बेकार काम में लगा दिए जायँगे और कल-कारखानों द्वारा उत्पादन करने लगेंगे। सोचने की बात है कि उसी युग में जब उपर्युक्त स्थिति थी जगत् में करोड़ों की संख्या में लोग बेकार घूम रहे थे। केवल अमेरिका में सन् १९३१-३२ में एक करोड़ तीस लाख से अधिक आदमी बेकार थे। तात्पर्य यह कि उस देश के जितने नर-नारी उद्योग व्यवस्था में लगे हुए थे उतने की आधी संख्या बेकारी की आग में जल रही थी। इतनों को बेकार रखकर अमेरिकन उद्योग यदि अपने माल से संसार के बाजारों को पाट दे सकता था तो यदि उसके सारे बेकार भी उत्पादन के काम में लगा दिए जाते तो संसार का आर्थिक संकट कहाँ पहुँचा होता ?

इस स्थिति के रहते और उत्पादन की केन्द्रित तथा यांत्रिक प्रणाली को बनाए रखकर यह कल्पना करना कि जगत् का आर्थिक संकट और दुरवस्था सुलझाई जा सकेगी अपने आपको भयावना धोखा देना है। कहा जा सकता है कि काम के घण्टे कम करके और जनता के जीवन के स्तर को ऊँचा करके और उसकी आवश्यकताओं को अधिकाधिक बढ़ा कर तथा उनकी पूर्ति में उसे समर्थ बनाकर बेकारी और अत्यधिक उत्पादन की समस्या हल की जा सकती है। यह तर्क की दृष्टि से मोहक ज्ञात होते हुए भी तबतक सार-पूर्ण और वास्तविक नहीं माना जा सकता जबतक आँकड़ों को पेश करके कोई उन्हें सिद्ध नहीं कर देता। जो लोग उपर्युक्त मत के समर्थक हैं उनके लिए यह आवश्यक है कि वे अपने तर्क की साधारता यदि व्यवहारिक प्रयोग के द्वारा नहीं तो कम से आँकड़ों के द्वारा तो अवश्य सिद्ध करें। आंकड़े उपस्थित करके बतावें कि जगत् के प्रत्येक व्यक्ति के रहन-सहन के लिये कम से कम सीमा क्या निर्धारित

करते हैं ? जीवन-रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति को कितना पदार्थ आवश्यक समझते हैं ? फिर वे यह बतावें कि उक्त हसाब की तुलना में जगत् में यन्त्रों के द्वारा कितना माल तैयार होता है ? कितने की कमी पड़ती है जिसकी पूर्ति के लिएं अधिक उत्पादन की आवश्यकता है, अथवा कितना माल अधिक तैयार होता है जिसका उत्पादन रोकना अपेक्षित है ? फिर वे यह बतावें कि जगत् में बेकारों की संख्या कितनी है ? उन्हें काम में लगाने का क्या प्रभाव उत्पादन पर पड़ेगा ? यदि अधिक उत्पादन रोकने के लिए काम के घण्टों का कम करना जरूरी होगा तो किस सीमातक कम करना होगा ? महान् औद्योगिक देशों के सिवा दूसरे देश यदि उद्योगीकरण करने लगें तो उत्पादन पर उसका क्या प्रभाव होगा ? किस प्रकार उपर्युक्त हिसाब के प्रकाश में उनका सामंजस्य स्थापित किया जायेगा ? आवश्यकताओं को किस सीमा तक आप बढ़ाते जायँगे और उन्हें बढ़ाते हुए किस प्रकार माल की खपत करने में समर्थ हो सकेंगे ?

याद रखने की बात है कि माल की खपत उपभोग से होती है, संग्रह से नहीं। मेरा मतलब यह है कि एक व्यक्ति सौ धोती अकेले अपने पास रख सकता है और यह कहा जा सकता है कि उसका जीवन-स्तर बहुत ऊँचा है। पर इससे माल की खपत नहीं होती क्योंकि सौ धोती रखने वाला उन सबको एक वर्ष में पहन कर फाड़ नहीं सकता। फटेंगी दस ही और दूसरे वर्ष वह यदि खरीदेगा तो सौ नहीं दस ही खरीदेगा। इस प्रकार जीवन में ऐसा एक बिन्दु आ सकता है जब आवश्यकताओं को बढ़ाना भी सम्भव न होगा और यदि हो भी जाय तो उससे उपभोग की मात्रा न बढ़ेगी। इन सब आँकड़ों को उपस्थित करके कोई यह योजना पेश करे कि यांत्रिक पद्धति किस प्रकार अत्यधिक उत्पादन की, बेकारी की, और आर्थिक-असाम्य की समस्या हल करने में समर्थ होती है। भले ही आप केवल एक मिनट काम करके जगत् भर की आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक उत्पादन करलें और काम के समय को उपर्युक्त सीमा तक घटा कर बेकारी की समस्या

भी हल कर लें पर उसके साथ यह भी बताना होगा कि तेइस घण्टे और उनसठ मिनट मनुष्य क्या करेगा, विश्राम की उसकी नीरसता किस प्रकार दूर होगी और किस प्रकार अवकाश का उपयोग करना मानव-समाज के विकास तथा हित का साधन होगा। जब तक इन तमाम प्रश्नों का साधार उत्तर न पेश किया जाय तब तक हवाई तर्क स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इन सब के सिवा उत्पादन की केन्द्रित प्रणाली के कारण जिस भयावने केन्द्रवाद का सर्जन होता है उसका समुचित समाधान भी उपस्थित करना होगा क्योंकि शक्ति और अधिकार का केन्द्रीकरण मानव-स्वतंत्रता का विघातक और उसके दलन का साधक स्पष्टतः होता जा रहा है। गाँधी आज देख रहा है कि उपर्युक्त यंत्रवाद और केन्द्रीकरण जगत् के नाश का मार्ग प्रशस्त करता जा रहा है। फलतः वह विकेन्द्रीकरण का समाधान उपस्थित कर रहा है जिसके द्वारा जगत् की समस्या हल की जा सकती है। उसके विकेन्द्रीकरण की कल्पना के सम्बन्ध में आगामी अध्यायों में लिखा जायगा। पर यहाँ इतना कह देना अनुचित न होगा कि उसी में उसे लोकतन्त्र का सच्चा उदय दिखाई देता है। आर्थिक विषमता दूर होती दिखाई देती है, साम्पत्तिक वितरण सम तथा न्याय्य होता दिखाई देता है और ऐसे समाज की रचना सम्भव दिखाई देती है जो अहिंसा पर आश्रित हो सकेगी। उसी के द्वारा वह स्थिति आ सकेगी जब बाजारों की खोज के लिए परस्पर राष्ट्रों में प्रतिस्पर्धा की आवश्यकता न रहेगी और विश्व-शान्ति तथा विश्व-संघटन के लिए आवश्यक परिस्थिति और अपेक्षित वातावरण उत्पन्न हो सकेगा।

पर गाँधी जी का इतना ही भेद लोकतंत्रवादी देशों के प्रयोग से नहीं है। उनकी विचार धारा जिस नैतिक आदर्श के उद्गम से प्रवाहित तथा उनका जो दृष्टिकोण उनकी पद्धति के मूल में है वह भी यूरोप की मूल-दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। जिस दार्शनिक दृष्टि पर लोकतंत्र स्थापित है वह व्यक्तिवाद और उपयोगितावाद का समर्थन तथा प्रतिपादन करती

है। जिन दार्शनिक विद्वानों ने उपर्युक्त दृष्टि तथा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उनके मत से प्रत्येक व्यक्ति प्रकृत्या अपने आनन्द और सुख की खोज करता है। जीवन के प्रति अपनी इस दृष्टि के फलस्वरूप उन्होंने सामाजिक व्यवस्था के लिए जो नैतिक आदर्श तथा आधार ढूँढ़ निकाला वह यही था कि अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक सुख का साधन तथा संवर्धन जिस प्रकार हो सके उसे ही समाज के लिए उपयोगी समझना चाहिए। व्यक्ति अधिक से अधिक सुखोपभोग कर सके, उसे ऐसा करने का अधिकार तथा स्वतंत्रता हो और समाज उसके इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हो।

समाज तथा उसकी व्यवस्था की उपयोगिता और औचित्य इसी बात में है कि उसके द्वारा अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक हित हो। इस नैतिक आदर्श के आधार पर राजनीतिक क्षेत्र में लोकतंत्र तथा आर्थिक क्षेत्र में मुक्त व्यवसाय तथा वाणिज्य-नीति का प्रवर्तन हुआ। व्यक्तिवाद की इस कल्पना की विवेचना करना मेरा लक्ष्य नहीं है और न उसके गुण-दोष का खण्डन-मण्डन करना चाहता हूँ पर इतना कह देना आवश्यक है कि यदि यह सत्य भी हो कि मनुष्य स्वभावतः अहम्वादी है और अपने ही सुख की खोज में रहता है तो भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि सुख और आनन्द की उसकी कल्पना क्या है तथा सुख और आनन्द की अनुभूति कैसे और किस बात में करता है।

दार्शनिक विद्वानों की दृष्टि में उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर चाहे जो रहा हो पर यूरोप में बहते भौतिकवाद के प्रवाह ने उपर्युक्त सुखवाद, व्यक्तिवाद, और उपयोगितावाद की कल्पना को अपने रँग में रँग डाला। सुख की प्राप्ति ही यदि मानव-जीवन का लक्ष्य है, यदि मनुष्य के समस्त कार्यों का उद्देश्य उसे प्राप्त करनामात्र है तो सुखानुभूति और आनन्दानुभूति जैसे और जहाँ भी हो प्राप्त करना ही व्यक्ति समाज और व्यवस्था का एकमात्र आदर्श माना जा सकता है। विचार कीजिए कि उस स्थिति में जब भौतिकता की धारा बह चली और जब भोजन, भोग और प्रज-

नन में, प्रभुता की प्राप्ति और सम्पत्ति के उपार्जन में, अधिकारोपभोग और स्वार्थ-साधन में, ऐहिक सुख तथा कामनाओं की तृप्ति में, भौतिक—प्रवृत्ति सुख का अनुभव करती हो तब उपर्युक्त सिद्धान्त किस रँग में रँगा जाकर व्यावहारिक रूप ग्रहण करेगा? भौतिक दृ. आर्थिक जीवन, स्थूल विश्व और ऐहिक सुखोपभोग के सिवा और किसी वास्तविकता की सत्ता स्वीकार ही नहीं करती। फलतः भौतिकभाव से भावित मनुष्य अहं की तृप्ति के सिवा और किसी दिशा में सुख की कल्पना कर ही कैसे सकता है? अनिवार्य था कि जीवन ऐसी धारा पकड़ ले जिसमें लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए अधिकाधिक यत्न करना और अधिक साधन प्राप्त करना उसका लक्ष्य हो जाय। विज्ञान ने दुर्भाग्य से इसी प्रवृत्ति को और भी उत्तेजित किया। डार्विन के विकासवाद ने नया ज्ञान प्रदान कर दिया था। जीवन की रक्षा के लिए प्राणिजगत् में भयानक संघर्ष का होना और संघर्ष में जो योग्य हैं उनका टिकना और जो निर्बल हैं उनका लुप्त हो जाना नैसर्गिक विकास की क्रिया का अटल विधान घोषित किया जा चुका था।

स्वाभाविक था कि ये विचार यूरोप के राजनीतिक, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन को प्रभावित करते। संघर्ष में सफल होनेवाले, व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति के साधन जुटाने में समर्थ होनेवाले योग्य समझे गए। प्रकृति के नियमानुसार जीवित रहने का अधिकार भी उन्हीं के लिए माना गया। जो गरीब हों, जो मनमाने सुख की प्राप्ति न कर सकते हों, वे स्पष्टतः अयोग्य थे और इनके मिट जाने में ही विकास की क्रिया सम्पादित होती समझी गयी। लोकतंत्र की सार्थकता भी इसी में मान लेना उचित समझा गया कि वह उस वर्ग के अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक हित सम्पादन करे जो सबल और योग्य हैं क्योंकि उन्हीं को टिकने का अधिकार है वे ही टिकनेवाले हैं। इस प्रकार लोकतन्त्र वर्गहित का साधक बना। जब जीवन की यह कल्पना हो गई हो, जब इसका चरम लक्ष्य सुखवाद पर आश्रित हो, जब सुख की कल्पना ऐहिक कामनाओं की तृप्ति में समाविष्ट हो, जब उस तृप्ति के लिए संघर्ष

प्रकृति का विधान दिखाई देता हो, जब जो विजयी हों उनके टिकने में और जो असफल हों उनके लोप में सृष्टि का अभीष्ट सिद्ध होता हो और जब विज्ञान संघर्ष के लिए अपरिमित तथा अभिनव साधन प्रस्तुत कर रहा हो उस समय वैसी स्थिति, समस्या तथा विधि-विधान का उत्पन्न होना स्वाभाविक था जो जगत् के सामने गत दो दशकों में उत्पन्न हो गया था।

गाँधी की नैतिक दृष्टि सर्वथा यूरोप की उस भौतिक दृष्टि से भिन्न है जिस पर यूरोप का सारा सांस्कृतिक जीवन आश्रित है। वह जीवन के प्रति मनुष्य की सारी कल्पना और दृष्टि को तथा सुख-सम्बन्धी उसकी धारणा को आमूल परिवर्तित कर देना आवश्यक समझता है कि मनुष्य को ऐहिक सुख के भौतिक धरातल से ऊँचा उठाए बिना वह स्थिति आ ही नहीं सकती जिसमें विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा मनुष्य की स्वतंत्रता और समता की स्थापना हो सके। वह समझता है कि मनुष्य को विकास के उस स्तर की ओर ले जाए बिना जगत् की समस्या हल नहीं हो सकती जहाँ पहुँचकर मनुष्य दूसरे के सुख और अधिकार की पूर्ति में अपने लक्ष्य और कर्त्तव्य की पूर्ति देखे। संक्षेप में गाँधी उस व्यक्तिवाद की कल्पना करता है जो व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य अहं की परिधि को मिटा कर समष्टि में लय हो जाना निर्धारित करता है। व्यक्ति के जीवन का, उसके अन्तर का विकास उसी दिशा की ओर हो और उसका व्यक्तित्व उसी लक्ष्य की ओर उन्मुख हो। स्पष्ट है कि यह उद्देश्य एकमात्र भौतिक दृष्टि से सिद्ध नहीं हो सकता। भौतिक दृष्टि रहेगी तो कभी प्रभुता की पिपासा और कभी शक्ति, कभी आर्थिक हित, कभी जातिगत श्रेष्ठता और कभी अहंकार के भावों का प्रभाव मनुष्य के कार्यों पर छाया रहेगा। जब तक मनुष्य का यह स्वरूप है तक तक व्यवस्थाएँ कुछ भी करने में समर्थ न होंगी फिर उनका संघटन चाहे जो कहकर क्यों न किया जाय। गाँधी जी, विश्वशान्ति हो या विश्वसंघ की कल्पना, मनुष्य की समता हो अथवा उसकी स्वतन्त्रता का प्रश्न, सभी को नैतिक आदर्श मानते हैं और यह कहते हैं कि यदि उनकी

उपलब्धि मानव जाति को अभीष्ट है तो उसका पथ भी नैतिक ही हो सकता है।

इन तात्विक तथ्यों की उपेक्षा करके जगत् की समस्या का स्थायी सुलझाव सम्भव ही नहीं है। मनुष्य भी अन्तश्चेतना का स्पर्श किए बिना, और उसे सत्पथ की ओर अग्रसर किए बिना, उसके नैतिक भावों को जाग्रत किए बिना मनुष्य को मनुष्य बनाना सम्भव न होगा और जब तक यह न होगा तब तक वह ज्ञान और विज्ञान का, व्यवस्था और विधान का दुरुपयोग करे तो इसमें आश्चर्य नहीं। फलतः जगत् की समस्या को यदि हल करना है तो मनुष्य के बाहर और भीतर को, उसके आदर्श और व्यवहार को, उसकी इच्छा और क्रिया को वह दिशा प्रदान करनी होगी, जो गाँधी के शब्दों में उस ओर ले जाती है जहाँ "प्रेम और विधान एक हों"। गाँधी जी ठीक इसी लक्ष्य का भेदन करने की चेष्टा कर रहे हैं। इसी लिए वह मनुष्य को अपने अधिकार की अपेक्षा अपने कर्त्तव्य की पूर्ति की ओर ध्यान देनेके लिए उत्तेजित करते रहते हैं। उनकी यह विशेषता है कि वे सदा कर्तव्य पर ही अधिक जोर देते हैं और कहते हैं कि कर्त्तव्य की पूर्ति करो अधिकार स्वयम् ही उसका अनुगमन करेगा। अधिकार में भावना अहम् की है। अधिकार की बात करते ही मनुष्य अपने को प्रामुख्य प्रदान करता है। पर कर्तव्य में मूलतः भाव उत्सर्ग का है। कर्त्तव्य की कल्पना दूसरे के लिए, उसके हित की चिन्ता को लेकर उदीयमान होती है। दूसरे की चिन्ता करते ही मनुष्य अपने अहम् के बन्धन को ढीला करता है। इस भाव के जागरण में गाँधी व्यक्ति और समाज को उस नैतिकता की ओर अग्रसर करने का उपाय देखता है जिसमें सारी व्यवस्था और विधान का आधार प्रेम हो सकेगा।

खेद है कि यूरोप के विचारकवृन्द का बुद्धि-कपाट अभी इतना अनावृत नहीं हुआ है कि इस प्रकाश को अपने आभ्यन्तर में प्रवेश करने दें। इसका एक प्रमाण अभी कुछ वर्ष पूर्व मिला है। श्री एच० जी वेल्स ब्रिटेन के प्रसिद्ध विद्वान्, लेखक और विचारक हैं जिनसे जगत् का शिक्षित

समुदाय भली भाँति परिचित है। आपने "नव विश्व का प्रदर्शन" नामक अपनी छोटी सी पुस्तिका में "भावी विश्व-विद्रोह के लिए कुछ "परामर्श और पथ" उपस्थित करने का दावा किया है। एक स्थान पर आप लिखते हैं "गतवर्ष मैंने मानवाधिकार की घोषणा कर देने के सम्बन्ध में प्रारम्भ हुए विवाद में भाग लिया था। सांके घोषणा के नाम से इसकी योजना प्रकाशित की गई। महात्मा गाँधी के पास भी इस विवाद में भाग लेने के लिए अपील भेजी गई। गाँधीजी ने जो उत्तर दिया वह उनके अहंकार का ज्वलन्त उदाहरण था। वह विश्वास करते हैं कि हम लोगों की अपेक्षा वे कहीं अधिक अच्छा मसविदा घोषणापत्र के रूप में तय्यार कर सकते हैं। हम इसे मान लेते हैं। पर इसके बाद गाँधी जी लिखते हैं इस घोषणापत्र से लाभ क्या होगा? कौन इस घोषणा का संरक्षक बनेगा? यदि आपने केवल प्रचार करने तथा लोगों को समझाने-बुझाने का मार्ग सोच रखा है तो मैं कहूँगा कि आपने गलत दिशा से काम आरंभ किया है। कृपा कर मनुष्य के कर्तव्यों की घोषणा से प्रारम्भ कीजिए और मैं विश्वास दिलाता हूँ कि अधिकार उसी प्रकार अनुगमन करेगा जैसे जाड़े के बाद बसन्त का आगमन होता है।"

गाँधी जी का यह उत्तर न केवल वेल्स महोदय की समझ में नहीं आया प्रस्तुत क्षुब्ध होकर उन्होंने शील का भी परित्याग कर दिया।

गाँधीजी के उत्तर पर आप क्रुद्ध होकर लिखते हैं "मूर्खता के इस प्रदर्शन पर किसी को भी आश्चर्य होगा। दूसरे के अधिकारों की व्याख्या कर देना ही अपने कर्तव्य की व्याख्या करने का एक मात्र निश्चित मार्ग है। स्पष्ट है कि गाँधी किसी विश्व-विद्रोह की धारा में अपने को निमज्जित कर देने के लिए तैयार नहीं है। यद्यपि कुछ अमेरिकन इस महात्मा को महत्व देते हैं पर हमें आज यह समझ लेना है कि थोड़ी मूर्खता प्रदर्शित कर देने के सिवा उसका न कोई मूल्य है और न आज के विश्व-विद्रोही को उसमें कोई दिलचस्पी हो सकती है। वह जब चाहे हमारे द्वार पर उपवास करके अपना प्राण दे सकता है। हम उसके इस अधि-

कार की रक्षा करेंगे यद्यपि उससे हमारे चलने फिरने के अधिकार में बाधा पड़ती है। उसका सहयोग तथा सारी विचारधारा उस विचारक्षेत्र से सम्बद्ध है जो आज की दुनिया के लिए पूर्णतः निकम्मी और पुरानी हो चुका है।

नम्रतापूर्वक वेल्स महोदय से कहा जा सकता है कि बुद्धि का परित्याग करके गाली बकने में जो मूर्खता प्रदर्शित होती है वह उस मूर्खता से कहीं अधिक है जिसका प्रदर्शन वे गांधीजी के उत्तर में देख रहे हैं। श्री वेल्स वास्तव में उन काल्पनिक पण्डितों की परम्परा के मानस पुत्र हैं जो अपनी बुद्धि के दम्भ में वास्तविकता से सदा दूर रहे हैं। यदि प्रलाप, तर्क और वितण्डामात्र से विश्व-विद्रोह चरितार्थ हो सकता तो अब तक कभी का हो गया होता। वह यह नहीं समझ सके कि अपने अधिकार की घोषणामात्र से अपने कर्तव्य की पूर्ति नहीं हो जाती। वे यह भी न समझ सके कि दूसरे के अधिकार की घोषणामात्र से न उसके अधिकार स्थापित हो जाते हैं और न उसकी रक्षा हो पाती है। अधिकारों की ऐसी घोषणाएँ इतिहास में अनेक बार की जा चुकी हैं। श्री वेल्स जिस देश के रत्न हैं उसकी पताका को अपने देश की भूमि से उखाड़कर अतलान्तक के अतलतल में डूबो देने वाले अमेरिकन विद्रोहियों ने बहुत पहले मानवाधिकार की एक दो घोषणा कर दी थी। पर क्या आज उसी अमेरिका में मनुष्य के अधिकार सुरक्षित हैं ? फ्रांस की राज्य-क्रांति ने स्वतन्त्रता, समता और न्याय का डंका पीटते हुए जिन आदर्शों की स्थापना यूरोप की भूमि पर की थी वे क्या आज वहाँ सुरक्षित हैं ? गत महायुद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों ने पृथ्वी की समस्त जातियों के लिए जिन अधिकारों और सिद्धांतों की घोषणा की थी वे क्या कार्यान्वित किए गए ? वेल्स महाशय को क्या यह देख कर कभी क्रोध आता है कि उनका देश एक नहीं अनेक बार भारत के अधिकार की घोषणा करके भी स्वयम् उसे सदा हड़प जाने में समर्थ हुआ है ? अभी इसी युद्ध के बीच में बड़े धूम-धड़ाके से ब्रिटिश और अमेरिकन विधाताओं ने मिलकर अत-

ब्लान्तक घोषणा की है पर एशिया और अफ्रीका की उन अभागी कौमों के लिए जो ब्रिटिश-चरणों के अधीन हैं उसका क्या अर्थ है इसका पता भी वेल्स महाशय को होगा ही, फिर सड़ी हुई सांके-घोषणा में, जिसके पीछे न कोई शक्ति है और न भाव, एक बार पुनः मानवाधिकार की व्याख्या से क्या विश्व-विद्रोह और मानवाधिकार की रक्षा सम्पन्न हो जायगी ? यदि नहीं तो फिर आप कैसे समझते हैं कि घोषणा कर देने से ही कर्तव्य की व्याख्या हो जाती है। यह भ्रान्ति ही उत्तरदायी है उन तमाम असफलताओं के लिए जो आज जगत् के सिर पर पड़ी हुई है।

क्षण भर के लिए प्रश्न की गहराई में उतर कर विचार कीजिए। अधिकार और कर्तव्य की शृङ्खला बनती कैसे है ? मनुष्य प्रकृत्या अहम् पूजक है और अपनी तृप्ति चाहता है पर वह सामाजिक प्राणी भी है। समाज के बिना उसकी अहम् तृप्ति भी सम्भव नहीं होती। फलतः मनुष्य की अहम्-भावना और सामाजिकता में सामञ्जस्य स्थापित होता है अधिकार और कर्तव्य की शृङ्खला से। मनुष्य जो दूसरों से चाहता है, दूसरे से उसे जो पाना है और दूसरे से अपने प्रति वह जो कराना चाहता है वही उसका अधिकार होता है और दूसरे के प्रति उसे जो करना है, दूसरे को उससे जो पाना है वह उसका कर्तव्य हो जाता है। स्पष्ट है कि अधिकार की कल्पना में मनुष्य का अहम् प्रमुख है और कर्तव्य की भावना में दूसरे के प्रति अहम् का विसर्जन मुख्य है। साधारणतः अहम्वादी होने के कारण मनुष्य अपने अधिकारों पर और दूसरों के कर्तव्यों पर ध्यान देता है परन्तु अपने कर्तव्य की उपेक्षा सरलता के साथ कर देता है। यह प्रवृत्ति ही संघर्ष और अशान्ति की जननी होती है।

यदि आप अधिकार को ही प्रामुख्य प्रदान करते हैं तो अहम्वादी मानव को, जो प्रकृत्या अपने अधिकारों पर ही दृष्टि रखने की ओर अभिमुख रहता है, कर्तव्य की भावना को अधिकाधिक उपेक्षित करने के लिये अग्रसर करते हैं। परिणाम यह होता है कि किसी के अधिकार सुरक्षित

नहीं रह पाते। यह सर्वमान्य है कि कर्तव्य ही अधिकार की रक्षा कर सकते हैं क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करे तो सबको अपने-अपने अधिकार प्राप्त हो जायँ। फलतः आज आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य की दृष्टि को अपने अधिकार की ओर से हटाकर कर्तव्य की ओर प्रेरित किया जाय। यदि एक बार कर्तव्यपालन का भाव जागरित हो जाय तो मनुष्य की अहम्-वृत्ति और अहम्-तृप्ति की भावना का स्थान गौण हो जायगा और दूसरों के प्रति कर्तव्य-पालन का, उसके अधिकार की रक्षा का प्रश्न मुख्य हो जायगा। उस दशा में कर्तव्य-पालन अपने अधिकार की प्राप्ति के साधन के पद से उठकर स्वयम् लक्ष्य बन जायगा। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि यदि सबके अधिकार की स्थापना और रक्षा करनी है तो सब की कर्तव्य-बुद्धि को जागरित करना चाहिए। इसी प्रकार आप अहम्वादी मानव को अहम्निष्ठा और पूजा की सीमा से परे ले जा सकेंगे और उसी स्थिति में समाज की रक्षा हो सकेगी। फलतः मनुष्य के अधिकार की स्थापना और रक्षा करने का उपाय उसके अधिकार की घोषणा करना नहीं है प्रत्युत प्रत्येक को उसके कर्तव्य का ज्ञान कराना है। अपने अधिकार की ओर से उसकी दृष्टि हटाकर यदि दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य पर केन्द्रित की जा सके तो सबके अधिकार की रक्षा स्वयं हो जायगी।

यही कारण है कि गाँधी ने दूसरी दिशा से प्रयत्न करने का अनुरोध किया। उसके अनुरोध का भाव यही है कि लम्बी-लम्बी घोषणाओं और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना छोड़ कर मनुष्य का आन्तरिक उपचार किया जाय। उसके उस अन्तर का स्पर्श किया जाय जिसके जागरण से ही निराकार घोषणाओं को साकार रूप प्राप्त हो सकता है। वह मानव के अन्तरोपचार के लिए मनोज्ञानिक उपाय पेश करता है, क्योंकि उसे अन्तस् की उपेक्षा करने वाले बाह्य पूजक पाश्चात्य विद्वानों की अपेक्षा मानव-प्रकृति और उसके गूढ़रहस्यों की गति का असाधारण ज्ञान कहीं अधिक है। आज आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य इस योग्य

बनाया जाय कि वह आदर्शों और सिद्धान्तों को व्यावहारिक और सक्रिय रूप प्रदान करके अपने कर्त्तव्य का पालन करने की क्षमता प्रदर्शित कर सके। उसमें वह चरित्र, वह कर्मठता तथा आत्मा की वह उत्प्रेरणा उत्पन्न होनी चाहिए जो आदर्श और लक्ष्य की ओर अभिमुख तथा उत्प्रेरित करने में समर्थ होती है। केवल मौखिक आदर्शवादिता अथवा सिद्धान्तों की घोषणा से तब तक काम नहीं चल सकता जब तक कर्तव्य के पथ में मनुष्य नैष्ठिक आशा रखने में समर्थ नहीं होता।

गाँधी के पथ और उसकी दृष्टि को न समझ सकने वाले उसका उपहास करते हैं पर मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करता हूँ कि वे कृपाकर अपनी ओर देखने का कष्ट करें। वे देखें कि उनकी सारी प्रक्रिया, प्रणाली और प्रयोग क्या जगत् के लिए अभिशाप नहीं बन गया है? अपनी असफलता पर लज्जित होने की अपेक्षा अभिमान करना उस मिथ्या दम्भ का परिचायक है जो भयावने पतन की ही सूचना देता है। वे स्मरण रखें कि गाँधी का असहयोग नहीं प्रत्युत यूरोप का भावनाशून्य स्वार्थपूर्ण अवसरवाद और उपयोगितावाद निर्जीव हो चुका है जिसके शव पर स्थित सारा सांस्कृतिक भवन स्वयमेव विषाभिभूत हो रहा है। यूरोप की असफलता ज्वलन्त है जो मुँह बाए स्वयम् उसे ही निगल जाने के लिए उसी के सिर पर मड़रा रही है। गाँधी का सन्देश तो यूरोप ही नहीं समस्त मानव जगत् की मुक्ति, उद्धार और कल्याण के पथ की ओर संकेत कर रहा है। मानव जाति को यदि जीवित रहना है तो उसे आज नहीं तो कल उस पथ का ही अनुगमन करना होगा। उसके सन्देश में निकम्मापन और पुरातनता वे देखें जिनकी व्यवस्था, विधि और विधान निर्जीव तथा अनुपयोगी सिद्ध हो चुका है, इससे बढ़ कर प्रचण्ड प्रवञ्चन और आत्म-प्रतारण दूसरा क्या हो सकता है? ज्ञात तो ऐसा हो रहा है कि भूतल का भविष्यत् गाँधी के चरणों में सुरक्षित है, वेल्स सदृश विद्वानों के मस्तिष्क में नहीं।

मार्क्सवादी प्रयोग

सत्ताईस वर्षों से अधिक हुआ जब जगत् का दूसरा महान् प्रयोग रूस की भूमि पर आरम्भ हुआ। तब से निरन्तर अबतक वह पद्धति कार्यान्वित हो रही है और सारे जगत् पर अपना प्रभाव डाल रही है। गत महायुद्ध के बाद संसार में जिस युग का आरम्भ हुआ उसमें रूसी महाक्रान्ति के सर्वतोधिक महती घटना हुई है। फ्राँस की राज्यक्रान्ति यूरोप के जीवन की धारा को एक विशेष दिशा प्रदान करने का कारण हुई थी पर रूसी महाक्रान्ति ने न केवल यूरोप को प्रत्युत समस्त भूमंडल को आमूल प्रभावित किया है। यह क्रान्ति न केवल राजनीतिक क्रान्ति-मात्र रही और न केवल किसी व्यवस्था-विशेष के विरुद्ध तात्कालीन विद्रोह। वह मानव जाति के इतिहास की ऐसी महती घटना है जो अपना अभिनव स्थान रखती है। उसने मनुष्य के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सङ्घटन को, उसके विचार और उसकी धारणा को, उसकी दृष्टि और कल्पना को, उसकी कला और साहित्य को उसके दर्शन और धर्म को, उसके विधान और व्यवस्था को, संक्षेप में उसके सारे जीवन को सामूहिक और मौलिक रूप से स्पर्श किया है।

सन् १९१७ ई० के नवम्बर में जगत् के इतिहास की धारा को प्रभावित करने वाला यह विद्रोह सफलता के साथ सम्पन्न हो गया। इसके बाद रूस में जो हुआ वह आधुनिक इतिहास की सर्व श्रेष्ठ महत्वपूर्ण घटना है। नवम्बर की रूसी क्रान्ति किसी साधारण राजनीतिक उद्देश्य को लेकर नहीं हुई थी। वह विद्रोह हुआ था उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जिसकी स्थापना मार्क्सवाद करता है। मार्क्सवाद केवल राजनीतिक अथवा आर्थिक सिद्धान्तों का समूह नहीं है। वह एक दृष्टि है जगत्, जीवन और समाज के इतिहास की ओर देखने की। वह मानव-

समाज के सुदूर भविष्यत् के प्रदेश में प्रवेश करने की चेष्टा करता है और उस बिन्दु की ओर संकेत करता है, जहाँ उसकी दृष्टि में इतिहास की धारा मानव-समाज को अनिवार्यतः और बलात् लिए जा रही है। मार्क्सवाद यह समझता है कि मनुस्य अपने प्रयत्न से ऐतिहासिक प्रवाह की गति को तीव्रता और वेग प्रदान कर सकता है, भविष्यत् को प्रभावित कर सकता है, और इस प्रकार समाज को उस बिन्दु तक शीघ्र पहुँचने में सहायता प्रदान कर सकता है जहाँ पहुँचना इतिहास ने निर्धारित कर दिया है। मार्क्सवाद उस दिशा की ओर संकेत करता है जिधर बहने का प्रयत्न करना इतिहास की गति के अनुकूल होगा। वह एक आयोजित पद्धति उपस्थित करता है जिसका अवलम्बन करने से मनुष्य उक्त प्रयत्न में सफलता प्राप्त क्कर सकता है। संक्षेप में मार्क्सवाद एक आदर्श की ओर संकेत करता है और वहाँ तक पहुँचने के लिए पथ का निर्धारण भी कर देता है।

रूसी राज्यक्रान्ति मार्क्सवाद के उसी आदर्श को सामने रख कर हुई थी। क्रान्ति के द्वारा लेनिन के समान मार्क्सवादी ने उस सारी पद्धति को कार्यान्वित करने का उपयुक्त अवसर प्राप्तकरना चाहा जिसके सफल प्रयोग में मार्क्सवादी आदर्श की उपलब्धि सम्भव थी। गत २५ वर्षों से रूसी-बोल्शेविक रूस में और रूस के द्वारा सारे जगत् में उसी पद्धति का प्रयोग करने की चेष्टा कर रहे हैं। आज हम यह देखना चाहते कि मार्क्सवाद जो आदर्श स्थापित करता है वह क्या है? उस आदर्श तक पहुँचने के लिये उसने जिस पद्धति के अवलम्लन का प्रतिपादन किया है वह क्या है और वह पद्धति लक्ष्य की पूर्ति में, सफलता प्रदान करने में समर्थ है अथवा नहीं? इन प्रश्नों की विवेचना उसी समय सम्भव है जब यह समझ लिया जाय कि मार्क्सवाद है क्या? फलतः उसकी संक्षेप रूपरेखा अंकित कर देना आवश्यक है।

मार्क्सवाद वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। समाजवादी विचारों के उदय और विकास का अपना अलग इतिहास है। उस इति-

ह्रास की विवेचना में पड़ने का स्थान यहाँ नहीं है पर इतना कह सकते हैं कि मार्क्स के पहले ही समाजवादी विचारों का उदय पश्चिमी यूरोप में हो गया था। समाजवाद पूँजीवाद का प्रतिवाद है। उसकी उत्पत्ति पूँजीवादी व्यवस्था की प्रति-क्रिया और प्रत्युत्तर के रूप में हुई है। फलतः आधुनिक पूँजीवाद का विकास जैसे-जैसे होता गया वैसे-वैसे किसी न किसी रूप में समाजवादी बिचारों का विस्तार भी फैलता गया। १९ वीं शती के प्रथम चरण में इङ्गलैंड और पश्चिमी यूरोप के देशों में यान्त्रिक उत्पादन की प्रणाली और उस पर स्थापित पूँजीवाद अपनी चरमावस्था की ओर तेजी के साथ बढ़ चला था। इस यान्त्रिक उत्पादन की पद्धति से सारा सामाजिक जीवन आपादमस्तक प्रभावित हो चला था। बड़े-बड़े कलकारखानों ने जहाँ एक ओर प्रचण्ड पूँजीपति वर्ग को जन्म प्रदान किया था वहीं गाँवों से निकल कर कारखानों में मजदूरी कर के लिये आकर्षित हुए विशाल मजदूर वर्गका प्रजनन भी कर दिया था। उत्पादन की महती-प्रक्रिया में यद्यपि मजदूरों का हाथ मुख्य था तथापि उनकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति सबसे अधिक दयनीय और घृणित थी। वे पीड़ित थे, शोषित थे और पशुओं की भांति जीवनयापन करने के लिए बाध्य किए जाते थे। और महिलाएँ बच्चे तक अत्यधिक समय तक काम करने के लिए बाध्य किए जाते थे। इतना परिश्रम करने पर भी मजदूरों को न पर्याप्त मजदूरी मिलती थी, न मजदूरों का कोई अधिकार था और नउनकी सुविधा और सुख की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता समझी जाती थी। सन् १८२५ ई० तक स्वयम् इङ्गलैण्ड में मजदूरों को अपना सङ्गठन तक करने का अधिकार नहीं था। कारखानों में और उन स्थानों में जिनमें मजदूर बसते थे स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक सुधार करने की छोटी से छोटी योजना का विरोध भी पूँजीपति वर्गों की ओर से होता था। पार्लमेन्ट के चुनाव में वोट देने का अधिकार भी मजदूरों को तबतक और उसके बहुत वर्षों बाद तक प्राप्त नहीं था।

ऐसी स्थिति में एक वर्ग में पूँजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना अनिवार्य था। इसी प्रतिक्रिया के गर्भ से समाजवादी विचारों का उदय हुआ। सन् १८३० ई० में "समाजवाद" शब्द का उच्चारण पहले पहल 'रावर्ट ओवन' नामक अँगरेज ने किया। 'ओवन' इंगलैण्ड के एक मिल-मालिक थे, जो मजदूरों की दयनीय स्थिति देखकर विकल हो उठे थे। 'ओवन' के विचार यह थे कि मजदूरों की सहयोग-समितियाँ स्थापित की जायँ और कल-कारखानों से होने वाले मुनाफे में उन्हें भी कुछ हिस्सा मिले। उन्होंने इंगलैण्ड में मजदूरों की सुविधा के लिए कुछ आन्दोलन भी किया जिसके फल-स्वरूप ब्रिटिश पार्लीमेन्ट को मजदूरों के हित में कुछ कानून भी बनाना पड़ा। इसी प्रकार जर्मनी फ्राँस आदि देशों में भी समाजवादी विचार फैल चले थे। जैसे-जैसे पूँजीवादी उद्योग-वाद फैला वैसे-वैसे मजदूरों की जमात भी बढ़ी और उनका कष्ट भी बढ़ा। परिमाणतः समाजवादी विचार फैले और उन विचारों से ऐसे लोग जिनके, हृदयों में मानवीय भावनाएँ थीं और जो विचारवान तथा बुद्धिशील थे, प्रभावित हुए। मार्के की बात यह थी कि समाजवादी विचारों का उदय और विकास तथा विस्तार पहले उन लोगों में हुआ जो उच्च वर्ग के थे, जो स्थापित व्यवस्था से लाभ उठाते थे और जिनके हित पूँजीवादी उद्योगवाद में समाविष्ट थे।

फलतः समाजवाद का रथ आगे बढ़ चला पर उसका कोई एक स्वरूप न था। ब्रिटिश समाजवादी अथवा जर्मनी और फ्रांस के समाजवादी पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न समस्या का हल उपस्थित कर रहे थे पर सब के उपचार की रूपरेखा एक ही न थी। इस बात में तो प्रायसभी सहमत थे कि सारे अनर्थ की जड़ वह व्यवस्था है जिसमें उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण कुछ के हाथों में व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में हो जाता है। इस बात में भी प्रायः सब एक मत थे कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करके उन्हें सरकार के नियन्त्रण में रहने देना एकमात्र हल हो सकता है वर्तमान समस्या का। स्थूलरूप से सिद्धान्तों

में इतनी एकता होते हुए भी विभिन्न देशों के समाजवादियों की दृष्टि और कार्य-पद्धति में भेद था। विभिन्न देशों की स्थिति भिन्न-भिन्न थी, आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न थीं फलत-विचार भी भिन्न-भिन्न थे। पर एक समय ऐसा आया जब समाजवाद ने मार्क्स के रूप में प्रतिभाशील, दूर-दर्शी, वैज्ञानिक और विचारक नेता पाया। मार्क्स ने हवाई और निराकार समाजवाद को ठोस आकार प्रदान किया। उन्होंने उसे भावुकता के क्षेत्र से निकाल कर वस्तुस्थिति, तर्क और वैज्ञानिक विवेचना के आधार पर स्थापित किया। उन्होंने उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए पद्धति प्रदान की और उस लक्ष्य-बिन्दु की स्थापना की जहाँ पहुँचना समाजवाद का उद्देश्य हो सकता था। उनका यह वैज्ञानिक समाजवाद इतना ठोस, प्रभावकर और तर्क-सम्मत था कि उसने सारे जगत् को प्रभावित किया। मार्क्स की विचारधारा ने मानव समाज के विचारों में वैसी ही क्रान्ति कर दी जैसी डार्विन के विकासवाद ने उपस्थित कर दी थी। तब से 'मार्क्सवाद' समाजवादी विचारों, कल्पनाओं और पद्धतियों, का आधार बन गया है। इसी मार्क्सवाद का व्यावहारिक प्रयोग रूस में आरम्भ हुआ।

मार्क्सवाद की पद्धति, उसके लक्ष्य और दृष्टि को समझने के लिये यह आवश्यक है कि उसके स्वरूप की संक्षिप्त रूपरेखा उपस्थित कर दी जाय। पूर्व के पृष्ठ में कह चुका हूँ कि 'मार्क्सवाद' जीवन और जगत्, समाज और इतिहास को देखने की एक दृष्टि है। उसका उद्भव यद्यपि 'पूँजीवाद' की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ तथापि मार्क्स की प्रतिभा ने उसे विशुद्ध तर्क और सुदृढ़ वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित रूप में जगत् के सामने उपस्थित किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि पूँजीवाद न कोई स्वयंभू, आकस्मिक घटना है और न व्यक्तियों अथवा वर्गों की बुरी करनी तथा उनके रोष का परिणाम है। उन्होंने यह दिखाया कि पूँजीवाद का उदय अनिवार्य और निश्चित घटना थी जो महती ऐतिहासिक प्रक्रिया के परिणाम के स्वरूप घटित हुई है। उसके

जिन दोषों अथवा विकारों की अनुभूति आज हम करते हैं उसके लिये वस्तुतः न कोई व्यक्ति उत्तरदायी है न कोई वर्ग। महान् ऐतिहासिक प्रवाह में व्यक्ति अथवा वर्ग का कोई महत्त्व नहीं है। वह तो निर्मित है परिस्थितियों से और इतिहास की प्रक्रिया से व्यक्ति अथवा समूह निमित्त बनकर ऐतिहासिक लक्ष्य की पूर्ति करने के लिये बाध्य है। फलतः जो होता है, या जो हो रहा है उसके लिए न कोई व्यक्ति या समूह दोषी है और न उत्पन्न समस्याओं का हल इस दृष्टि को सामने रखकर उचित प्रकार से उपस्थित किया जा सकता है। यदि हल ढूँढ़ना है तो इतिहास की गति का अध्ययन करना होगा और जहाँ वह प्रवाह जगत् को लिये जा रहा है उसे समझना होगा। उसी दशा में उस प्रवाह के अनुकूल मार्ग स्थिर किया जा सकेगा।

मार्क्स ने वैज्ञानिक की विशुद्ध दृष्टि से इतिहास का अध्ययन किया जिसके फलस्वरूप उनकी दृष्टि में इतिहास का निश्चित, निर्धारित और अविरल प्रवाह भास गया। उन्होंने देखा कि सदा से मानव-समाज का सारा सामाजिक भवन और व्यक्तिगत जीवन, उत्पादन के प्रकार के आधार पर निर्मित होता रहा है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये और जीवनयापन तथा जीवनरक्षा के लिये अति आरम्भिक काल से प्रकृति तथा सजात मनुष्य से सङ्घर्ष करता आया है। जिन पदार्थों की आवश्यकता का अनुभव वह करता है उनकी उपलब्धिके लिये सचेष्ट होना अनिवार्य होता है। उपलब्धि के लिये उसे तरह-तरह के उपाय करने पड़ते हैं। जीवन-रक्षा के लिये उसे पदार्थों का उत्पादन करना पड़ता है। इस प्रकार जिन साधनों और जिन उपायों से वह उत्पादन करता है और उत्पन्न पदार्थों का वितरण और उपभोग जिस ढंग से करता है उसी पर सदा सब युग में समाज सङ्घटित होता रहा है। समाज में मनुष्य का मनुष्य से, व्यक्ति का व्यक्ति से जो सम्बन्ध होता है वही सामाजिक जीवन की शृङ्खला होती है। पर यह पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित क्यों और कैसे होता है। मार्क्स के कथनानुसार उत्पा-

दन की प्रक्रियामें मनुष्य जैसे प्रकृति के सम्पर्क में आता है, उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करता है वैसे ही वह दूसरे मनुष्य के सम्पर्क में भी आता है और सम्बन्ध स्थापित करता है। उत्पन्न पदार्थों का उपभोग और वितरण करने में पारस्परिक सम्बन्ध होता है और इसी से सामाजिक जीवन निर्मित होता है।

मनुष्य जाति के सारे ऐतिहासिक युग में समय-समय पर जो भी समाज और सामाजिक व्यवस्था प्रस्तुत हुई वह सब आश्रित रही है इस बात पर कि कौन से पदार्थों की उत्पत्ति होती है, उत्पादन कैसे किया जाता है और उत्पन्न पदार्थों का विनिमय किस प्रकार होता है ? इस आर्थिक आधार पर ही समाज में साम्पत्तिक वितरण होता है, वर्गों का वर्गीकरण और भेद उत्पन्न होता है तथा सामाजिक विधान, कानून, रीति-रिवाज और अर्थनीति बन जाती है। मार्क्स के इस मत के अनुसार जब उत्पादन के प्रकार और विनिमय की प्रचलित पद्धति में अलक्ष्य रूप से परिवर्तन हो जाते हैं तो उनके आधार पर सङ्गठित सामाजिक व्यवस्था नई परिस्थिति के अनुकूल नहीं रह जाती। मानव समाज का इतिहास यह सिद्ध करता है कि उत्पादन के प्रकार और विनिमय की पद्धति में तो समय-समय पर आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता ही रहता है। एक समय था जब मनुष्य पशुपालन किया करता था और चारागाहों की खोज में घूमा करता था। समय आया जब उसे कृषि की कला ज्ञात हुई। उत्पादन की इन नई पद्धति ने महान् परिवर्तन किए। पर्यटक मानव स्थिर हुआ; गाँवों का निर्माण करना आवश्यक हुआ और ग्रामीण समाज की स्थापना हो चली। खेती के कारण मनुष्य को सम्पत्ति मिली, विश्राम मिला, उसकी जन-संख्या बढ़ चली, सामाजिक जीवन ने विशेष ढँग पकड़ा और धीरे-धीरे उसकी आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं। आवश्यकताओं की दृष्टि से उत्पादन के नए तरीकों का जन्म हुआ। वस्त्रादिक के निर्माण के लिये अथवा खेती करने के औजारों के लिये कारीगरों की उत्पत्ति हो गई और नए वर्ग

पैदा हुए। विनिमय की नई पद्धति भी पैदा हो गई सामानों की बिक्री खरीद के लिये हाट और हाट के आस-पास बसने से छोटे से छोटे कस्बों और नगरों का निर्माण हो चला। उत्पादन की इस पद्धति ने स्पष्टतः सामाजिक जीवन में गहरा परिवर्तन कर दिया। तात्पर्य यह कि उत्पादन पद्धति में परिवर्तन होता है, विनिमय का ढँग बदलता है और फलस्वरूप समाज के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है।

समाज के स्वरूप में हुए परिवर्तन के अनुकूल मनुष्य का मनुष्य से संबन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार आरम्भ से ही मनुष्य और पदार्थ का मौलिक संबन्ध तो रहता ही है मनुष्य का मनुष्य से संबन्ध भी उसी के द्वारा स्थापित हो जाता है। जब उत्पादन के प्रकार में परिवर्तन हो जाता है और समाज का स्वरूप बदल जाता है तो स्वभावतः वह सामाजिक संघटन, विधान और व्यवस्था जो पुराने सम्बन्धों पर स्थापित रहती है अनुपयोगी और निकम्मी हो जाती है। समाज इस प्रतिकूलता से पीड़ित होने लगता है। जो व्यवस्था मनुष्य को आज उचित और न्याय-सम्मत दिखाई देती थी वही कल अनुचित और अन्यायपूर्ण ज्ञात होने लगती है। धारणाओं के इस परिवर्तन के कारण समाज के संघटन में समय-समय पर परिवर्तन होते हैं। मार्क्स की दृष्टि में राजनीतिक और सामाजिक क्रान्तियों का मौलिक रहस्य यही है। उनका कारण न मनुष्य की बुद्धि है और न किसी सनातन सत्य और न्याय-भावना के प्रति उसकी आन्तरिक चेतना का प्रेम। उसका कारण अन्ततः उत्पादन और विनिमय की पद्धति तथा प्रकार में होनेवाला परिवर्तन होता है, जो युग-युग में आर्थिक संघटन का निर्माण करता रहा है। आर्थिक संघटन के आधार पर ही समाज स्थित होता है और उसका सांस्कृतिक जीवन हो अथवा नैतिक, धार्मिक धारणा हो अथवा राजनीतिक, तथा वैधानिक सङ्घटन हो या शासन-व्यवस्था सब परिणाम और प्रतिच्छाया है उस आर्थिक संघटन का जिस पर तत्कालीन समाज स्थित रहता है।

इतिहास के स्वरूप का अध्ययन करते हुए मार्क्स एक और परिणाम पर पहुँचते हैं। उनका कथन है कि "सारे मानव समाज का इतिहास चाहे वह अतीत का हो या आधुनिक वर्ग-संघर्ष का, वह एक है।" इतिहास के आरम्भिक सूत्र का पता जब से लगता है तब से समाज का वर्ग-भेद-मूलक स्वरूप असंदिग्ध रूप से स्पष्ट है। समाज सदा विरोधी वर्गों में विभक्त रहा है और मनुष्य मनुष्य का शोषण करता रहा है। उत्पादन के लिये समाज में कुछ लोग ऐसे हो जाते हैं जो उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण करते हैं और पदार्थ के निर्माण के लिये आवश्यक कच्चे माल के स्वामी हो जाते हैं। दूसरे लोग यह होते है जो स्वामित्व के अधिकार से वंचित रहते हैं। पर जिन लोगों को यह स्वामित्व प्राप्त नहीं होता वे भी उत्पादन की क्रिया से संबद्ध रहते हैं। जो वर्ग उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण करता है और जो कच्चे माल का स्वामी होता है वह दूसरों के काम का उपयोग और शोषण करने में समर्थ हो जाता है। मार्क्स ने इस ऐतिहासिक तथ्य की विवेचना समाज-विकास के अति आरम्भिक युग से की है। एक समय था जब मानव समाज में गुलामी की प्रथा थी। एक वर्ग दासों का था और दूसरे उनके स्वामी थे। दासों के प्रभु अपने दासों के ही स्वामी न थे वरन् उस कच्चे माल के भी मालिक थे जो सम्पत्ति का उद्गम था। सम्पत्ति के अधिकारी होने के कारण समाज के सारे आर्थिक और राजनीतिक अधिकार के मूल सूत्रधार भी थे। उत्पादक दासों के श्रम और उनके शोषण पर यह वर्ग स्थित था। सामंतवादी युग में भी दासों की प्रथा यद्यपि न थी तथापि व्यापक उत्पादक जनवर्ग अधिकार-वंचित था। सामंत वर्ग ही उत्पादन के साधनों और सम्पत्ति का अधिकारी होने के कारण सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों का भी स्वामी था जो दूसरों के उत्पादन और श्रम का उपभोग करने में समर्थ था।

पूँजीवादी युग भी आया जिसमें शोषक और शोषित के सम्बन्ध

वैसे ही हैं यद्यपि शोषण की पद्धति परिवर्तित हो गयी है। एक वर्ग प्राकृतिक सम्पत्ति का अधिकारी है जो शोषित वर्ग को कच्चे माल का उपयोग करने की अनुमति दे देता है। पर इसके एवज में 'अतिरिक्त मूल्य' के रूप में दोहरा दोहन करता है। मजदूर अपने श्रम के लिये उतना ही वेतन पाता है जितना उसके जीवन को बनाए रखने के लिये अनिवार्यतः आवश्यक होता है। उसके सिवा उसकी कमाई का काफी अंश तथा उसके वेतन का भी एक भाग पूँजीपति की जेब में ही वापस लौट जाता है। "किराया सूद और मुनाफे" के रूप में पूँजीपति जिस 'अतिरिक्त मूल्य' की प्राप्ति करता है वह आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था के शोषण का अभिनव और जटिल प्रकार है। उत्पादन के साधनों का जो मालिक है और जो प्राकृतिक सम्पत्ति का स्वामी है वह जन समाज को उत्पादन के साधनों और कच्चे माल का उपयोग उत्पादन के लिये करने की अनुमति केवल इसलिये प्रदान करता है कि वह 'अतिरिक्त मूल्य' के रूप में दोहन करने में समर्थ हो। मार्क्स कहते हैं कि यद्यपि उत्पादन की पद्धति में परिवर्तन होने के फलस्वरूप समाज का स्वरूप समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है तथापि शोषक और शोषित का वर्गभेद परिवर्तित रूप में सदा विद्यमान रहा है और आज भी उपस्थित है। आर्थिक संघटन में हुए परिवर्तन के फलस्वरूप समाज की नैतिक, वैधानिक तथा राजनीतिक पद्धतियों में, जीवन के प्रति उसकी सारी दृष्टि में, परिवर्तन हो जाता है क्योंकि वह स्वतः आर्थिक संघटन की प्रतिच्छाया के सिवा कुछ नहीं है।

जो वर्ग प्रभु होता है सम्पत्ति का, वह सारे अधिकारों का उपभोक्ता भी हो जाता है और सारी चेष्टा इसी बात की करता है कि उसकी व्यवस्था स्थिर बनी रहे। उस व्यवस्था को बल तथा जीवन प्रदान करने के लिये तत्कालीन समाज का सारा राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक विधिविधान उपयुक्त होने लगता है। मार्क्स की दृष्टि में उचित् अनुचित, सत्य-असत्य, न्याय अन्याय, नैतिक

अनैतिक तथा सुन्दर असुन्दर की स्वतंत्र तथा नितान्त सत्ता ही नहीं। तत्संबन्धी सारी धारणा और कल्पना निर्धारित होती है तत्कालीन आर्थिक संघटन से। उस संघटन का औचित्य यदि ग्राह्य है तो उसी की रक्षा के लिए समस्त विधि-विधानों और भावों का सर्जन होता है और वे ही उस समय सत्य, सुन्दर कल्याणमय तथा नैतिक हो जाते हैं। स्वयं राजसत्ता, जिस पर स्वभावतः प्रभुवर्गों का अधिकार होता है, वर्गहित का सम्पादन करने वाली एजेन्सी मात्र रहती है जो वर्गहित में ही सारे समाज का संचालन करती है। समाज के संघटन, उसकी व्यवस्था, उसके स्वरूप, जीवन संबन्धी उसकी दृष्टि के विषय में मार्क्स की यही विवेचना है। यही कारण है कि वे न्याय तथा औचित्य और सत्य के नाम पर मानव हृदय से अपील करना अथवा स्थिति और अवस्था विशेष के लिए उसे दोषी ठहराना व्यर्थ समझते हैं। वे नहीं मानते कि मनुष्य की चेतना कोई स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। वे स्वीकार करते हैं कि नैतिक कल्पनाओं की सत्ता भी स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि मनुष्य और उसका व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन केवल प्रतिविम्ब है आर्थिक व्यवस्था से सम्भूत उस परिस्थिति का जिसका निर्माण उत्पादन और विनियम के साधन तथा पद्धतियों के आधार पर होता है।

इस प्रकार मानव समाज के इतिहास में मार्क्स जहाँ यह देखते हैं कि उत्पादन की पद्धति और उसके साधनों पर स्थित आर्थिक संघटन के आधार पर ही सामाजिक भवन निर्मित होता है और उत्पादन की पद्धति तथा साधनों में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप समाज की रूपरेखा परिवर्तित होती रहती है वहीं वह यह भी देखते हैं कि मानव समाज का सारा इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है जिसमें एक वर्ग जो उत्पत्ति के साधनों का स्वामी होता है दूसरे तमाम वर्गों का शोषण करता है और अपनी व्यवस्था को स्थिर बनाए रखने की चेष्टा किया करता है। पर क्या उसकी यह चेष्टा सफल होती है? क्या इस चेष्टा और शोषण तथा संघर्ष के लिए प्रभुवर्ग उत्तरदायी नहीं है? मार्क्स

की दृष्टि में प्रभुवर्ग की उपर्युक्त चेष्टा न सफल होती है और न वह उस चेष्टा के लिये दोषी अथवा उत्तरदायी ही है। मार्क्स की कल्पना में इतिहास स्थिर और जड़ वस्तु नहीं है। वह गतिशील, क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाला महान् प्रवाह है जो अनिवार्यतः अपने पथ पर, प्रगति और विकास की ओर, बढ़ता चला जा रहा है। एक सामाजिक व्यवस्था उद्भूत होती है, निश्चित बिन्दु तक पहुँचती है, तदनन्तर अपनी उपयोगिता समाप्त करके निकम्मी हो जाती है, परिस्थिति और आवश्यकता के प्रतिकूल हो जाती है तथा अन्ततः लुप्त होकर नयी व्यवस्था को स्थान प्रदान कर जाती है। यह प्रवाह अविरल, अबाध, अनियन्त्रित और अनिवार्य है जिसमें जीवन बहता चला जा रहा है। व्यक्ति अथवा वर्ग जो करता है वह करने के लिए बाध्य है क्योंकि प्रवाह उससे वही कराता है। फलतः कोई यदि शोषण करता है और अपनी व्यवस्था को स्थिर बनाए रखने की चेष्टा करता है तो उसमें उसकी भली-बुरी नीयत का प्रश्न नहीं उठता। ऐतिहासिक-नियति उससे वही कराती है।

पर जहाँ वह वही चेष्टा करने के लिये बाध्य है वहीं उसकी असफलता भी अनिवार्य और पूर्व-निर्धारित है। मार्क्स के मतानुसार समाज विकासशील सत्ता है और इतिहास है गतिशील तथा परिवर्तन है उसका स्वभाव। जो है, उसका समय आने पर बदल जाना ऐतिहासिक नियति है जो कभी टल नहीं सकता। फलतः स्थापित व्यवस्था भी परिवर्तित होगी। परिवर्तन की यह प्रक्रिया वस्तुतः ऐतिहासिक प्रक्रिया है जो अपने ढँग से चरितार्थ होती है। मार्क्स कहते हैं कि इतिहास के किसी युग में जो भी समाज रहा है वह अपने गर्भ में अपना विरोधी तत्त्व लिए हुए अविर्भूत हुआ है। जैसे-जैसे वह समाज विकसित होता जाता है वैसे-वैसे उसके उदर में उपस्थित उसका नैसर्गिक वैपरीत्य भी विकास को प्राप्त होता है। जिस क्षण स्थापित समाज अपनी उन्नति के चरम-बिन्दु पर पहुँचा दिखाई देता है उसी समय से उसका विरोधी-तत्त्व उस पर विजय-लाभ करता भी दिखाई देगा। वास्तव में अपनी सफलता से

युग-विशेष का समाज अपने विरोधी तत्त्व के लिये मार्ग प्रशस्त कर देता है। जो बातें और परिस्थितियाँ वर्ग विशेष को सुविधा प्रदान कर देती हैं, जो उसे प्रमुखता और प्रभुता दे देती हैं, जो तत्कालीन समाज को जन्म प्रदान करती हैं वे ही उसके विरुद्ध विरोधी वृत्तियों और तत्त्वों का भी प्रजनन कर देती हैं।

परिणामतः इन दोनों परस्पर विरोधी तत्त्वों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है और जिस समय स्थापित व्यवस्था परम विकास को प्राप्त होती है उसी समय प्रतिकूल परिस्थितियाँ और विरोधी शक्तियाँ भी प्रबल रूप में उपस्थित हो जाती हैं। दोनों का संघर्ष गम्भीर हो उठता है और विरोधी तत्त्व अन्ततः विजयी होता है। पुराना सङ्गटन उध्वस्त होगा और नये के लिए स्थान रिक्त कर देगा। परिवर्तन की, क्रान्ति की प्रक्रिया इसी प्रकार परिचालित होती है और इतिहास समाज को विकास की ओर लिये बढ़ा चला जाता है। उत्पादन की एक पद्धति थी जिसके आधार पर वह समाज स्थापित हुआ था जिसमें दास प्रथा प्रचलित थी। समय आया जब उसका स्थान सामन्तवादी समाज ने ग्रहण किया जिसके लिये पुराने समाज ने मार्ग प्रशस्त कर दिया था। सामन्तवादी समाज उत्पादन की जिस पद्धति पर अवलम्बित था उसका विकास होता गया, उसमें परिवर्तन हुआ, नयी परिस्थितियाँ उद्भूत हुईं और सामन्तवाद ने पूँजीवाद को स्थान प्रदान कर दिया। आज पूँजीवादी समाज स्थापित है पर अपने विकास के साथ-साथ उन परिस्थितियों और शक्तियों का प्रजनन करता जा रहा है जिनका विरोध निसर्गतः स्पष्ट है। इस वैपरीत्य के द्वारा पूँजीवाद का विनाश अवश्यम्भावी और अनिवार्य है। है। अनिवार्य है इसलिये कि यह महती ऐतिहासिक प्रक्रिया की नियति है।

तात्पर्य यह कि मार्क्स की कल्पना में समाज विकसिक होता है, और विकास की यह प्रक्रिया चरितार्थ होती है, समाज के उदर में उप-

स्थित उन निसर्गतः विरोधी शक्तियों के संघर्ष से जिनका प्रजनन वह स्वतः कर देता है। इसी को मार्क्स इतिहास की 'गतिशील द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया' (डाइलेक्टिकल प्रोसेस) कहते हैं। 'गतिशील द्वन्द्ववाद' (डाइ-लेक्टिकल) के सिद्धान्त के आधार पर ही मार्क्स का सारा दृष्टिकोण और दर्शन आश्रित है। वैज्ञानिक समाजवाद की भाषा में उसे ही "डाइलेक्टिक्स" कहते हैं। संक्षेप में इसका अर्थ यही है कि जगत् में जो भी सत्ता है उसमें उसका विरोधी तत्त्व सन्निहित है। ये दोनों परस्पर निरंतर संघर्षरत रहते हैं। इस संघर्ष के फलस्वरूप तीसरी स्थिति उत्पन्न होती है। उस स्थिति में उन दोनों विरोधी वृत्तियों का समावेश तो रहता ही है पर वह उनका अतिक्रमण भी कर जाती है। प्रकृति के इसी धर्म का परिणाम जगत् की गतिशीलता है। "डाइलेक्टिक्स" का यह सिद्धान्त और पदार्थों को इस प्रकार देखने के सिद्धान्त की स्थापना पहले प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् 'हेगेल' ने की थी। उनका कहना था कि विचार हो या पदार्थ, जगत् में सभी वस्तुओं का विकास दो विरोधी वृत्तियों के घर्षण से ही होता है। किस प्रकार कोई वस्तु स्वरूप-ग्रहण करती है, किस प्रकार उसका विकास होता तथा किस प्रकार हम उसके सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करते हैं आदि बातों की व्याख्या 'हेगेल' उपर्युक्त "डाइलेक्टि-कल" पद्धति से कहते हैं। हेगेल का कहना यह भी था कि इस "द्वन्द्वा-त्मक प्रक्रिया" के पीछे जो प्रेरणात्मिका शक्ति है वह कोई भौतिक पदार्थ नहीं प्रत्युत अमूर्त भावना है जिसे वे 'आइडिया' कहते हैं।

मार्क्स ने "द्वन्द्ववाद के इस सिद्धान्त को यद्यपि ग्रहण किया पर यह स्वीकार नहीं किया कि द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के पीछे किसी चेतन शक्ति की प्रेरणा काम करती है। वे भौतिक जगत् को ही प्राधान्य देते हैं। भौतिक जगत् में घटने वाली घटनायें सर्वोपरि और स्वतन्त्र हैं। उन घटनाओं का कारण भी भौतिक है और उनसे उत्पन्न परिस्थितियाँ भी भौतिक हैं। प्रकृति में गतिशीलता है जो स्वभावतः द्वन्द्वात्मक है और विरोधी तत्त्वों के संघष के द्वारा ही वह प्रक्रिया परिचालित है। मार्क्स

के विचार से मनुष्य की चेतना अथवा उसका मस्तिष्क स्वयम् ही प्रतिच्छाया है उन परिस्थितियों की जिनसे मनुष्य आवेष्टित है। मनुष्य के विचारों का स्रोत भौतिक परिस्थितियों और घटनाओं में बाहर भौतिक जगत् में घटती रहती हैं मनुष्य के विचारों का प्रजनन और निर्धारण करती हैं। सारी ऐतिहासिक गति और प्रक्रिया परिणाम है द्वन्द्वात्मक भौतिक गति-शीलता का। मनुष्य का मस्तिष्क यद्यपि अंग है उस ऐतिहासिक प्रक्रिया का पर यह समझना गलत है कि मनुष्य की चेतना इतिहास के मार्ग का निर्धारण करती है। मार्क्स की दृष्टि में उसका निर्धारण करती हैं भौगोलिक परिस्थितियाँ, कच्चे माल की उपलब्धि, पदार्थों के उत्पादन के साधन तथा पद्धति आदि।

इसी दार्शनिक दृष्टि को ग्रहण करके उन्होंने सारे मानव समाज के इतिहास की विवेचना की। इसी के प्रकाश में वे अतीत और वर्तमान पर दृष्टिपात करते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं इसी दृष्टिकोण से वे मनुष्य के कार्य की विवेचना करते हैं। वर्तमान पर दृष्टिपात करते हुए वे इस परिणाम पर पहूँचते हैं कि पूँजीवाद स्वमम् ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है और उसी प्रक्रिया के फलस्वरूप उसका विनाश भी अनिवार्य है। विनाश की यह क्रिया उसी वर्ग द्वारा सम्पादित होगी जो आज शोषित है और जिसका प्रजनन स्वयम् पूँजीवाद ने किया है। पूँजीवादी समाज का यह परिवर्तन जब होगा तब हिंसात्मक पद्धति के द्वारा होगा। कारण यह है कि समाज के आर्थिक संघटन के आधर पर जिस राजनीतिक, वैधानिक, तथा नैतिक व्यवस्थाओं की स्थापना होती है। वे समय पाकर स्वयम् बल-सञ्चय कर लेती हैं। उनका अपना जीवन हो जाता है जिसकी रक्षा करने में वे अपने आर्थिक संघटन के विघटित होते हुए भी कुछ दिनों के लिये बनाए रखने में समर्थ होती हैं। राजनीतिक व्यवस्था एक शासक वर्ग का सर्जन कर देती है। इस वर्ग का स्वार्थ और हित इस बात में स्थिर हो जाता है कि वह प्रचलित पद्धति

को बनाए रखे। फलतः वह अपनी सारी शक्ति का उपयोग उसकी रक्षा में करने लगती है।

उत्पादन के साधन में यद्यपि क्रमशः परिवर्तन होता रहता है, उत्पादन की प्रणाली बदलती चलती है, मनुष्य का मनुष्य से संबन्ध भी परिवर्तित होता रहता है, नयी परिस्थित उत्पन्न होती रहती है और समाज का स्वरूप भी बदलता रहता है फिर भी शासनसत्ता अपने बल से अपने स्वरूप को अपरिवर्तित बनाए रखने की चेष्टा करती रहती है। एक ओर परिवर्तन की गति को रोकने की जितनी ही चेष्टा होती है उतनी ही बलवती प्रक्रिया दूसरी ओर होती है। फलतः अपेक्षित राजनीतिक परिवर्तन और सामाजिक क्रान्ति जब होती है तब हिंसात्मक ही होती है। मार्क्स के मत से पूँजीवादी समाज का विनाश यदि ऐतिहासिक नियति है तो उसे पूर्ण करने का भार मजदूर वर्ग पर इतिहास द्वारा ही डाला जा चुका है। वे मानते हैं कि मनुष्य अनेप प्रयत्न से ऐतिहासिक लक्ष्य की पूर्ति कर सकता है, उसकी गति को तीव्र बना सकता है। यदि इतिहास की माँग है कि आधुनिक व्यवस्था ढह जाय तो इस माँग की पूर्ति हुए बिना जगत् के विकास की गति कुण्टित रहेगी उसके फलस्वरूप अशान्ति और अकल्याण का सर्जन होता रहेगा। मजदूरवर्ग अपने प्रयत्न से ऐतिहासिक धारा का मार्ग प्रशस्त करके समाज के विकास का पथ निर्विघ्न कर सकता है। उसी स्थिति में आज के शोषण और दलन तथा हिंसा और रक्तपात का लोप हो सकेगा।

यही है आधुनिक स्थिति की ओर मार्क्सवाद की दृष्टि पर। मार्क्स इससे और आगे बढ़ते हैं। वे इतिहास की गति को देखते हुए समाज के सम्मुख एक आदर्श की स्थापना भी करते हैं और आदर्श तक पहुँचने के लिये तथा इतिहास की माँग को पूरा करने के लिये एक पद्धति भी उपस्थित करते हैं। वे देखते हैं कि जो वर्ग उत्पादन के साधन, उसकी प्रणाली तथा उपार्जित सम्पत्ति का अधिकारी रहा है वह शासन-सत्ता तथा सामाजिक व्यवस्था का साङ्गोपाङ्ग सूत्र अपने हाथों में रख कर

वर्गहित का साधन करने में समर्थ हुआ है। इतिहास के अनेक युगों में क्रान्तियाँ हुई हैं पर वे भी किसी रूप में वर्ग-विशेष की सत्ता मिटाकर दूसरे वर्ग की सत्ता स्थापित करने का कारण हुई हैं। फलतः शोषण और दलन का उन्मूलन न हो सका। मार्क्सवाद यह कल्पना करता है कि शोषण और दलन को सदा के लिये मिटा देने का मार्ग एक ही हो सकता है और वह यह है कि समाज से वर्गभेद सदा के लिये मिटा दिया जाय। फलतः वह जिस जन-क्रान्ति की कल्पना करता है उसके सामने वर्गहीन समाज की स्थापना का आदर्श उपस्थित करता है। समाज से वर्गभेद मिट जाय तो वर्गहित भी लुप्त होगा। और होगा उस संघर्ष का तिरोभाव भी हो जायगा जो उक्त हित के संपादन के लिये सतत होता रहता है। वर्गहीन समाज की स्थापता हो जाने पर शासन-सत्ता की भी आवश्यकता न रह जायेगी और क्रमशः उसका विसर्जन भी हो जायगा।

वही स्थिति होगी, जब मानव समाज पूर्णतः स्वतंत्र होगा और हिंसा तथा निर्दलन समाप्त होगा। यही है आदर्श जिसे मार्क्सवाद जगत् के संमुख उपस्थित कर रहा है। उसकी यह उज्ज्वल और हृदयाकर्षक कल्पना आधुनिक जगत् के करोड़ों नर-नारियों के लिए पावन और महान् आदर्श का रूप ग्रहण कर चुकी है। करोड़ों उसके प्रकाश में जीवन का पथ ढूँढ़ते हैं और आदर्श की उपलब्धि के लिए सर्वस्व की आहुति कर देने को तय्यार रहते हैं। वस्तुतः मनुष्यता का दावा करने वाला कौन ऐसा प्राणी होगा जो इस आदर्श की मोहकता से अभिभूत न होता हो। यह आदर्श निस्संदेह ग्राह्य है पर आज हमारे सामने प्रश्न आदर्शका नहीं है। प्रश्न यह है कि आदर्श तक ले जाने वाला पथ क्या है। मार्क्सवाद अपने ढंगसे उस पथका निर्धारण भी करता है। मार्क्सके मतसे जगत्का मजदूर-वर्ग वह ऐतिहासिक निमित्त है जिसके द्वारा पूँजीवादके विलोप का ऐतिहासिक लक्ष्य पूरा होगा। मार्क्स उक्त ऐतिहासिक लक्ष्य तथा अपने आदर्श की पूर्ति के लिए मजदूर समाज द्वारा जगत् व्यापिनी हिंसात्मिका

जनक्रान्ति की कल्पना करते हैं। मार्क्सवाद अपने विद्रोह की सीमा को किसी एक देश या राष्ट्र तक परिमित नहीं रखता। राष्ट्रीयता, जाति, रक्त अथवा किसी देश की भौगोलिक सीमा में संसार को बाँटना उसे अभीष्ट नहीं है। वह समस्त मानव-समाज को शोषक और शोषित के दो वर्गों में बाँटता है और चाहता है कि जगत् की समस्त दलित शक्तियाँ विद्रोह करके शोषकों की सत्ता मिटा दें तथा वर्गहीन समाज की स्थापना कर दें।

पद्धति यह है कि हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा मजदूर समाज शासन-सत्ता पर अधिकार करके समाज का सूत्रधार बन जाय। शासन यन्त्र को अपनी मुट्ठी में कर लेने के बाद उत्पादन-विनिमय और वितरण के समस्त साधनों को बलपूर्वक पूँजीवादी वर्ग के हाथ से छीन कर अपने अधीन कर ले और व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था को मिटा दे। जब राजनीतिक और आर्थिक संघटन का सारा ढाँचा मजदूरवर्ग के हाथ में आ जाय तो शस्त्र के द्वारा समस्त विरोधी वर्गों का उन्मूलन करते हुए समाज में एक ही वर्ग की स्थापना का प्रयत्न किया जाय। जब तक वह स्थिति पूर्णरूप से उत्पन्न नहीं हो जाती और दूसरे वर्ग समाप्त नहीं हो जाते तब तक मजदूर समाज की निरंकुश अधिनायक सत्ता सारी शक्ति को अपने हाथों में रख कर समाज का सञ्चालन करती चले। मार्क्सवाद स्वीकार करता है कि शासन-शक्ति को अधिकृत करने तथा वर्गहीन समाज की स्थापना हो जाने के बीच में जो समय बीतेगा उसकी अवधि लम्बी होगी। उत्पादन के साधन तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति को पूँजीवादी वर्ग से छीन लेना एक बात है पर समाज के वर्गभेद को मिटाकर उसे वर्गहीन बना डालना बिल्कुल दूसरी चीज है। एक तत्काल हो जा सकता है पर दूसरे के लिए दशकों का प्रयास आवश्यक हो जा सकता है। जिस वर्ग को अधिकार-वञ्चित किया जायगा वह दम रहते क्रान्ति मटिया-मेट करके पुनः अपने स्वत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करता रहेगा। फलतः क्रान्तिकारी परिवर्तन-काल की अवधि का लम्बा हो जाना आवश्यक और अनिवार्य है।

इस काल में एकमात्र मजदूर वर्ग की सरकार स्थापित कर रखनी होगी। यह सरकार विशुद्ध अधिनायकवादिनी होगी जिसके अधिकार निरंकुश होंगे। क्रान्ति को अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाने के लिये जो भी आवश्यक और सम्भव हो उसे करने का पूरा अधिकार उसे होना चाहिए। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की गुञ्जाइश न रहेगी, आधुनिक लोक-तन्त्रवादी कल्पना और विधि-विधान को स्थान न रहेगा। शक्ति और शस्त्र के सहारे सरकार को शासन चलाना होगा तथा विरोधियों का सम्पूर्ण दलन करने की आवश्यकता पड़ेगी। सरकार मजदूरों की ही होगी, किसी दूसरे के लिए उसमें स्थान न रहेगा और सारी शक्ति का केन्द्रीकरण वर्गमूलक सरकार के हाथों में करना होगा। यद्यपि मज-दूरवर्ग की अधिनायक-सत्ता लोकतन्त्र की कल्पना के विरुद्ध है पर मार्क्स यह मानते हैं कि सच्चा लोकतंत्र तो उसी समय स्थापित होगा जब समाज से वर्गभेद मिट जायगा। आज का लोकतंत्र विशुद्ध ढोंग है जो वास्तव में पूँजीवादी वर्ग की ही सरकार के रूप में प्रचलित है। सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिये ही तो मजदूरक्रान्ति की स्थापना की गई है। यदि अधिनायक-सत्ता स्थापित करके एक वर्ग का क्रूर दलन करना पड़ता है, यदि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवादी विधि को मिटा देना पड़ता है, यदि नयी सरकार को वर्गमूलक आधार पर स्थापित करना पड़ता है तो यह सब इसी लिए किया जाता है कि भविष्यत् में सच्ची जन-स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का उदय हो सके। फलतः मार्क्स-वाद की दृष्टि में परिवर्तनकाल में स्थायी रूप से मजदूर अधिनायक-सत्ता की स्थापना एकमात्र पथ है जिसके द्वारा क्रान्ति का लक्ष्य पूरा किया जा सकता है। जिस दिन क्रान्ति का वह लक्ष्य पूरा हो जायगा, अर्थात् समाज से वर्गभेद मिट जायगा उस दिन यह सरकार स्वमेव विघटित और विलुप्त हो जायगी।

संक्षेप में मार्क्सवादी यह विश्वास करता है कि मानव-समाज और सभ्यता का कल्याण, उसकी रक्षा तथा उन्नति का एकमात्र उपाय मार्क्स

का वैज्ञानिक समाजवाद ही उपस्थित करता है। पूँजीवाद का विनाश करके वर्गहीन समाज की स्थापना किए बिना मानवता की रक्षा असंभव है। जब तक यह नहीं होता तब तक संसार युद्ध और हिंसा, अभाव तथा दोहन का शिकार होता रहेगा। यह स्थिति मनुष्य समाज को क्रमशः पतन तथा क्षय की ओर बढ़ाती रहेगी। यदि धरातल को इससे बचाना है तो मार्क्स की पद्धति का अवलम्बन करके वर्गहीन जगत् की रचना करनी पड़ेगी। तभी सच्चे लोकतन्त्र का उदय हो सकेगा और मनुष्य-समाज जाति, रक्त, वर्ग तथा भौगोलिक सीमा की कल्पनाओं से निकल कर यथार्थतः अन्तर्राष्ट्रीय बन सकेगा। मनुष्य समाज सम-अधिकारी तथा स्वतन्त्र प्राणियों का समूह होगा, सारा जगत् विशाल परिवार के रूप में हो जायगा तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य का दलन और दोहन मिटेगा। मानव प्राणी सुखी होगा।

मार्क्सवादी की दार्शनिक दृष्टि, उसकी इतिहास-विषयक व्याख्या, उसके आदर्श और उनकी पद्धति की ओर संकेत किया जा चुका। लेखक मार्क्सवाद की सांगोपांग विवेचना करने नहीं बैठा है। यह इस ग्रन्थ का विषय नहीं है न उसके लिये यहाँ पर्याप्त स्थान ही है। मार्क्सवाद की दृष्टि और सिद्धान्तों की टीका तथा उसके गुणदोष के प्रदर्शन के लिए ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। पर स्थूलरूप से यह कहा जा सकता है कि मार्क्स के दार्शनिक सिद्धान्त पर १९ वीं शती के वैज्ञानिक विचारों की गहरी छाप है। यही कारण है कि भौनिकवाद उनके दर्शन का आधार बन गया। तत्कालीन भौतिक-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान तथा मनोविज्ञान सृष्टि के मूल में जड़पार्थिव शक्ति के सिवा दूसरा तत्व न देख सका था। मार्क्स उन्हीं विचारों से प्रभावित हुए थे फलतः उनकी दार्शनिक विचार-धारा उस सीमा का उल्लंघन न कर सकी। पर आज विज्ञान का क्षेत्र स्वतः विस्तृत होने लगा लगा है। वह उस क्षेत्र में पहुँचने लगा है जहाँ से दर्शन की सीमा आरम्भ होती है। आज का विज्ञान विशुद्ध भौतिक-वाद के सम्बन्ध में स्वयम् सशंक होने लगा है और गत शताब्दी की

उसकी धारणाएँ बदलती सी दिखाई देने लगी हैं। फलतः उन धारणाओं के आधार पर आश्रित विचारों की प्रौढ़ता स्वीकार नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार इतिहास की गति के सम्बन्ध में एक मात्र आर्थिक कारणों को देखना भी एकांगी दृष्टि ग्रहण करना है। समाज के विकास में आर्थिक कारण प्रमुख रहे हैं इसे स्वीकार करना ही होगा पर यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इतिहास की गति का निर्धारण करने में उसके सिवा और भी न जाने कितने दूसरे कारण उपस्थित होते रहे हैं। किसी जर्जर रोगी का शरीर अथवा किसी शव का दर्शन सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण का कारण हुआ और उस घटना ने इतिहास की धारा को शताब्दियों के लिए प्रभावित कर दिया। कौन कह सकता है कि उस घटना के मूल में आर्थिक कारण ही मुख्य रहा है? इतिहास के कष्टों से एक नहीं सैकड़ों ऐसी घटनाओं को उपस्थित किया जा सकता है जिनके कारण इतिहास की धारा बदल गयी है। उन सब के मूल में आर्थिक कारण ढूँढ़ने की चेष्टा करना हठधर्मी का परिचय देना होगा। जीवन इतना सरल और सीधा दिखाई नहीं देता कि उसकी व्यवस्था केवल आर्थिक दृष्टि से की जा सके। न जाने कितने भौतिक और अभौतिक तत्वों के समावेश से उनका सञ्चालन होता है। पर इन तमाम दार्शनिक प्रपञ्चों में पड़ने की आवश्यकता यहाँ प्रतीत नहीं होती। मार्क्सवाद की जैसी दृष्टि है उसे उसी रूप में छोड़कर तथा उससे सहमत या असहमत होने के झगड़े में न पड़कर भी इतना स्वीकार किया जा सकता है कि उसने मानव समाज के लिये जिस आदर्श का प्रतिपादन किया है वह पवित्र और महान् है। विवेचना करनी है उस पद्धति की जिसके द्वारा मार्क्सवाद अपने आदर्श की प्राप्ति करने की आशा करता है।

सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा शासनयंत्र पर अधिकार स्थापित करना और मजदूरवर्ग की अधिनायक सत्ता को प्रतिष्ठित करके व्यक्तिगत सम्पत्ति का समाजीकरण कर डालना तथा शक्तिपूर्वक पूँजीवादी वर्ग को मिटा कर वर्गहीन समाज की स्थापना करना उसकी पद्धति है। वह कहता है कि

समाज जैसे-जैसे शासनशक्ति का निरंकुश अधिकार क्षीण होता जायगा वैसे-वैसे समाज वर्गहीनता की ओर अग्रसर होता जायगा और अन्तिम स्थिति उत्पन्न होने पर वर्गों का सर्वथा लोप हो जायगा। रूस में इसी पद्धति का प्रयोग हुआ। प्रश्न यह उठता है कि क्या रूस का प्रयोग सफल हुआ या उसके सफल होने की आशा है। सारे जगत् की बात तो छोड़ दीजिए पर क्या वह प्रयोग स्वयम् रूस को भी वर्ग-हीनता, जन-स्वतन्त्रता और अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर बढ़ाने में समर्थ हुआ? रूसी क्रान्ति के बाद शासनशक्ति पर मजदूर वर्ग ने अधिकार स्थापित किया। क्रान्तिकारी सरकार ने अधिनायक सत्ता का रूप धारण कर डाला। रूस की कम्युनिस्ट पार्टी मजदूरों का प्रतिनिधि होने का दावा करते हुए सारे अधिकारों की सूत्रधारिणी हो गयी, व्यक्तिगत सम्पत्ति मिटा दी गई, विरोधी वर्गों का तीव्र दमन किया गया। व्यक्ति-गत स्वतंत्रता पीस डाली गई, जन जीवन के अंग-प्रत्यंग का संचालन सरकार के संकेतों पर किया जाने लगा, मिलने-जुलने, भाषण करने और विचार करने की स्वतंत्रता का अपहरण भी कर डाला गया।

पशुबल और निरंकुशता का जैसा प्रचण्ड प्रदर्शन रूस में हुआ वैसा कदाचित् ही कहीं हुआ होगा। पुँजीभूत शक्ति और केन्द्रीभूत अधिकारोंसे सम्पन्न होकर रूस की सरकार अपनी अक्षुण्णता, निरंकुशता और प्रभुता में जगत् की किसी भी 'टोटेलेटेरियन' सरकार से रत्ती भर कम नहीं है। गत २५ वर्षों से रूस की यही स्थिति है। इन वर्षों में सोवियट सरकार ने बहुत कुछ ऐसा भी किया है जिसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। देश का औद्योगिककरण, शिक्षा का प्रसार, मजदूरों की दशा का सुधार, जीवन को नयी दृष्टि और सबसे बढ़कर महान् रूसी राष्ट्र का निर्माण आदि ऐसी बातें हैं जिनके लिये कोई भी सरकार गर्व कर सकती है। रूस की कम्युनिस्ट पार्टी ने जिस अदमनीय साहस, उज्वल त्याग, और कठोर तप का आदर्श उपस्थित किया है वह जगत् के लिए स्फूर्ति का कारण होगा। पर इन सब के साथ-साथ वहाँ जिस प्रकार मानव-जीवन की

अवहेलना की गई है, और मनुष्य के रक्त से शासनारूढ़ दल ने एक के बाद दूसरे प्रयोगों का तर्पण किया है वे हृदय को कम्पित कर देने वाले हैं। जिस प्रथम पंचवर्षीय योजना की इतनी गाथा गाई जाती है उसके अनुसार सामूहिक कृषि की व्यवस्था स्थापित करने में पचासों लाख किसान परिवारों का संहार करना, दल की शुद्धि करने और क्रान्ति की रक्षा करने के नाम पर विरोधी मत रखनेवाले सहस्रों नर-नारियों का विनाश करना, तीन को छोड़कर प्रायः उन समस्त कम्यूनिस्ट नेताओं का, जो क्रान्ति को सफल बनानेवालों में थे, मारा जाना ऐसी घटनाएँ हैं जो बोल्शेविक प्रयोग की विघातकता सिद्ध करती हैं।

पर यह सब करके भी क्या रूस उस लक्ष्य की ओर बढ़ सका जिसे प्राप्त करने के लिये मार्क्स ने अपनी पद्धति का प्रतिपादन किया था? पूछा जा सकता है कि इस प्रयोग के फलस्वरूप क्या वर्गहीन समाज की स्थापना हो सकी, क्या लोकतंत्र का उदय हो सका और क्या अन्तर्राष्ट्रीयता स्थापित की जा सकी? लेनिन का दावा था कि "सम-अधिकार प्राप्त, स्वतंत्र मनुष्यों के समाज का जन्म होगा जिसमें व्यक्ति को अपना पूरा विकास करने का अबाध अवसर प्राप्त होगा।" क्या लेनिन की वह आशा पूरी हो सकी? क्या सम्पत्ति और उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के साधनों का समाजीकरण कर डालने से जनसमाज आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त कर सका? यदि आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई होती तो जनवर्ग जीवनयापन के लिये अति आरम्भिक पदार्थों की उपलब्धि में किसी केन्द्रीय संस्था पर निर्भर न करता। पर रूस में वहाँ की जनता क्या रोटी और वस्त्र के लिये भी पराश्रित नहीं है? मार्क्सवादी कहता है कि समाजवाद की स्थापना में ही सच्चे लोकतंत्र का उदय सम्भव है। बताइए तो सही कि रूसमें समाजवादकी स्थापना हो गई या नहीं? यदि हो गई तो क्या लोकतन्त्र की हल्की सी रेखा का भी उदय हो सका? यदि नहीं हुआ तो, आखिर क्यों नहीं हुआ, और जो अब तक हुआ वह क्या हुआ? क्रान्ति के विरोधियों तथा स्थिर-स्वार्थीवर्गों का निर्दलन कर देना तो

मार्क्सवाद आवश्यक समझता है पर जिस जन-वर्ग की स्वतंत्रता के लिये क्रान्ति की गई वह भी क्या शासन सत्ता के चरणों में अपने सारे नैसर्गिक और मानवीय अधिकारों को समर्पित कर देने के लिए बाध्य नहीं हुआ ?

मार्क्सवाद दावा करता है कि समाज में जिस दिन वर्गहीनता की स्थापना हो जायगी उसी समय शासन-सत्ता का भी क्षय हो जायगा। वर्गहीनता कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो सहसा एक दिन आकाश से टपक पड़ेगी। समाज क्रमशः उस ओर अग्रसर होता जायगा और उसका क्रमिक विकास वर्गहीनता के आदर्शतक पहुँचावेगा। यदि वर्गहीनता की स्थापना इसी प्रक्रिया से होगी तो जैसे-जैसे समाज उस ओर अग्रसर हो वैसे-वैसे शासन-सत्ता का विलोप भी क्रमशः होते जाना चाहिए। तभी वह मुहूर्त आवेगा जब एक दिन उसका सर्वथा तिरोभाव हुआ दिखाई देगा। इसी के लिये मजदूरवर्ग की अधिनायक-सत्ता कम्यूनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में स्थापित की गयी। पूछा जा सकता है कि इन वर्षों में रूस वर्गहीनता की ओर कितने कदम बढ़ा ? यदि वहाँ उपर्युक्त प्रकार के समाज की स्थापना हो चुकी है तो शासन सत्ता का क्षय अब तक क्यों नहीं हो गया ? मान लीजिये कि पूर्णता की स्थिति अभी प्राप्त नहीं हुई है फिर भी उस दिशा की ओर काफी प्रगति तो हो ही गई होगी। पर क्या शासन-सत्ता तिल भर भी विलुप्त हुई है ? क्या उसने राई बराबर भी अपना क्षय करने की प्रवृत्ति दिखाई है ? क्या क्रान्ति के बाद से अब तक रूस की बोल्शेविक सरकार उत्तरोत्तर केन्द्रस्थता की ओर बढ़ती नहीं गई है ? क्या आज भी वह उस प्रचण्ड और उग्र अधिनायक-वादिता पर स्थापित नहीं है जो जन-समाज की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता के निर्दलन पर ही जीवित रह सकती है।

आज रूस में जो स्थिति है वह तो यही है कि वहाँ की सरकार सर्वस्व की एकमात्र स्वामिनी है। जो कुछ भी है उसका ही है। उत्पादन की प्रणाली की सञ्चालिका वही है तथा वितरण और विनिमय के प्रकार को स्थापित करने में वह पूर्णतः स्वतंत्र है। राजनीतिक अधिकार भी सब

उसके हैं। जनता का जीवन भी उसका है। व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं, उसका कोई अधिकार नहीं। सब कुछ सरकार का है पर सरकार किसकी है? सरकार जनता की तो है नहीं और न उसके संघटन और संचालन में उसका कोई हाथ ही है। यदि वह किसी की कही जा सकती है तो रूस की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं की कही जा सकती है। उन नेताओं के अधिनेता स्टालिन हैं जिन्होंने अपने समस्त प्रतिद्वन्द्वियों को जहन्नुम का रास्ता दिखाने में सफलता प्राप्त की है। स्टालिन सर्वेसर्वा हैं, विधाता हैं, अनन्य और अप्रतिस्पर्ध्य हैं। उनकी भृकुटि-भंगिमा पर कम्यूनिस्ट पार्टी चलती है। यही पार्टी मजदूरों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है। कम्यूनिस्ट पार्टी के विरुद्ध भला कोई आवाज भी कैसे उठा सकता है? मतभेद प्रकट करना भी क्रान्ति का विरोध करना और प्रतिगामिता है। ऐसे व्यक्ति के भाग्य में सरकार की क्रोधाग्नि में भस्म होने के सिवा दूसरा कुछ नहीं है।

इस स्थिति में कम्यूनिस्ट पार्टी के इस दावे में कि वह मजदूरों का प्रतिनिधि है कोई सन्देह प्रकट करने का साहस भी कैसे कर सकता है? वह जो करती है मनमाना करती है पर दावा करती है कि व्यापक मजदूरवर्ग के प्रतिनिधि के हैसियत में सब कुछ उसी के नाम पर करने का। फलतः स्वतन्त्रता की बात ही कहाँ रह जाती है। जिस व्यवस्था में सब कुछ की प्रभुता सरकार के हाथ में हो उसमें आर्थिक और राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता के लिये स्थान रह ही नहीं सकता। दोनों में परस्पर मौलिक विरोध है फलतः एक के अभाव में ही दूसरे का अस्तित्व रह सकता है। इन बातों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण उपस्थित करना सम्भव नहीं है पर जो दिखाई दे रहा है उसके आधार पर यह कह सकते हैं कि रूस में हुए बोलशेविक प्रयोग से लक्ष्य की सिद्धि तो दूर की बात रही वह आदर्श ही विलुप्त हुआ चाहता है जिसे प्राप्त करने के लिये मार्क्सवादी पद्धति ग्रहण की गई थी। न वर्गहीन समाज की स्थापना हो सकी, न शासन-सत्ता का विघटन हुआ, न लोकतन्त्र का

उदय हुआ और अन्तर्राष्ट्रीयताका जागरण सम्भव हुआ। रूसकी वर्त्तमान धारा यदि भविष्यत् की ओर संकेत करनेवाली मानी जाय तो कह सकते हैं कि वहाँ यदि पुराना वर्ग मिटा दिया गया तो नये वर्ग का उदय होने लगा है। सच्चे लोकतन्त्र की तो बात ही जाने दीजिए क्योंकि स्टालिन की अधिनायक-सत्ता दिन-प्रतिदिन केन्द्रित ही होती चली जा रही है। सरकार के विलोप के लक्षण तो दूर रहे वह कल्पना भी आज मानस-क्षितिज के परे हो गई है। रूस की अन्तर्राष्ट्रीयता की पोल तो पूर्णतः खुल चुकी है। सिद्धान्त और आदर्श का परित्याग करके भी कोई राष्ट्र विशुद्ध राष्ट्रीय हित के लिये किस प्रकार काम कर सकता है इसे जिसे सीखना हो वह रूस से सीखे।

भारत के कम्यूनिस्ट यदि अपने राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि स्थान देने की शिक्षा अपने रूसी गुरुओं से ग्रहण कर सकते तो कदाचित् इस देश में उनका स्थान और इतिहास कुछ दूसरा ही हुआ होता। 'तृतीय इन्टर-नैशनल' जबतक जीवित रहा तबतक रूस के हित के लिये जीवित था और जब मरा तो रूस के लिये ही मरा। इस युद्ध में रूस ने अब तक जो नीति बर्ती है वह उसके हित की दृष्टि से चाहे कितनी भी उपयुक्त क्यों न रही हो पर उसमें अन्तर्राष्ट्रीयता की तो गंध भी नहीं थी। मानता हूँ कि रूसी क्रांति ने जो कुछ किया वह भी कम नहीं था। उसका तत्कालिक लक्ष्य भी महान् था। उसने जारशाही का विनाश किया, तत्कालीन सामान्तवादियों और स्थिर-स्वार्थी वर्गों की समाप्ति की, पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन किया, व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था खतम कर डाली, उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के साधनों पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित कर दिया। कोई नहीं कह सकता कि जो कुछ हुआ वह कोई छोटी बात थी। इतना स्वीकार करते हुए भी कहना पड़ता है कि समाजवाद का रथ इससे आगे न बढ़ सका। समाजवाद जिस समाज की कल्पना करता है उसका उदय न हो सका। पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन अवश्य हुआ पर उसके स्थान पर नये लोगों के संचालकत्व में, नया ढंग और नया स्वरूप

ग्रहण करके नये प्रकार का पूँजीवाद अवतरित हुआ दिखाई देता है। जारशाही का विनाश अवश्य हुआ पर उसके स्थान पर 'पालिट ब्यूरो' (क्यूनिस्ट पार्टी के काँग्रेस की कार्यसमिति और सर्वोत्कृष्ट संस्था) प्रतिष्ठित है जिसका सूत्र स्टालिन के हाथ में है।

स्टालिन की निरंकुश शक्ति किस जार से कम है? पुराने सामन्तवादियों और स्थिर-स्वार्थियों के स्थान पर कम्यूनिस्ट पार्टी के वे सदस्य हैं जिनकी प्रतिष्ठा और अधिकार उससे किसी प्रकार कम नहीं है। सरकारी यन्त्र के वे तमाम पुर्जे, बड़े छोटे अधिकारी, ओ. जी. पी. ओ. (रूस का भयावना और गुप्तचर विभाग) के विधाता लोग उस नये वर्ग का निर्माण करते हैं जो साधारण जनवर्ग की अपेक्षा विशेष अधिकार और सुविधाओं का उपभोग कर रहे हैं। पहले की व्यवस्था पूँजीपति तथा सुविधा-सम्पन्न वर्ग के हित में सञ्चालित होती थी और इस वर्गविशेष के हाथों में ही उत्पादन के सारे साधन थे। उत्पन्न सम्पत्ति तथा उत्पत्ति का सञ्चालन इसी वर्ग के हाथों में था। जनता केन्द्रस्थ उत्पादन-व्यवस्था पर आश्रित थी और जीवनोपाय की सारी आवश्यक सामग्रियों की उपलब्धि के लिए परमुखापेक्षण करती थी। पूँजीवादी व्यवस्था का यही रूप जनवर्ग की आर्थिक परतन्त्रता और शोषण का कारण होता है क्योंकि उसकी सारी अर्थनीति एक वर्ग-विशेष के हित की दृष्टि से ही सञ्चालित होती है। निर्विवाद है कि रूसी क्राति ने उक्त पुरानी पूँजीवादी व्यवस्था को तहस-नहस कर डाला। पर उसका स्थान जिस व्यवस्था ने लिया वह क्या है? सारी अर्थनीति संचालित होती है केन्द्रस्थ व्यवस्था के द्वारा।

उत्पादन आदि के साधनों पर, वितरण और विनिमय के प्रबन्ध पर उसी केन्द्रस्थ व्यवस्था का अधिकार है। वही स्वामिनी है सारी सम्पत्ति की। पूँजी उसी की है, उत्पादन और वितरण तथा विनिमय के नियम उसी के हैं, व्यापार और व्यवसाय उसीका है, लाभ जो हो वह भी उसी का है। मजदूर पहले की भांति अपनी मजदूरी मात्र पाता है। जनता

पहले का भांति अन्न और वस्त्र ऐसे आवश्यक तथा उपयोगी पदार्थों के लिये भी उसी व्यवस्थापर निर्भर करती है। कौन क्या खाए और कितना खाए, क्या पहने और कितना पहने तक का निर्धारण वही करती है। पूँजीवाद के स्थान पर इस नये 'व्यवस्थापकवाद' का उदय हो गया है। यह केन्द्रस्थ व्यवस्था और उसके व्यवस्थापक सरकार के अङ्ग हैं और सरकार है कम्यूनिस्ट पार्टी की। कम्यूनिस्ट पार्टी स्टालिन के हाथ में है। यह सरकार निरंकुश है जो बल का आश्रय लेकर हुकूमत करती है। उसका विरोध करने की बात छोड़ दीजिए उसके विरुद्ध आवाज उठाना भी जुर्म है। उसकी आर्थिक और राजनीतिक नीति के विरुद्ध बोलना क्रान्ति का द्रोह करना समझा जाता है जिसके लिये प्राणदण्ड तक की सज़ा दी सकती है। यह सच है कि रूस में पुराने प्रकार की पूँजीवादी अराजकता, घिस-घिस और अव्यवस्था का अन्त हो गया है। पूँजीपति-वर्ग के वर्गमूलक स्वार्थ की समाप्ति भी हो गई है। उसके स्थान पर आयोजित अर्थनीति और राजनीति की स्थापना मार्क्सवाद और रूसी क्रान्ति की देन है। पर इस आयोजन के फलस्वरूप जिस व्यवस्थित, सुसङ्घटित, दृढ़ किन्तु केन्द्रस्थ शक्ति का उदय हो गया है वह जनवर्ग के समस्त जीवन की निरंकुश सूत्रधारिणी हो गई है। स्पष्ट यह है कि पूँजीवादी अराजकता के अन्त के साथ-साथ जनवर्ग की उस रही-सही स्वतन्त्रता का भी अन्त हो गया है जो उसे पूँजीवादी समाजमें प्राप्त है। जो हुआ वह इतना ही हुआ कि उत्पादन आदि के साधन जो अब तक एक वर्ग के हाथ में थे वे छीन लिए गये और उस पर स्वामित्व स्थापित कर दिया गया उस पार्टी का जो अपने को दूसरे वर्ग का प्रतिनिधि कहती है।

यद्यपि यह सन्दिग्ध है कि कम्यूनिस्ट पार्टी मजदूरों का प्रतिनिधित्व करती है तथापि उसके दावे को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो उसका अर्थ केवल इतना हुआ कि एक वर्ग के हाथ से सब कुछ छीन कर दूसरे वर्ग के ठेकेदारों और दावेदारों के हाथों में समर्पण कर

दिया गया। पहले जो व्यवस्था पूँजीपतिवग के 'एजेन्टों' के द्वारा सञ्चालित होती थी वही अब अपने को मजदूरवर्ग का प्रतिनिधि कहनेवालों के द्वारा सञ्चालित होती है। यह कहा जा सकता है कि रूस की केन्द्रित व्यवस्था की कोई तुलना नहीं की जा सकती। दोनों की दृष्टि में आकाश-पाताल का अन्तर है। एक की व्यवस्था यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा के लिये, वर्ग हित के साधन के लिये परिचालित है तो दूसरी सारे समाज में से वर्गभेद को मिटाकर सामूहिक कल्याण की भावना द्वारा उत्प्रेरित है। पूँजीवादी व्यवस्था, उसकी अर्थनीति और राजनीति, व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा और व्यक्तिगत अधिकार पर आश्रित है। रूस की व्यवस्था सारे समाज के लाभ को सर्वोपरि स्थान देती है। भले ही व्यवसाय, व्यापार और आर्थिक सङ्गटन केन्द्रित संस्था के अधीन हों पर जो मुनाफा होगा वह व्यक्ति नहीं समाज की सम्पत्ति होगी और जो आर्थिक व्यवस्था होगी वह सारे समाज के हित में परिचालित होगी। सरकार हो या कोई केन्द्रित संस्था यदि उसका निर्माण होता है उत्पादक जनवर्ग के द्वारा तो उत्पत्ति के साधन और उत्पन्न सम्पत्ति पर सारे उत्पादक वर्ग का अधिकार स्थापित होता है। ऐसी दशा में पूँजीवादी व्यवस्था और रूसी व्यवस्था की तुलना की ही कैसे जा सकती है। मैं मानता हूँ कि दोनों की दृष्टि और आदर्श में इतना भेद है कि वे परस्पर एक दूसरे को कहीं स्पर्श ही नहीं कर सकते। वास्तव में एक दूसरे का प्रतिवाद है। पर मेरा कहना तो यह है कि रूसी व्यवस्था यद्यपि आदर्श में सर्वथा भिन्न है, उसकी दृष्टि भी सर्वथा दूसरी है तथापि व्यवहारतः दोनों में विशेष भेद नहीं दिखाई देता। वैधानिक दृष्टि से भले ही उत्पन्न सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों पर उत्पादकवर्ग का अधिकार हो पर व्यवहारतः उससे स्थिति में कोई परिवर्त्तन हुआ दिखाई नहीं देता।

जो पद्धति रूस में प्रचलित है उसमें उत्पादकवर्ग वैधानिक दृष्टि से उत्पादन के साधनों का स्वामी होते हुए भी व्यवहारतः क्या आर्थिक

दृष्टि से स्वतंत्र है ? भले ही सम्पत्ति का स्वरूप बदल गया हो पर क्या जन—समाज जीवन की आवश्यक सामग्रियों को प्राप्त करने के लिये दूसरे का मुख नहीं देखता ? अर्थनीति और राजनीति के सञ्चालन की दृष्टि भले ही पूँजीपतिवर्ग के व्यक्ति-गत लाभ और उसकी सम्पत्ति की रक्षा की ओर न हो पर यह कौन अस्वीकार कर सकता है कि सारी दृष्टि कम्यूनिस्ट पार्टी की प्रभुता बनाए रखने की ओर अवश्य है ? उत्पादक वर्ग क्या चाहता है और क्या नहीं चाहता, वह किस प्रकार की नीति में अपना लाभ देखता है और किस में नहीं देखता आदि बातों का निर्णय करने में उसका हाथ कहाँ है ? क्या रूस की कम्यूनिस्ट सरकार जो निर्णय कर दे वही जनता का निर्णय नहीं माना जाता ? क्या जनवर्ग का सारा अधिकार उस वर्ग के साथ में केन्द्रित नहीं है जो अपने को उत्पादक जनता का प्रतिनिधि स्वयम् घोषित करता रहता है ? उसके व्यवस्थापक और एजेन्ट बने लोग स्वयम् वास्तविक मालिकों के मालिक नहीं बन गये हैं ? आज विचारणीय यही है कि यह पद्धति क्या उस दृष्टि और आदर्श की ओर ले जाने में समर्थ भी हो रही है ?

दृष्टि और आदर्श चाहे कितना ही महान् और स्पृहणीय क्यों न हो तब तक उसका कोई मूल्य नहीं है जब तक वह व्यावहारिक रूप में प्रकट न हो ? माना कि रूस के जनवर्ग की आधुनिक स्थिति उस समय की अपेक्षा कहीं अच्छी है जो क्रान्ति के पूर्व थी ! आज रूसका मजदूर और किसान साक्षर है। उसके स्वास्थ्य, उसकी शिक्षा, उसके मनोरंजन, उसके रहन-सहन को ऊँचा करने के सम्बन्ध में सरकार ने जो सुविधाएँ उत्पन्न कर दी हैं वह दुनिया के किसी देश के मजदूर और किसान को प्राप्त नहीं है। पर रूसी क्रान्ति का अथवा मार्क्सवाद का लक्ष्य इतना ही नहीं था। वह उन निरङ्कुश किन्तु सुसभ्य और उदार राजाओं का स्वरूप ग्रहण करने की भावना से उत्प्रेरित नहीं है जो किसी युग में यूरोप में 'इनलाइटेन्ड डिस्पाड' कहे जाते थे। उपर्युक्त बातें कोई भी स्वच्छन्द, अनियंत्रित, अनुत्तरदायी

किन्तु सभ्य और उदार राजा या शासन-पद्धति कर सकती है। पर जनता के लिये केवल इतना ही पर्याप्त नहीं हुआ करता। मानव समाज आज उस स्तर पर पहुँच गया है जहाँ वह आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं को एकमात्र इस कसौटी पर कसता है कि उनके द्वारा मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा होती है अथवा नहीं ?

मनुष्य राजनीतिक और आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से स्वतन्त्रता और ममता का आकांक्षी है। वह ऐसी व्यवस्था चाहता है जिसमें न वर्गप्रभुता हो, न निरंकुश अधिकार-सत्ता और न समाज तथा व्यक्ति के अधिकारों का अपहरण। मार्क्सवाद इसी को प्राप्त करने का इच्छुक है। आज रूस को कहाँ यह स्थिति प्राप्त है ? भले ही जनवर्ग को कुछ सुविधाएँ प्राप्त हों पर उसे इसके लिये जो मूल्य चुकाना पड़ा है उसकी ओर भी दृष्टि डालनी होगी। निरंकुश व्यवस्था ने सुविधाएँ भी प्रदान की पर सारा आर्थिक और राजनीतिक सूत्र की अपने हाथ में केन्द्रित कर लिया। जनता समस्त सम्पत्ति और शक्ति की स्वामिनी घोषित की जाती है पर उसे वही प्राप्त होता है जो अनुत्तरदायी केन्द्रित संस्था प्रदान कर दे। वह उसी अधिकार को प्राप्त कर सकती है, उसी सम्पत्ति का उपभोग कर सकती है, जो मस्तक पर बैठी हुई शक्ति से मिल जाय। कोई केन्द्रस्थ और निरंकुश व्यवस्था किस प्रकार विभीषिका हो जा सकती है इसका उदाहरण ढूँढ़ने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। रूस के गत बीस वर्षों के इतिहास में वहाँ की सरकार ने अपनी नीति का परिचालन करने के लिये एकाधिकबार लाखों को तलवार के घाट उतार दिया। इसके कतिपय प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। क्रान्ति के समय लेनिन ने जो विज्ञप्ति किसानों के नाम प्रकाशित की उसमें सारी भूमि उन्हें दे दी। किसानों ने अपने जमीदारों को नष्ट करके भूमि परस्पर बाँट ली। पर किसानों का भू-वामित्व मार्क्सवाद की कल्पना के विरुद्ध है क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना भी उसके लिये विजातीय है। फलतः अधिकार ग्रहण करने के बाद बोल्शेविक सरकार ने जब व्यक्ति-

गत सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण आरम्भ किया तो किसानों की उपज और उनके गल्ले पर बलपूर्वक अधिकार करना शुरू कर दिया। एक वर्ष पूर्व जो किसान भूमि का स्वामी हुआ था और जिसे स्वयम् लेनिन ने यह अधिकार प्रदान किया था अपहरण की इस नीति को समझ ही नहीं सका ! वह यह न समझ सका कि "किसानों को भूमि और मजदूरों को रोटी" की माँग लेकर जो क्रान्ति हुई थी और जिसके नेता ने स्वयम् किसानों को भूमि प्रदान की थी वही उनकी कमाई का सारा फल क्यों लिए ले रही है। उन्होंने देखा कि जार और जमींदार मरे पर स्थिति में परिवर्तन न हुआ। पहले वे सब ले लेते, अब दूसरे आये।

किसानों ने इस व्यवस्था का विरोध किया। उन्होंने खेती छोड़ दी, खड़ी फसलें सूख गईं, और अपने पशु मार डाले, भयावना अकाल पड़ा। न जाने कितने भूख से तड़प-तड़प कर स्वर्ग सिधारे। हजारों मृत्यु के मुख में झोंक दिए गए। अन्त में लेनिन ने इस अवस्था से निकल बचने के लिये कदम पीछे हटाया। नव-आर्थिक नीति (न्यू इकनामिक पलिसी) के नाम से दूसरी योजना उपस्थित की जिसमें व्यक्तिगत खेती और व्यक्तिगत व्यापार करने की अनुमति एक संकुचित सीमा तक प्रदान की गई। सरकार की इस योजना का परिणाम यह हुआ कि एक अच्छा खासा वर्ग व्यक्तिगत सम्पत्ति वाला उत्पन्न हो गया। चार पाँच वर्षों तक यही व्यवस्था चलती रही। ट्राटस्की प्रभृति नेताओं ने लेनिन की मृत्यु के बाद जब इस नीति का विरोध किया तो उन्हें क्रान्ति-द्रोही घोषित किया गया। स्टालिन और उनके दल के संकेत पर बोल्शेविक सरकार ने उनका तीव्र दमन किया। पर उसी सरकार ने सन् १९२८ ईसवी में रूस में प्रसिद्ध पंचवर्षीय योजना जारी कर दी। इस योजना के अनुसार पुनः किसानों की भूमि सामूहिक खेती के नाम पर ली जाने लगी। व्यक्तिगत व्यापार करने वालों का जो एक मध्यम वर्ग उत्पन्न हो गया था उसका सफाया किया जाने लगा। नव आर्थिक नीति के फलस्वरूप जो किसान थोड़े सम्पन्न हो

गये थे (कुलक) मिटाये जाने लगे। जिस पंचवर्षीय योजना की इतनी धूम है वह इन निरीह मध्यवित्त व्यापारियों और किसानों के रक्त से अभिषिक्त है। कौन ऐसा है जिसका हृदय यह जानकर द्रवीभूत न हो जायगा कि लाखों किसान परिवार कुलक होने के नाम पर मटियामेट कर दिए गए।

इसे सनक न कहें तो क्या कहें ? जो सरकार जिम्मेदार थी नयी आर्थिक नीति के लिये और जिसकी उक्त नीति के फलस्वरूप इन वर्गों का उदय हुआ था उसी ने उनकी हत्या कर डाली। यदि यह मान भी लें कि समाजवाद की पूर्ति के लिए और क्रान्ति के हित में यही अपेक्षित था तो भी क्या पूछा नहीं जा सकता कि 'कुलकों' के उदय के लिये जिम्मेदार कौन था ? कौन था उत्तरदायी उस मध्यवित्त व्यापारी वर्ग के उदय के लिये ? क्या सरकार ही उसके लिये उत्तरदायी नहीं थी ? फिर उसे उन निरीह प्राणियों का सत्यानाश करने का क्या अधिकार था ? यदि नव आर्थिक नीति बोल्शेविक सरकार की भूल थी तो उस भूल का दण्ड क्या उन्हें दिया जाना चाहिए था जो निरपराध थे ? अनियन्त्रित अधिकार सत्ता का कैसा भयावना स्वरूप प्रकट होता है ! उसकी निरंकुशता का खेल यहीं समाप्त नहीं होता। जिस समय ट्राट्स्की ने नव-आर्थिक नीतिका विरोध करना आरम्भ किया उस समय स्टालिन ने उन्हें धर दबोचा था। कम्यूनिस्ट पार्टी के जो नेता इस कार्य में स्टालिन के सहायक थे उनमें बुखारिन मुख्य थे। सन् १९२८ ई० में पञ्चवर्षीय योजना की सफलता के लिये सरकार ने दमन की भयावनी आग लगाई। बुखारिन ने उक्त दमन-नीति का विरोध किया जिसके फलस्वरूप उन्हें यमलोक की यात्रा करनी पड़ी। सरकार ने कुलकों का संहार करके और नयी आर्थिक योजना समाप्त करके वही किया जिसका प्रतिपादन करने के कारण कुछ वर्ष पूर्व ट्राट्स्की दोषी घोषित किए गए थे।

कुलकों का संहार और भूमि का समूहीकरण कुछ समय तक धूम से चला और उसके विरोध करने वाले पीस दिए गए। बुखारिन ऐसे प्रसिद्ध

नेता दमन के शिकार हुए। कहा जाता है कि पञ्चवर्षीय योजना के आरम्भ होने के पूर्व रूस में सामूहिक खेती केवल दो प्रतिशत होती थी। वही पंचवर्षीय योजना आरंभ होने के दो वर्ष के भीतर ही ६० प्रतिशत हो गई। पर इस सफलता की प्राप्ति लाखों प्राणों की बलि चढ़ा देने के बाद हुई। सहसा एक दिन स्टालिन का माथा ठनक उठा। उन्होंने सामूहिक खेती के लिए किये जाने वाले प्रयास और जोर-जुल्म को 'अनावश्यक उत्साह', घोषित करके उसकी निन्दा कर दी। उनके एक लेख ने दूसरे दिन से वह उत्पात रोक दिया। तब से सामूहिक कृषि की योजना में सम्मिलित होने या न होने का निर्णय करने में किसान को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई। यह है निरंकुशता का खेल। मानव-जीवन के साथ कैसी डरावनी क्रीड़ा है। जो मन में आए निर्णय कर दिया जाय और उसका प्रयोग आरम्भ हो जाय। लाखों की जान उस प्रयोग में निछावर की जाय। फिर कदम उठाया जाय और दूसरा प्रयोग आरंभ हो। नीति का निर्धारण करनेवाले अलग बैठे रहें और एक के बाद दूसरी भूल करते रहें। पर भूल के लिये दण्ड पाते रहें वे जो निरपराध हैं। उनका जीवन गेंद की तरह आज इधर और कल उधर उछाला जाता रहे। आज कुलकों का उदय आप कीजिए और कल आप ही उनका संहार कर दीजिए।

उदाहरण स्वरूप एक-दो घटनाएँ यह दिखाने के लिये उपस्थित कर दी गई हैं कि रूस के मजदूर और किसान को यदि एक ओर सुविधाएँ प्राप्त हैं तो दूसरी ओर उनके सिर पर यह विभीषिका भी मड़राती रहती है। पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति रूस में अवश्य हुई पर उसका स्थान जिसने ग्रहण किया है वह उससे कम भयावना नहीं दिखायी देता। वर्गमूलक पूँजीवादी वहाँ भले ही न हो पर निरंकुश-दल-मूलक सरकारी पूँजीवाद के होने में किसे सन्देह हो सकता है? यदि यही समाजवाद है तो जगत् को उसे अपने कण्ठ के नीचे उतारने के पूर्व गम्भीर विचार कर लेना आवश्यक होगा। कहा जा

सकता है कि रूस में जो कुछ हुआ उसके आधार पर मार्क्सवाद की विचारधारा को त्याज्य नहीं कहा जा सकता। यह तर्क सही है पर प्रश्न तो यह है कि रूस में जो हो रहा है वह क्या केवल रूसी कम्यूनिस्टों की भूल है? उसके लिये क्या वे ही मूलतः उत्तरदायी हैं? मैं तो यह समझता हूँ कि वहाँ जो हुआ उसके लिये न वहाँ की कम्यूनिस्ट पार्टी जिम्मेदार है और न वह उनकी भूल का परिणाम है। भले ही किसी मामले में उन्होंने आवश्यकता से अधिक उत्साह या क्रूरता दिखाने की गलती की हो पर साधारणतः घटनाओं का वही प्रवाह होना अनिवार्य था जो वहाँ प्रकट हुआ है।

जब कहीं और जहाँ कहीं भी केन्द्रस्थ शासनसत्ता रहेगी और वह सत्ता स्वेच्छा-चारिणी तथा निरंकुश होगी और सारा अधिकार-सूत्र उसके हाथों में रहेगा और वह शस्त्र तथा शक्ति के आश्रय पर स्थापित होगी वहाँ घटनाओं की गति और परिस्थितियों का स्वरूप अनिवार्यतः कुछ वसा ही होगा जैसा रूस में दिखाई देता है। यह संभव ही नहीं है कि जनवर्ग के मस्तक पर 'कर्तुम्-अकर्तुम् सर्वथा कर्तुम्' समर्थ सत्ता जम कर बैठी हो और फिर वह आर्थिक या राज-नीतिक अथवा सामाजिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सके। यदि यह सच है तो रूस में जो हुआ उसके लिए उत्तरदायी यह केन्द्रीकरण ही है। पर विचार करके देखिए कि इस केन्द्रीकरण के लिये उत्तरदायी कौन है?

मैं समझता हूँ कि केन्द्रीभूत व्यवस्था की स्थापना का उत्तरदायित्व रूसी कम्यूनिस्टों पर नहीं है। उन्होंने तो उस पद्धति का व्यावहारिक प्रयोगमात्र किया है जिसका प्रतिपादन और प्रवर्त्तन मार्क्सवाद करता है। फलतः मेरी दृष्टि में मार्क्सवाद ही केन्द्रीभूत व्यवस्था के लिये उत्तरदायी है। मार्क्सवाद के लिये स्वतः इस व्यवस्था का प्रतिपादन करने के सिवा दूसरा चारा ही नहीं है। उसकी विचारसरणि उसे जिधर ले जाती है उधर बढ़ने पर मार्क्सवाद उक्त स्थान पर पहुँचने के

लिये बाध्य है। मार्क्स यह मानते हैं कि समाज का आधार उत्पादन के साधन और उत्पादन की प्रणाली है। समाज का परिवर्तन उत्पादन के साधनों और उसकी प्रणाली में होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप होता है और आदिकाल से लेकर आज तक मानव जगत् का ऐतिहासिक प्रवाह इसी प्रकार बहता और पलटता रहा है। उत्पा-दन के साधन और उसकी प्रणाली के परिवर्त्तन से आर्थिक सङ्घटन बदल जाता है और उसके फलस्वरूप समाज का सारा ढाँचा परिवर्तित हो जाता है। आधुनिक समाज को बदलने के लिये मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन के आधुनिक साधन और प्रणाली में परिवर्तन करना आवश्यक होना चाहिए था। पर मार्क्सवाद उत्पादन के आधु-निक साधनों और उसकी आधुनिक प्रणाली को बनाए रखकर आधुनिक समाज के स्वरूप को बदल देना चाहता है। मार्क्सवाद स्वयम् अपने ही विचार और पद्धति में प्रस्तुत इस असङ्गति का शिकार हो गया है।

एक ओर मार्क्सवाद पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था को मिटाकर पूँजीपतिवर्ग के हाथ से उत्पादन के साधन छीन लेना चाहता है और दूसरी ओर उत्पादन की उस केन्द्रीभूत प्रणाली और व्यवस्था को बनाए रखना चाहता है जिसके गर्भ से पूँजीवाद का प्रजनन होता है। इसका परिणाम जो हो सकता है वह स्पष्ट है। जब उत्पादन की केन्द्रीकृत पद्धति रहेगी तो उसका सञ्चालन करने के लिये केन्द्रित व्यवस्था ही आवश्यक होगी। जब केन्द्रित-व्यवस्था रहेगी तब उसके उदर से केन्द्रित-शक्ति का आविर्भाव अनिवार्य है। आज पूँजीवादीवर्ग ही वह सञ्चालिका-शक्ति है जो केन्द्रित-उत्पादन प्रणाली और अर्थनीति-का परिचालन करती है। उसे मिटा देने के बाद केन्द्रीभूत उत्पादन प्रणाली और अर्थनीति के संचालन के लिये केन्द्रस्थ शक्ति अनिवार्यतः आवश्यक होगी। इसी की पूर्त्ति के लिये मार्क्सवाद सर्वस्वाधिकारिणी अधिनायकसत्ता को प्रतिष्ठित कर देता है। केन्द्रस्थ, निरंकुश अधिनायक-

संस्था को अपनी रक्षा के लिये प्रचण्डशक्ति का केन्द्रीकरण करना ही होगा। रूस में जो हुआ है और जो हो रहा है वह यही है। मार्क्सवाद के सम्मुख कोई दूसरी गति है ही नहीं। उसकी सारी पद्धति इसी दिशा की ओर उन्मुख है जो सर्वथा उसे उस आदर्श के विमुख ले जायगी जिसकी प्रतिष्ठा उसने कर रखी है।

मार्क्सवाद भूल गया कि आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था उत्पादन की यन्त्रिक प्रणाली के गर्भ से सम्भूत है। सम्प्रति पूँजीपतिवर्ग उस प्रणाली का संचालक और व्यवस्थापक है। व्यवस्थापक के परिवर्त्तन कर देने से पूँजीवाद का स्वरूप भले बदल जाय पर उसका समूल उन्मूलन नहीं हो सकता। यह तो वैसे ही हुआ कि उपसर्ग का उपचार कर दिया गया पर मौलिक रोग को जहाँ का तहाँ बने रहने दिया। मेरी धारणा है और जगत् का इतिहास सिद्ध कर रहा है कि वर्ग-मूलक अधिनायक सत्ता तथा केन्द्रस्थ सत्ता की शासन-पद्धति ने जर्जर, पतनोन्मुख पूँजीवादी व्यवस्था के शरीर में जीवन डाल दिया, क्योंकि उसे अपना प्राण बचाने के लिये नया मार्ग दिखाई दे गया। गत महायुद्ध के बाद के यूरोप का इतिहास निरंकुश अधिनायकवाद का ही इतिहास है। बोल्शेविक क्रान्ति के बाद यूरोप के प्रायः सभी देशों में मार्क्सवादी विचारों की धारा फूट बही। जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली, स्पेन, बालकन्स आदि प्रायः सभी प्रदेशों में मजदूर-जन-क्रान्ति की चेष्टाएँ की गईं। यद्यपि रूस का आदर्श इन देशों के सामने था तथापि युद्धोत्तर विश्व में हम सर्वत्र फासिटीवादी अधिनायक सत्ताओं का उदय देखते हैं। मैं समझता हूँ कि रूस ने जो मार्ग मजदूरों को दिखाया वही पथ पूँजीपतियों ने भी देखा। उन्होंने देखा कि वर्गमूलक अधिनायक सत्ता सारी शक्ति का केन्द्रीकरण करके निरंकुशतापूर्वक सारे सूत्रों का संचानल करने में ही सफल नहीं होती है और न केवल वर्गस्वार्थों की संसिद्धि करने में समर्थ होती है वरन् अपार बल की अधिकारिणी भी हो जाती है। रूस में अधिनायक सत्ता की सफलता उन्होंने देखी, केन्द्रित शक्ति और केन्द्रित हिंसा की सार्थकता भी

देखी। अपने अस्तित्व और अपने हित के लिये उठते हुए भयानक खतरे को भी देखा। फलतः उनको रक्षा के लिये उसी पथ को पकड़ना उचित समझा जिसे ग्रहण करके रूस का मार्क्सवादी प्रयोग मजदूरों की अधिनायक-सत्ता स्थापित करने में समर्थ हुआ था।

दो विरोधी वर्गों में हुए संघर्ष में पूँजीवादीवर्ग विजयी हुआ और उर्युक्त देशों में फासिटी-अधिनायकवाद विविध रूपों में प्रतिष्ठित हो गया। हिंसात्मक पद्धति की प्रतिक्रिया भी हिंसात्मक ही हो सकती थी। फलतः फासिटी-अधिनायकवाद हिंसा के घृणिततम रूप का प्रतीक बन गया। तृतीय 'इन्टर नेशनल' की विश्व-विद्रोह की कल्पना कल्पना ही रह गई। विश्व भर में मजदूर-क्रान्ति-सम्बन्धी मार्क्स की भविष्यवाणी पहले ही असिद्ध हो चुकी है। उनके कथनानुसार औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों में मजदूरक्रान्ति का प्रादुर्भाव पहले होना चाहिए था, पर प्रथम सफल क्रांति हुई रूस में जो औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ था। युद्ध के बाद रूस के सिवा और जिन देशों में प्रयास किया गया वहाँ उल्टी ही प्रतिक्रिया हुई। इस स्थिति में यदि मैं यह कहूँ कि रूस का प्रयोग उन साधनों को ग्रहण करके हुआ जिससे लक्ष्य का ही विलोप हुआ चाहता है तो कोई अनुचित न होगा। केन्द्रीकरण की जिस प्रवृत्ति पर पूँजीवाद अवलम्बित है उसी प्रवृत्ति का चरम विकास मजदूर-अधिनायक-सत्ता अथवा फासिटी अधिनायकवाद में दिखाई देता है। जिस केन्द्रीकरण के द्वारा मार्क्सवाद एक वर्ग के हित को विनष्ट करके वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहता है उसी प्रवृत्ति को ग्रहरण करके दूसरा वर्ग फासिटीवाद के रूप में अधिकार और शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रित करके जन-समाज को निर्दलित और त्रस्त करने में समर्थ होता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वर्ग-भेद मिटाने के लिए वर्गमूलक रोष, क्षोभ और द्रोह की आग को भड़का कर, शासन-सत्ता के विलाप के लिये निरंकुश स्वच्छन्द और सर्वाधिकारिणी सरकार की स्थापना कर, तथा वर्गहित के लिये होने वाले शोषण और दलन को मिटाने के लिये वर्गहित

को ही सर्वोपरि स्थान देकर मार्क्सवाद अपने लक्ष्य को सिद्ध करना चाहता है। फलतः घटनाओं का वह स्वरूप होना अनिवार्य था जो रूस में हुआ।

इसी लिये मेरा यह कहना है कि रूस में जो हुआ वह परिणाम है मार्क्सवादी पद्धति का जिसे ग्रहण करने के बाद सिवा उसके दूसरी गति हो ही नहीं सकती थी। इस बात को सुनकर कम्यूनिस्ट भले ही क्षुब्ध हो जायँ पर जो कहा गया है वह कठोर सत्य है। मार्क्सवाद जिस साध्य को सामने रखता है उसे प्राप्त करने के लिए अनुकूल साधन न ग्रहण कर सका। प्रकाश की उपलब्धि के लिये यदि अन्धकार की सृष्टि की जायगी तो भला अभीष्ट लक्ष्य कब पूरा किया जा सकता है? साध्य और साधन सम्बन्धी इस प्रश्न की ओर मार्क्स की दृष्टि भी सर्वथा भिन्न है। वह यह विश्वास करता है कि साध्य का निर्धारण कर लेना मुख्य है और फिर उसकी प्राप्ति के लिये किसी भी प्रकार के साधन को ग्रहण कर लेने में कोई आपत्ति नहीं है। वह यह भूल जाता है कि साधन यदि उपयुक्त और अनुकूल न होंगे तो निर्धारित लक्ष्य की सिद्धि असम्भव हो जायगी। दूसरी ओर उचित साधन का निर्धारण यदि हो जाय तो साध्य की सिद्धि स्वतः सिद्ध है। साध्य-साधन सम्बन्धी इस असंगति का ही परिणाम यह है कि मार्क्सवादी पद्धति से वह लक्ष्य ही विलुप्त हुआ चाहता है जिसकी प्राप्ति के लिये उसका प्रतिपादन किया गया था। उसका लक्ष्य यदि जगत् में वर्गहीन समाज की स्थापना करना है तो वह पथ पकड़ता है वर्गभाव, वर्गहित, वर्गस्वार्थ और वर्गसंघर्ष भड़का देने का। उसका लक्ष्य यदि हिंसा के आश्रय पर स्थापित किसी एक वर्ग की प्रभुता का नाश करना है तो उसने पद्धति ग्रहण की दूसरे वर्ग की प्रभुता हिंसा के द्वारा स्थापित कर देने की। सहयोग, स्नेह और सामूहिकता के आधार पर समाजवाद जिस नूतन जगत् की रचना करना चाहता है, तथा व्यक्तिगत और वर्गमूलक स्वार्थों का त्याग कर के सामूहिक सुख और हित के लिये अपने को उत्सर्ग कर देने के योग्य

जिस मनुष्य को बनाना चाहता है, उस मनुष्य और उस समाज की रचना भला उस पद्धति से कैसे हो सकती है जो वर्गद्रोह और वर्गस्वार्थ की आग भड़काने में ही अपनी सारी शक्ति लगा देती है।

पूँजीवाद उत्पादन की जिस यान्त्रिक प्रणाली और यान्त्रिक साधनों का परिणाम है उसे बनाए रख कर पूँजीवादी समाज का और उन समस्त दोषों का जिनका सर्जन पूँजीवादी व्यवस्था के गर्भ से होता है कैसे किया जा सकता है। अधिकार और शक्ति के चरम केन्द्रीकरण के फलस्वरूप आज जिन सरकारों का उदय होता है और जिनके फलस्वरूप जनसमाज अपने अधिकार और अपनी स्वतन्त्रता से वंचित होता है वही जनसमाज वर्ग-विशेष की सर्वाधिकारिणी अधिनायकसत्ता प्रतिष्ठित करके कैसे परावलम्बन और परतन्त्रता से मुक्ति पावेगा। हिंसा और पशुबल के द्वारा शक्तिसत्ता पर जो अधिकार स्थापित करेगा वह हिंसा और शस्त्र के द्वारा ही रक्षा भी करेगा। मार्क्सवाद कैसे यह आशा करता है कि हिंसा और दमन के आधार पर स्थापित व्यवस्था ऐसे समाज की रचना करने में समर्थ होगी जिसमें हिंसा और दलन का तिरोभाव हो जायगा? स्मरण रखने की बात है कि मजदूरों की अधिनायक-सत्ता वर्गमूलक सरकार ही होगी। यह वर्गमूलक सरकार अपने विरोधियों और विरोधी वर्गों का लोप शस्त्र और शक्ति द्वारा ही करने की चेष्टा करेगी। इतिहास और अनुभव तथा मनुष्य के स्वभाव का स्वरूप सिद्ध करता है कि हिंसा की प्रतिक्रिया हिंसा में ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में मजदूर सत्ता को या तो स्थायी बनाना होगा, जिसमें सदा शस्त्र के द्वारा विरोधी वर्गों का दलन करना सम्भव हो सके अथवा विरोधी वर्ग को पनपने का मौका देना होगा। यदि विरोधी वर्ग को पनपने का अवसर मिला तो वर्ग के विरुद्ध वर्ग का सङ्घर्ष निरन्तर होता रहेगा। इस स्थिति में या तो अधिनायक सरकार बनी रहेगी या समाज में वर्गभेद बना रहेगा।

यदि अधिनायकवादी सरकार बनी रही तो जनसमाज के अधिकार

और उसकी स्वतन्त्रता की कल्पना करना भी विजातीय है। आश्चर्य होता है मार्क्स की इस धारणा पर कि एकबार जो समूह, वर्ग या गुट समाज का सूत्रधार और सर्वाधिकारी बन जायगा तथा शस्त्र द्वारा अपनी सत्ता को बनाए रखने की नीति को ग्रहण करेगा वह किसी समय स्वेच्छा से सारी शक्ति, अधिकार और प्रभुता का विसर्जन कर देगा—मानव स्वभाव के इस उत्तमांश में मार्क्स को कैसे विश्वास हो गया ? यदि गाँधी जी यही बात कहते तो मैं समझ सकता था। उनका विश्वास है कि मनुष्य में वह अन्तश्चेतना और नैतिक प्रवृत्ति निहित है जो निसर्गतः सत्य और सुन्दर की ओर अहिंसा और उत्सर्ग की ओर अभिमुख रहती है। मानव प्रकृति की इस विशेषता में विश्वास ही गाँधीजी की सारी विचारधारा का मूलस्रोत है। मार्क्सवाद के मत से पारमार्थिक दृष्टि में ऐसा विश्वास विशुद्ध कल्पना और भ्रांति ही है। मनुष्य उसकी दृष्टि में उन भौतिक परिस्थितियों की प्रतिच्छायामात्र है जिनसे वह आवेष्टित है। फलतः प्रभुशक्ति और अधिकार से आवेष्टित गुट जो वर्गस्वार्थों की पूर्ति के लिये दूसरे वर्ग के निर्दलन में लगा है किस प्रकार एक दिन उत्सर्ग के पथ का यात्री हो जायगा ? स्वयं मार्क्स भी यह कहते हैं कि किसी सामाजिक-सङ्घटन में एक वर्ग ऐसा उत्पन्न हो जाता है जो शासक होता है। इस भांति जो शासनसत्ता आविर्भूत होती है उसमें अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिये जीवनी-शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस शक्ति के सहारे यह सत्ता उस समय भी जीवित रह जाती है और रहने की चेष्टा करती है जब उसका आधारभूत सामाजिक-संघटन और आर्थिक व्यवस्था भरभरा कर गिरती और बदलती रहती है।

शासकवर्ग का वर्त्तमान व्यवस्था में अपना स्थिर स्वार्थ रहता है। उसकी रक्षाके लिये तथा जो है उसे बनाए रखने की इच्छासे वह अपनी सारी शक्ति का उपयोग करता है। परिस्थिति परिवर्त्तन की माँग करती है और परिवर्त्तन की विरोधी शक्तियाँ इस माँग का प्रतिरोध करती हैं।

फलतः संघर्ष का सर्जन होता है जिसके गर्भ से रक्तपूरिता क्रान्ति का उद्भव होता है। मार्क्स की इस विवेचना के प्रकाश में क्या यह नहीं पूछा जा सकता कि मजदूर अधिनायक सत्ता जिस शासकवर्ग का प्रजनन करेगी उसका स्वार्थ क्या वर्त्तमान व्यवस्था में स्थिर न हो जायगा? क्या उस व्यवस्था को बनाए रखने के लिये वह अपनी सारी शक्ति से सचेष्ट न होगा? जब आधारभूत सामाजिक संघटन की आर्थिक व्यवस्था भी बदलती रहेगी, उस समय भी क्या वह अपनी जीवनी-शक्ति के सहारे टिके रहने में सफल न होगी? जब वह स्थिति आवेगी जिसमें शासन-सत्ता के विलोप की माँग होगी उस समय उसका प्रचंड प्रतिरोध करने में क्या शासक-वर्ग संलग्न न होगा? क्या फिर दूसरी क्रांति की आवश्यकता उत्पन्न न होगी? यदि मार्क्स के उपर्युक्त तर्क सत्य हैं तो यह कल्पना कि वह शासनसत्ता जो शस्त्र और शक्ति, निरंकुशता और स्वच्छन्दता, वर्गहित और वर्ग-प्रभुता के आधार पर उद्भूत होगी, एक दिन स्वयं विलुप्त हो जायगी, नितान्त भ्रान्त है। और यदि उनकी यह कल्पना सत्य है तो उनके उपर्युक्त तर्क भ्रान्त हैं। विचारों में यह कैसी असङ्गति है?

इन बातों से स्पष्ट है कि मार्क्स की दृष्टि और पद्धति ही स्वतः उस आदर्श के प्रतिकूल थी जिसे वह अपने सम्मुख स्थापित करते हैं। या तो उनका आदर्श आकाश-कुसुम की भांति विशुद्ध कल्पना है अथवा उनकी पद्धति ही गलत है जो वहाँ तक ले नहीं जा सकती। वर्गहीन समाज की स्थापना और शासन-सत्ता का सर्वथा लोप यदि लक्ष्य है तो वहाँ तक पहुँचने की मार्क्स द्वारा प्रतिपादित पद्धति उलटी है।

स्वयं उनके तर्क और रूस में जो हुआ है वह हमें उपर्युक्त परिणाम पर पहुँचाता है। आज रूस की स्थिति और गत पचीस वर्षों का इतिहास इसी का साक्षी है। मार्क्स के दार्शनिकमत के आधार पर यहीं एक प्रश्न और उठता है। उनके कथनानुसार जब कोई समाज अपनी सफलता की पराकाष्ठा पर पहुँचता है तो उसी क्षण से वह विरोधशक्ति जो निसर्गतः उसी में सन्निहित है उसकी जड़ खोदने लगती है। दूसरे शब्दों

में कह सकते हैं कि कोई समाज अपनी सफलता के द्वारा अपने विनाश का पथ प्रशस्त कर देता है यही वह प्राकृतिक "द्वन्द्वात्मक" प्रक्रिया है जो मार्क्स के दार्शनिक विचार का आधार है। क्या यह पूछा जा सकता है कि जिस क्षण समाज वर्गहीनता की उपलब्धि करता दिखाई देगा उसी क्षण से उसके विनाश की प्रक्रिया आरम्भ हो जायगी या नहीं? वर्गहीन समाज का प्रतिरोधी तत्त्व, उसका प्रतिवाद और उसकी प्रति-शक्ति उसी के गर्भ में तो होगी। आखिर द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का अजस्र प्रवाह वर्गहीनता का विनाश करके समाज को कहाँ और किधर ले जायगा? मानव समाज उन्नति की इस उच्चतम स्थिति को प्राप्त करने के बाद किस ओर को झुक जायगा, इस विषय में मार्क्सवाद मौन है। इसके आगे सम्भवतः उसे प्रकाश दिखाई नहीं देता। मार्क्सवाद यदि अन्धकार में है तो उसे उसी स्थिति में पड़े रहने दीजिए। पर यह प्रश्न तो किया ही जा सकता है कि रूसी प्रयोग अपने ही विनाश का पथ प्रशस्त कर रहा है? क्या वह ऐसे लक्ष्य की ओर अभिमुख है जो न केवल अस्थिर और अस्थायी है, वरन् जिसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयास स्वयं उसके विनाश का कारण होने वाला है।

ऐसे वातावरण में जब मानव-जाति को कोई मार्ग दिखाई न दे रहा हो, गाँधी एक नयी पद्धति लेकर उपस्थित होता है। मार्क्सवाद जहाँ भ्रान्ति में पड़ जाता है, जहाँ अपने विचार और कार्य-पद्धति में घोर असङ्गति उत्पन्न कर देता है वहीं गाँधी सीधी-सादी दृष्टि ग्रहण करके प्रश्न के मूल का भेदन करता दिखाई देता है। वह कहता है कि जगत् के कल्याण का यही एक उपाय है कि जीवन और समाज की रचना उन उज्वल नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों पर की जाय जो मनुष्य के शुभांश को जागरित करते हैं। इसी को वे दूसरे शब्दों में यह कह कर व्यक्त करते हैं कि जीवन और समाज की रचना अहिंसा के आधार पर की जाय। लोकतन्त्र हो या समाजवाद, इन आदर्शों की कल्पना में मनुष्य की अहिंसक प्रवृत्ति की ही झलक है। फलतः उनका सच्चा उदय तभी हो सकता

है जब उनकी प्रतिष्ठा अहिंसा के आधार पर हो और उसकी उपलब्धि के लिए तदनुकूल अहिंसक पथ का अवलम्बन किया जाय। विपरीत दिशा पकड़ कर गतिशील होना अनिवार्यतः आदर्श के विमुख जाना है। गाँधीजी यह स्वीकार करते हैं कि अहिंसा के आधार पर नव समाज की रचना करने के लिए यह आवश्यक है कि जगत् की आज की सारी व्यवस्था और स्थिति बदल जाय। बदल जाय इसलिये कि आज का सारा सङ्गठन, विधि और प्रवृत्ति हिंसा पर ही आश्रित है। इस परिवर्त्तन के लिये गाँधीजी जहाँ एक ओर परिस्थिति को बदल देना जरूरी समझते हैं वहीं दूसरी ओर मनुष्य को बदल देना भी आवश्यक समझते हैं। मार्क्सवाद की भांति उनकी दृष्टि में मनुष्य केवल परिस्थिति की प्रतिच्छाया-मात्र नहीं है। उन्हें मनुष्य के अन्तर्लोक में चेतन की स्वतन्त्रसत्ता प्रतिष्ठित दिखाई देती हैं। वह स्वीकार करते हैं कि परिस्थिति जीवन को प्रभावित करती है पर साथ ही यह भी मानते हैं कि जीवन की स्वतन्त्रचेतना परिस्थिति के निर्माण का प्रमुख तत्त्व है। इन दोनों का अस्तित्व है और दोनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रय है।

फलतः किसी की भी उपेक्षा करने से काम नहीं चल सकता। गाँधीजी की पद्धति जहाँ नयी परिस्थिति उत्पन्न करना चाहती है, वहीं उस मानव की चेतना के उद्बोधन का प्रयास भी करती है जो सहज ही शिवोन्मुख है। वे मानते हैं कि इस उद्‌बोधन के बिना अपेक्षित परिस्थिति की उत्पत्ति सम्भव न होगी। समाज की व्यवस्थाएँ और विधान जीवन के द्वन्द्वात्मक भाव के शुभाशुभ को प्रतिविम्बित करते हैं। यदि शुभ का जागरण न होगा तो उत्तम से उत्तम व्यवस्था का दुरुपयोग करने में मनुष्य संकोच न करेगा। फलतः मनुष्य को बदले बिना समाज का वास्तविक परिवर्तन नहीं हो सकता। मनुष्य-चेतना की स्वतन्त्रता को स्वीकार न करके मार्क्सवाद भूल करता है। वह जीवन और समाज की गतिविधि की सारी व्याख्या केवल आर्थिक दृष्टि से करके अर्थ को अनावश्यक धौर भयावह रूप से महत्त्व प्रदान कर देता है। एक ओर अर्थ

का समाजीकरण कर डाला गया, उत्पादन, विनिमय आदि के साधनों का भी राष्ट्रीकरण हो गया, मजदूर-विरोधी-वर्गों का दमन भी कर डाला गया, पर स्वार्थहीन, वर्गहीन, हिंसाविहीन समाजवादी समाज की स्थापना न हो सकी।

मार्क्सवाद का तो यह दावा है कि उपर्युक्त परिस्थिति उत्पन्न कर देने के बाद समाज अनिवार्यतः वर्गहीनता की ओर बढ़ेगा। आज यह स्पष्ट हो गया है कि वह अनिवार्यता अनिवार्य नहीं है। आप देख सकते हैं कि इच्छानुकूल परिस्थिति की रचना कर देने पर भी ऐसे लोगों तक का परिवर्त्तन नहीं किया जा सका जो क्रान्ति के नेता, करोड़ों नर-नारियों के जीवन-निर्माता तथा परिस्थिति के जनक थे। लेनिन की मृत्यु के बाद से लेकर अब तक कितने नेताओं को इस अपराध में प्राण-दण्ड दिया गया है कि वे किए-कराए तमाम काम को ही मटियामेट करना चाहते थे। आखिर स्टालिन ने ट्राटस्की और बुखारिन सदृश उद्भट नेताओं से लेकर न जाने कितने छोटे-मोटे सहकर्मियों तक को यमलोक क्यों भेज दिया? उन्हें यह आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई कि क्रान्तिकाल के प्रायः सभी साथियों को समाप्त कर डालें? आखिर बात क्या है? यदि स्टालिन का कहना सत्य है तो मानना होगा कि ट्राटस्की के सदृश लोग, जो दुनिया को बदलने चले थे, और जिन्होंने उस लक्ष्य को लेकर धरती को रुधिर से लाल कर दिया था, स्वयं ही भ्रष्ट थे। जब वे स्वयं नहीं बदल सके थे तो जगत् को कैसे बदलते? यदि स्टालिन द्वारा उनपर लगाया गया अभियोग मिथ्या है तो कहना होगा कि स्टालिन स्वयं अधिकार-लोलुप और और शक्ति-पूजक हैं। अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिये अपने साथियों पर झूठा अभियोग लगाकर उनकी हत्या कर डाली। और अपना मार्ग निष्कण्टक कर लिया। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि स्टालिन की दृष्टि में और उन्हें मार्क्सवाद की जीवित प्रतिमा समझने वाले कम्यूनिस्टों की दृष्टि में तीन को छोड़कर रूसी क्रान्तिके समस्त महामान्य नेता विश्वासघाती, क्रान्तिद्रोही और स्वार्थी थे। परिस्थिति के

प्रवर्त्तक अपनेही द्वारा उत्पन्न परिस्थिति से जब बदल न सके तो साधारण जन-जीवन के बदल जाने की आशा कैसे की जा सकती है ?

इसी कारण गाँधीजी दूसरे कोने से अग्रसर होते हैं वह मनुष्य की नैतिक अहिंसक वृत्तियों को प्रबुद्ध करके उसे बदल देना चाहते हैं। मनुष्य यदि बदल गया तो उसका समाज भी बदल जायगा। मनुष्य के बदल जाने की सम्भावना में सन्देह नहीं किया जा सकता। मार्क्स भी यह स्वीकार करते हैं कि सारा इतिहास मानव स्वभाव के क्रमिक परिवर्त्तन के सिवा और कुछ नहीं है। इसी उद्देश्य से गाँधीजी यह विधान करते हैं कि न्याय तथा सत्य के लिये स्वेच्छा-तप और कष्टसहन के मार्ग का अवलम्बन करके मनुष्य अपनी शुद्धि कर सकता है और अपने बलिदान द्वारा दूसरों के हृदयस्थ नैतिक भावों को झंकृत कर सकता है। यही पथ है जो मनुष्य को अधिकाधिक मानवीय बनाने में समर्थ होगा। मनुष्य के साथ-साथ नव-समाज की रचना के लिये भी वे नयी-दृष्टि और नया आधार उपस्थित करते हैं। आज की आर्थिक और राजनीतिक दुर्व्यवस्था की जड़ में वह केन्द्रीकरण की उस प्रवृत्ति को मुख्यतः उत्तरदायी समझते हैं, जिसका विकास उत्पादन की यान्त्रिक प्रणाली के द्वारा हुआ है। आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन, उसके साधन, उसकी वह प्रणाली केन्द्रित हुई, जिसके फलस्वरूप राजनीतिक शक्ति भी केन्द्रित हो गई। राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण अनिवार्यतः हिंसा को केन्द्रित करता गया। इस स्थिति में जनवर्ग का आर्थिक शोषण और राजनीतिक स्वत्वापहरण निश्चित है। मार्क्सवाद यद्यपि आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि को ही आदर्श मानता है तथापि उत्पादन की केन्द्रित प्रणाली और केन्द्रित साधन को बनाए रखना चाहता है। स्वभावतः उसे केन्द्रित राजसत्ता का अवलम्बन करना पड़ता है और उसकी रक्षा के लिये केंद्रित हिंसा और शक्ति का आश्रय ग्रहण करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। ऐसी दशा में वह लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

गाँधी जी यहीं मार्क्स से आगे जाते हैं। वे कहते हैं कि समाज

की प्रतिष्ठा यदि अहिंसापर करनी है, यदि जनवर्ग को आर्थिक तथा राजनीतिक समानता तथा स्वतन्त्रता प्रदान करनी है, तो उसका एकमात्र उपाय यह है कि उत्पादन के साधन को भी विकेन्द्रित कर दिया जाय। विकेन्द्रीकरण इस प्रकार हो कि उत्पादन के साधन केवल वैधानिक दृष्टि से नहीं वरन् प्रत्यक्षतः उत्पादक के अधिकार में हो। इस व्यवस्था से उत्पादन की पद्धति स्वतः विकेन्द्रित हो जायगी। इस प्रकार जब उत्पादन के साधन और उसकी पद्धति में परिवर्त्तन होगा तभी आधुनिक समाज का स्वरूप बदलेगा। मार्क्सवाद स्वयम् यह कहता है कि समाज का परिवर्त्तन उत्पादन के साधन तथा उसकी पद्धति में समय-समय पर होनेवाले परिवर्तनका परिणाम है। तात्पर्य यह कि नये समाज की रचना करने के लिये उत्पादन की पद्धति और साधन में परिवर्त्तन करना अनिवार्यतः अपेक्षित है। मार्क्सवाद समाज रचना करते समय आश्चर्यजनक रूप से इस सिद्धान्त को विस्मृत कर देता है। वह दुनिया को, मानव समाज को, उसकी व्यवस्था और दृष्टि को बदल देने का प्रयास करता है पर उत्पादन के साधन और उसकी प्रणाली को ज्यों का त्यों बनाए रखता है। वह जो करता है वह केवल यही है कि आज के सञ्चालक बदल जायँ और उनका स्थान दूसरा वर्ग ग्रहण करे। परिणाम यह होता है कि उत्पादन के आधुनिक तरीकों को बनाए रखने के फलस्वरूप केन्द्रीकरण की उस प्रवृत्ति और पद्धति को कहीं अधिक उग्र तथा तीव्र बना देना आवश्यक हो जाता है जो पूँजीवादी व्यवस्था की जननी तथा उसकी प्राणसञ्चारिणी है।

आज यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि पूँजीवाद केन्द्रीकरण को चरम सीमा तक पहुँचाने में व्यस्त है क्योंकि जगत् की वर्तमान स्थिति में उसे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये वही एकमात्र और अन्तिम उपाय दिखाई दे रहा है। फासिटी व्यवस्थाएँ स्थिर स्वार्थी वर्गों के उसी प्रयास और नीति के परिणाम हैं। मार्क्सवाद यद्यपि पूँजीवाद का शत्रु है तथापि वह उपर्युक्त केन्द्रवाद का सब से बड़ा पोषक और समर्थक है। वह यह भूल जाता है कि केन्द्रवाद सम्प्रति सारे अनर्थ का मूल हो रहा है। उसके

व्यूह को तोड़े बिना न समाजवाद का उदय होगा न वर्गहीन समाज का और न सच्चे लोकतन्त्र का। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रता तथा अधिकार का सम-उपभोग, जनवर्ग, तबतक कर ही नहीं सकता जबतक समस्त आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक शक्ति तथा अधिकार-सत्ता का विकेन्द्रीकरण न हो जाय। पूँजीवाद शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण पर ही अवलम्बित है और यही कारण है कि वह जन-वर्ग के शोषण और दलन का साधक हो रहा है यदि उसका मूलोच्छेद मानवता के विकास और उत्थान के लिये आवश्यक है तो उस केन्द्रीभूत यांत्रिक उत्पादन की प्रणाली पर ही कुठाराघात करना होगा जिसका परिणाम ही पूँजीवाद है। मार्क्सवाद यही नहीं करता पर गाँधी अपनी पद्धति से उसी पर चोट पहुँचा रहा है। उत्पादन के साधन और उसकी प्रणाली को आमूल परिवर्तित करके वह उस विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ना चाहता है जिस में जन-वर्ग आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी और उत्पादन का स्वामी बन सके। इस प्रकार आर्थिक स्वतंत्रता के आधार पर गाँधीजी नीचे से ऐसे समाज की रचना करना चाहते हैं जिसमें व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन किसी बाह्य सत्ता के हस्तक्षेप से यथासम्भव मुक्त हो। वही स्थिति हो सकती है जब सच्ची राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता तथा समता का उद्भव होगा। गाँधी को समाजवाद तथा लोकतंत्र का उदय उसी दशा में सम्भव दिखाई देता है। यही है उसकी तद्बिषयक नयी कल्पना।

शक्ति-सम्पन्न केन्द्रस्थित अधिनायक-सत्ता की स्थापना कर के आर्थिक और राजनीतिक संघटन का सारा संचालन उसके हाथ में सौंप देने के बाद यह आशा करना कि एक दिन वह स्वयम् सारी शक्ति का विसर्जन करके अपने को अमूर्त कर देगी ऐसी प्रचण्ड प्रवचंना है जिसकी मिसाल भी मिलना मुश्किल है। गाँधी न ऐसी भ्रान्ति का शिकार है और न असंगति का। वह सीधे और सरल ढंग से आर्थिक उत्पादन की प्रक्रिया के विकेन्द्रीकरण का आयोजन उपस्थित करता है जिसके फल-स्वरूप राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण की आशा की जा सकती है।

समानता और स्वतंत्रता का विकास नीचे से होना चाहिए जो ऊपर से लदने वाली शक्ति-सत्ता को क्रमशः निष्क्रिय और अनावश्यक बनाते हुए एक दिन निर्जीव कर दे। जगत् के भावी समाज को सच्चा समाजवाद तथा लोकतंत्रवादी समाज बनाना उसी स्थिति में सम्भव है जब समाज और व्यक्ति का जीवन अहिंसा के आधार पर प्रतिष्ठित किया जाय। अहिंसा को समाज का आधार बनाने की पहली शर्त यह है कि अधिकार तथा शक्ति-सत्ता को यथासंभव अधिक से अधिक विकेन्द्रित कर दिया जाय। गाँधी विकेन्द्रीकरण की वही योजना उपस्थित करता है। एक ओर मनुष्य का हृदय प्रबुद्ध तथा नैतिक भावनापन्न हो और दूसरी ओर समाज की व्यवस्था ऐसी हो कि उससे संभूत वातावरण और परिस्थिति अहिंसात्मक वृत्तियों से ओत-प्रोत हों। इस प्रकार जिस जीवन और जिस जगत् का निर्माण होगा वह मानव समाज को स्वतंत्रता, समानता और शान्ति प्रदान कर सकेगा।

आज तो उत्पादन की प्रक्रिया और वे साधन, जिनका काम था जीवन की रक्षा तथा समाज के सुख की वृद्धि के लिए आवश्यक पदार्थों का निर्माण करना, विनाश-संभार की उत्पति करने में संलग्न हो रहे हैं। वह राज-सत्ता जिसकी उपयोगिता और सार्थकता व्यक्ति तथा समाज के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा में है आज उसके निर्दलन और त्रास का साधन हो गया है। इस संकट से मानवता का उद्धार करने के लिये यूरोप में हुए अब तक के प्रयोग विफल हुए-से प्रतीत हो रहे हैं। उनकी स्थिति "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" की ही दिखाई दे रही है। आज अवसर उपस्थित है जब जगत् के विचारशील व्यक्तियों तथा मनीषियों को सेगाँव के इस संत की ओर ध्यान देना चाहिए, पक्षपात, हठधर्मी तथा दुराग्रह और विचार-विशेष के प्रति अपने अंधप्रेम को छोड़कर यह देखना चाहिए कि क्या उसकी पारदर्शी दृष्टि समस्या के मूल तक नहीं पहुँच रही है और क्या उसके सुलझाव का जो उपाय वह उपस्थित कर रहा है वह अधिक सजीव, उपयुक्त और मौलिक नहीं है।

फासिटीवादी प्रयोग

फासिटीवाद या नाजीवाद के नाम से यूरोप की भूमि पर जो जघन्य प्रयोग गत दो दशकों से आरम्भ हुआ रहा उसकी तुलना गाँधीजी के विचारों और उनकी शैली से करना वैसे ही है जैसे अन्धकार की तुलना प्रकाश से अथवा पशुता की मानवता से की जाय। उन दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। फासिटीवाद या नाजीवाद को प्रयोगात्मक पद्धति के रूप में चित्रित करना भी अनुचित है। मैं समझता हूँ कि वह प्रयोग नहीं प्रतिशोध की भावना से प्रवर्तित प्रचण्ड चीत्कार है जिसकी रोमांचक ध्वनि से धरती कम्पित हो चुकी है। वह पूँजीवादी पाप की पराकाष्ठा से सम्भूत प्रतिक्रिया है जो बर्बरता की ओर मानव समाज के प्रत्यावर्तन का परिचायक है। जो लोग मार्क्सवादी दृष्टि से फासिटीवाद की विवेचना करते हैं वे कहते हैं कि मरणोन्मुख पूँजीवादी व्यवस्था अपनी अन्तर्निहित विरोधी शक्तियों के द्वारा त्रस्त होने के उपरान्त अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये अन्तिम संघर्ष और प्रयास करने को बाध्य हुई है। फासिटीवाद या नाजीवाद पूँजीवादी व्यवस्था के उसी प्रयास की अभिव्यञ्जना है।

मार्क्सवादियों के मतानुसार वह गृह-युद्ध है पूँजीवादी लुटेरों में जो पारस्परिक स्वार्थ की टक्कर के फलस्वरूप भड़क उठा है। मार्क्सवादी फासिज्म की मीमांसा करते हुए चाहे जो कहें पर जगत् के गत २० वर्षों के इतिहास को देख कर मैं इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि फासिटीवाद में पूँजीवादी व्यवस्था की रक्षा का अन्तिम प्रयास उतना व्यक्त नहीं है जितना उस व्यापक हृदय-दाह का प्रकटीकरण है जिसे स्वयम् पूँजीवाद ने अपनी कुनीति और पापसे सुलगा दिया। गत युद्ध के बाद यूरोप का प्रवाह पूँजोवादी लोकतन्त्र के विरुद्ध बह चला। मार्क्स-

वादी प्रयोग स्वयम् पूँजीवाद के गर्भ से उत्पन्न होकर उसका विनाश करने के लिये उसी युग में सक्रिय हो उठा। फासिटीवाद भी उसी युग में उसी गर्भ से उत्पन्न होकर उसे चबा जाने के लिये मुँह बाए खड़ा हो गया। फ़ासिटीवाद लोकतन्त्रात्मक पूँजीवाद की सारी व्यवस्था और कल्पना, आदर्श और व्यवहार का प्रतिवाद है। संक्षेप में वह यूरोप की आधुनिक संस्कृति की जड़ काटने के लिए उद्यत कठोर कुठार के समान है।

यूरोप में फासिज्म का उदय जिन परिस्थितियों में हुआ और जिस प्रकार हुआ वह लम्बी कहानी है जिसका वर्णन करना यहाँ सम्भव न होगा। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि गत महायुद्ध के बाद यूरोप में युद्ध के फलस्वरूप जिन नयी रियासतों का जन्म हुआ वे जहाँ एक ओर लोकतन्त्रवादी आदर्शों और सिद्धान्तों के आधार पर अपना सङ्गटन करने में लगी हुई थीं वहीं दूसरी ओर उन सिद्धान्तों को चुनौती देने-वाली प्रवृत्तियाँ तीव्र वेग से काम कर रही थीं। रूस में बोलशेविक क्रान्ति हो चुकी थी जिसने पूँजीवादी लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था और कल्पना की सारी जड़ हिला दी थी। याद रखने की बात है कि फासिज्म का उदय बोल्शेविक क्रान्ति के बाद हुआ। यूरोप के अनेक देशों मे जिस समय मार्क्सवादी धारणाएँ फैल रही थीं, जिस समय मजदूर-क्रान्ति की आवाज चारों ओर गूँज रही थी और यूरोप के देश विशेष-कर वे देश जो युद्ध मे पराजित हो चुके थे आन्तरिक विद्रोह और सङ्घर्ष की आग में जल रहे थे उस समय इटली में फासिटीवाद का उदय हुआ। यदि मार्क्सवाद पूँजीवाद और पूँजीवादी कल्पना का प्रतिवाद था तो फासिटीवाद न केवल पूँजवादी लोकतन्त्र का प्रत्युत सारी समाज-वादी कल्पना की प्रतिक्रिया और उसके शत्रु के रूप में उत्पन्न हुआ। वह यदि लोकतन्त्रात्मक उदार राजनीतिक सिद्धान्तों के विरुद्ध था तो समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीयता और आर्थिक स्वतन्त्रता और समानता के विरुद्ध भी था।

यदि यह खुली प्रतिद्वन्द्विता और व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा मुनाफा के आधार पर स्थापित पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध था तो उत्पादक मजदूर अधिनायक सत्ता और व्यक्तिगत सम्प को मिटा कर उत्पादन के साधनों पर व्यापक जनवर्ग के अधिकार की स्थापना के विरुद्ध भी था। फासिटी-वाद ने पूँजीवादी लोकतन्त्र और समाजवादी वर्गहीन व्यवस्था, दोनों के विरुद्ध समान रूप से तलवार उठाई। फासिटीवाद का उदय क्यों हुआ इसकी मीमांसा करने के लिये तत्कालीन परिस्थिति पर उड़ती हुई दृष्टि डालनी पड़ेगी। यह विचारणीय है कि उस इटली में फासिटी प्रवृत्तियों ने कैसे जन्म ग्रहण किया जिसने 'मेजनी' और 'बेवूर' को जन्म प्रदान किया था ? यूरोप का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्नीसवीं शताब्दी में इटली एकता और स्वतन्त्रता के महान् संघर्ष में उज्वल स्थान प्राप्त करने में समर्थ हुआ था। 'मेजनी' उन लोकतन्त्रात्मक उदार विचारों के यशस्वी प्रवक्ता और पोषक थे जिन पर पश्चिमी लोकतन्त्र का विकास हुआ था। उसी इटली में फासिटीवाद की विभीषिका कैसे उत्पन्न हो गयी ?

इस प्रश्न का उत्तर यदि आप ढूँढ़ें तो स्पष्ट रूप से यह पायेंगे कि फासिटीवाद का जन्म प्रतिरोध की उस भावना के गर्भ से हुआ जिसका सर्जन गत महायुद्ध के विजयी राष्ट्रों की कुनीति ने कर दिया था। उस युद्धमें इटली मित्र राष्ट्रों का साथी बनकर प्रविष्ट हुआ था। युद्धारम्भ के समय वह उस त्रिराष्ट्र-गुट का सदस्य था जिसमें जर्मनी-आष्ट्रिया सम्मिलित थे। परिणाम स्वरूप युद्धके आरम्भिक वर्षों में इटली तटस्थ राष्ट्र बना रहा। पर समय आया जब मित्र राष्ट्रउसे प्रलोभन देकर युद्धमें उतरने के लिये राजी करने में समर्थ हुए। सन् १९१५ ई० में लण्डन में एक गुप्त सन्धि हुई जिसमें इटली को व्यापक भू-प्रदेश प्रदान करने का वचन दिया गया। कहा गया कि ट्रेन्टिनो और टिरोल का प्रदेश, इष्ट्रिया और डालमेशियन का तट, अल्बानिया और अरेलिया तथा अफ्रिका में तुर्क और जर्मन साम्राज्य के प्रदेश विजयोपरान्त उसे प्रदान कर दिए जायेंगे।

इस सन्धि में ब्रिटेन के साथ फ्रांस और रूस भी सम्मिलित थे। इस प्रलोभन को पाकर इटली अपने पुराने मित्रों को छोड़, उनके विरुद्ध खड्ग उठाकर युद्ध में उतरा।

युद्ध में इटालियन सैनिकों ने बड़ी वीरता दिखाई, प्रायः सात लाख से अधिक इटालियन सैनिक मारे गए पर युद्ध के उपरान्त सन्धि-सम्मेलन में इटली को फ्रांस और ब्रिटेन ने अँगूठा दिखा दिया। इस अवस्था में अपने को पाकर इटालियन राष्ट्र क्षुब्ध हो उठा। उसने देखा कि उसे धोखा हुआ, उसका अपमान किया गया, बलशील लुटेरों ने लूट के माल का अकितर भाग स्वयम् बाँट लिया और उसे उसके त्याग तथा बलिदान का कुछ भी पुरस्कार न मिला। इधर इटली की आन्तरिक स्थिति युद्ध की प्रतिक्रिया के कारण खराब हो चुकी थी। उसका आर्थिक जीवन नष्ट हो चुका था, महँगी के कारण साधारण जनवर्ग भूखों मर रहा था, बेकारी व्यापकरूप से फैली हुई थी। युद्धस्थल से लौटने वाले सैनिक अपने देश में वापस आकर इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे थे। न उनके लिये काम था और न पेट भरने को दाना। देश की सरकार की नीति के विरुद्ध इस स्थिति में विक्षोभ का फैलना स्वाभाविक था। सब देश की दुर्दशा के लिये सरकार को ही जिम्मेदार ठहरा रहे थे। युद्ध में भाग क्यों लिया गया, क्यों देश तबाह किया गया, लाखों की गरदन क्यों कटाई गयी? क्या यह सब इसीलिये था कि युद्ध के बाद देश तबाह हो, राष्ट्र जगत् में अपमानित हो? वे वादे कहाँ गए जो युद्ध के पूर्व किए गए थे? कहाँ गए वे भूप्रदेश जिनके मिलने की बात कही जाती थी?

इस असन्तोष और क्षोभ के फलस्वरूप सन् १९१९ और १९२० में इटली आन्तरिक संघर्ष, गुप्त संघटनों, राजनीतिक हत्याओं और हड़तालों तथा उपद्रवों का शिकार हो गया था। देश में अनेक राजनीतिक दल उत्पन्न हो गए थे जो परस्पर टकराते तथा अशान्ति और अव्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करते। एक ओर रूसी क्रान्ति से प्रभावित

भावनाएँ फैल रही थीं जो इटली के मजदूरवर्ग तथा शोषित और त्रस्त जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर रही थीं। मजदूरों की हड़-ताल आए दिन हो रही थी, सैकड़ों कल-कारखानों पर मजदूरों के संघटन कब्जा करके बैठ गए थे। दूसरी ओर राष्ट्रवादियों का ऐसा दल बन गया था जो अन्तर्राष्ट्रीयतावादी कम्यूनिस्टों से देशको बचाना चाहता था। ऐसे दल में वे तमाम वर्ग सम्मिलित थे जो सम्पत्ति-शाली थे और जिन्हें समाजवादी विचारों की विजय में अपना विनाश दिखाई दे रहा था। वे राष्ट्रवाद के नाम पर अपना हित-साधन करना चाहते थे।

इन दोनों के सिवा देश का एक अत्यधिक वर्ग ऐसा था जो न मजदूर था न पूँजीपति और न सुविधा-सम्पन्न था। छोटे-मोटे व्यापारी, टुटपुँजिए किसान, वे सैनिक और कर्मचारी जो युद्ध-स्थलसे वापस आए थे, छोटे दूकानदार और नौकरी-पेशा लोग थे जो देश की अव्यवस्था और दुरवस्था से उत्पीड़ित थे। उन्हें शान्ति चाहिए थी, सुरक्षा अपेक्षित थी और अभीष्ट था अपने राष्ट्र का सम्मान जिस पर विजयी राष्ट्रों ने गहरी ठेस मारी थी। उन्हें क्षोभ था अपनी सरकार से जो देश को युद्ध में झोंक कर बिना किसी लाभ के तबाह और बेइज्जत करने का कारण हुई थी। उन्हें क्षोभ था उन राजनीतिक दलोंसे जो संघर्ष और अव्यवस्था उत्पन्न करके अपने स्वार्थ का साधन तो करना चाहते थे पर राष्ट्रीय सम्मान और सुरक्षा और मध्यवर्गीय लोगों का हित-सम्पादन करने की ओर उन्मुख दिखाई नहीं देते थे। यह मध्यम वर्ग यद्यपि, बहुसंख्यक था, देश की स्थिति से रुष्ट था तथापि संघटन और नेतृत्वके अभाव में निष्क्रिय और निर्बल बना हुआ था। वह एक ओर स्थिर-स्वार्थी पूँजीपतियों से रुष्ट था तो दूसरी ओर उस दल से भी भयभीत था जो मजदूरों के एकमात्र हित में देश का कल्याण देखते थे। दोनों की नीति उसके हित के विरुद्ध थी। वह चाहता था ऐसी व्यवस्था जिसमें उसकी रोटी सुरक्षित हो, देश में

शान्ति और सुव्यवस्था हो, उसे प्रतिष्ठा और पद प्राप्त हो तथा उसके राष्ट्र का जगत् में सम्मान हो।

यह परिस्थिति थी जब मुसोलिनी का उदय हुआ। मुसोलिनी के फासिटीवाद की कल्पना उग्र राष्ट्रवादिता पर स्थापित थी। उसमें इटली के अतीत गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने की भावना व्यक्त थी। इटालियन राष्ट्र को बलवान् बनाने की इच्छा थी, देश में सुदृढ़ हाथों के द्वारा अधिकार-सत्ता स्थापित करने की चाह थी, समाजवादी अंतर्राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवादी ढिलाई तथा निर्बलता का विरोध था। साथ-साथ फासिटीवाद उस आर्थिक योजना और माँग को लेकर सामने आया था जो मध्यवर्ग के आर्थिक और सामाजिक हित के अनुकूल था। मुसोलिनी ने किस प्रकार शासनाधिकार प्राप्त किया, किस प्रकार समाजवादियों का एक ओर और पूँजीपतियों का दूसरी ओर दमन किया, किस प्रकार अपने दल का संघटन किया आदि बातों के वर्णन में यहाँ पड़ना व्यर्थ है। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि फासिटीदल का संघटन मुख्यतः उस मध्यमवर्ग को लेकर हुआ जिसका उल्लेख ऊपर किया है। अनुकूल परिस्थिति पाकर इटली में मुसोलिनी शासनारूढ़ होने में सफल हुए। धीरे-धीरे अपने समस्त विरोधियों का संहार करके वे इटालियन राष्ट्र के सर्वेसर्वा बन गए। इतिहास यह सिद्ध करता है कि मेज़िनी, गेरिवाल्डी और कैवूर के इटली में फासिटीवाद का उदय न हुआ होता यदि युद्ध के बाद पूँजीवादी लोकतन्त्रात्मक विजयी राष्ट्रों की नीति से उसे यह आभास न मिला होता कि उसे धोखा दिया गया और स्वार्थियों ने युद्ध में प्राप्त हुई विजय को उसके लिये पराजय में परिणत कर दिया।

फलतः मैं यह देखता हूँ कि फासिटीवाद का जन्म प्रतिशोध और विक्षोभ की भावना के उदर से ही हुआ। इसी प्रकार नाज़ीवाद के जन्म के इतिहास पर आप दृष्टिपात करें तो यह देखेंगे कि हिटलर जर्मन राष्ट्र के उस हृदय-दाह से सम्भूत है जिसका प्रज्वलन युद्ध के

बाद विजयी राष्ट्रों ने कर दिया। पूर्व के पृष्ठों में एकाधिकबार उस अपमानजनक परिस्थिति का उल्लेख किया जा चुका है जिसमें जर्मनी झोंक दिया गया था। जर्मनी के साथ जो स्वार्थपूर्ण और अन्याय-मूलक नीति बरती गयी, जिस प्रकार एक जीवित राष्ट्र को सदा के लिये मटियामेट कर डालने का कुचक्र रचा गया और जिस प्रकार पराजित जर्मनी के मस्तक पर पदाघात करने की चेष्टा की गयी वह आधुनिक इतिहास की ज्वलन्त घटना है जिसपर विस्तार से लिखने की आवश्यकता यहाँ नहीं है। यहाँ केवल इतना कहना अलम् होगा कि उस दुर्नीति की प्रतिक्रिया हिटलरवाद के रूप में ही मूर्त हो सकती थी। इस प्रकार इतिहास की गति का अध्ययन करने के बाद इसी परिणाम पर पहुँचना अनिवार्य होता है कि फाजिज्म अथवा नाजीवाद पूँजीवादियों द्वारा पूँजीवाद की रक्षा का अन्तिम प्रयास हो चाहे न हो पर प्रतिशोध की आग में जलनेवाले राष्ट्रों के रोष का विस्फोट अवश्य है जो एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीवादी लोकतन्त्र का विनाश करना चाहता है तो दूसरी ओर प्रगतिशील समाजवादी कल्पना की जड़ भी काट देना चाहता है।

यह समझना भी साधारण नहीं है कि 'फासिटीवाद' या 'नाजीवाद' पूँजीवादी वर्गों का आन्दोलन है। इटली के सम्बन्ध में ऊपर लिखा जा चुका है और जर्मनी का इतिहास भी यही सिद्ध करता है कि इन आन्दोलनों का आधार असन्तुष्ट, क्षुब्ध तथा तीव्र राष्ट्रवादिता से परिपूर्ण मध्यमवर्ग रहा है। यह सच है कि घटनाचक्र ने इटली और जर्मनी के फासिस्टों और नाज़ियों की सहायता पूँजीवादी वर्गों से कराई। इसका कारण तत्कालीन यूरोप में प्रबल वेग से बहती हुई समाजवादी विचारधारा का भय था। स्थिर-स्वार्थीवर्ग रूस की दशा देख रहे थे। वे यह भी देख रहे थे कि यूरोप का कोना-कोना उन विचारों और आदर्शों से आलोड़ित हो रहा है। वे भली-भाँति अनुभव कर रहे थे कि इस प्रवाह के सम्मुख उनकी जर्जर व्यवस्था तथा

उनका वर्गहित टिक न पावेगा। उन्हें अपना भविष्य अन्धकारमय दिखाई दे रहा था क्योंकि उनको ललकारने वाली विरोधी शक्तियाँ उनका विनाश करने के लिये उद्यत दिखाई दे रही थीं। इटली में, जर्मनी में तथा मध्य यूरोप के अन्य देशों में, बालकन के प्रदेश में युद्धके बाद समाजवादी विद्रोह हो चुके थे। ऐसे समय उन्हें फासिटी और नाजी कल्पनाओं में वह शक्ति दिखाई पड़ी जो सफलतापूर्वक समाजवादी धारा का अवरोधन कर सकती थी। फलतः उनका तत्काल लाभ उक्त आन्दोलनों की सहायता करने में दिखाई दे रहा था। यही कारण है कि पूँजोवादी वर्ग की सहायता फासिटीवाद और नाजीवाद को प्राप्त हुई। उससे लाभ उठा कर मुसोलिनी और हिटलर ने समाजवाद का प्रतिरोध किया। पर यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने उसी प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीवादी लोकतन्त्र का गला भी घोंटा। दोनों को धराशायी करके नयी कल्पना और नयी व्यवस्था की प्रतिष्ठा करने चेष्टा की।

अब संक्षेप में फासिटीवाद के स्वरूप पर विचार कर लीजिए। उसके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक तथा जीवन-सम्बन्धी आदर्श की मीमांसा कीजिए तो आप यह पाएँगे कि उसमें न कोई दर्शन है, न कोई अभिनव विचारपद्धति और न कोई विशेष सिद्धांत। उसमें इतिहास के अन्धकार-युगीन भावनाओं का समावेशमात्र दिखाई देता है जिनके आधार पर उसकी सारी दृष्टि, सारी योजना और सारी नीति अवलम्बित है। यह सच है कि अब कुछ विद्वान् और विचारक फासिटीवाद के दार्शनिक आधार की रूप-रेखा अङ्कित करने लगे हैं पर इतना मानना पड़ेगा कि आरम्भ में उसका जन्म किसी निश्चित दार्शनिक दृष्टिकोण तथा सैद्धान्तिक आधार को लेकर नहीं हुआ। अवश्य ही फासिटोवाद के नाम से एक धारा बह चली और जैसे-जैसे वह विस्तृत होती चली वैसे-वैसे उसे निश्चित विचार पद्धति का स्वरूप देने की चेष्टा की गई। स्थूल रूप से इतना ही कहा जा

सकता है कि फासिटीवाद यूरोप के तत्कालीन राजनीतिक संघटन और व्यवस्था को ऊपर-ऊपर बदल देने के महाप्रयास के रूप में आरंभ हुआ। मेरा तात्पर्य यह है कि फासिटीवाद मार्क्सवाद की भांति समाज के आधारभूत आर्थिक संघटन को बदल कर सारी सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित करने तथा समाज के परिवर्तन के फलस्वरूप राजनीतिक ढांचे को बदलने के बखेड़े में पड़ता दिखाई नहीं देता। वह समाज के राजनीतिक संघटन को अपनी कल्पना के अनुसार एकबारगी बदलने की चेष्टा अवश्य करता है। और चाहता है कि सारा आर्थिक और सामाजिक संघटन उस राजसत्ता के हित में सहायक हो जिसकी स्थापना वह करता है। इतना ही नहीं प्रत्युत सारे आर्थिक और सामाजिक संघटन की सार्थकता इसी में समझता है कि वह फासिटी राजसत्ता की बलवृद्धि और परिपोषण करे।

फलतः फासिटीवाद में राजसत्ता-सम्बन्धी कल्पना ही मुख्य है। उस कल्पना को जैसे भी हो साकार रूप प्रदान करना उसकी एकमात्र नीति है। उसकी दृष्टि में शासनसत्ता का अस्तित्व ऐकान्तिक और अक्षुण्ण है। वह किसी का साधन नहीं अपितु स्वयम् ही साध्य है। वह अपने में ही परिपूर्ण है और अपने प्रयोजन की ही पूर्ति करता है। फासिटीवाद मानता है कि जीवन के समस्त नैतिक और आध्यात्मिक साध्यों का समन्वित रूप स्वयम् ही शासनसत्ता है। यही कारण है कि उसकी दृष्टि में शासनसत्ता व्यक्ति तथा समाज की परिधि का अतिक्रमण कर जाती है। उसकी कल्पना में व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त केवल शासनसत्ता के लिये अस्तित्व रखता है। अतः वह यह नहीं मानता कि व्यक्ति का कोई व्यक्तिगत हित या अधिकार भी हो सकता है। यदि उसका कोई हित है और कोई अधिकार है तो वह शासनसत्ता के हित और अधिकार से भिन्न नहीं है। अर्थात् उसकी दृष्टि में व्यक्ति सरकार के लिये है और सरकार स्वतः साध्य है। व्यक्ति का कल्याण इसी में है कि वह शासनसत्ता के हित में

अपना लय कर दे। उसका एकमात्र कर्त्तव्य भी यही है ।

फासिटीवाद जहाँ यह समझता है कि सरकार के हित में अपने को उत्सर्ग कर देना व्यक्ति का लक्ष्य और कर्त्तव्य है वहीं वह यह भी समझता है कि व्यक्ति के प्रति सरकार का कोई भी कर्त्तव्य नहीं है। सरकार के लिये उसकी दृष्टि में नैतिकता का भी कोई बन्धन नहीं है। क्योंकि वह यह मानता है कि शासन-सत्ता स्वयम् ही नैतिकता का स्रोत है और वही नैतिकता का निर्माण भी करती है। मुसोलिनी कहते हैं "वह सरकार ही है जो नागरिक को नागरिक बनाती है, उसे अपने व्यक्तित्व की चेतना प्रदान करती और समाज में एकात्मता की सृष्टि करती है। सरकार की अक्षुण्णसत्ता स्वयम् ही मूर्त्त नैतिकता है अतः वह जो करे वही उचित तथा विधेय है।" इसी सिद्धान्त के आधार पर उचित-अनुचित तथा नीति-अनीति-विषयक फासिटीवाद की धारणा आश्रित है। वह समझता है कि उचित और अनुचित का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। सरकार जिसे कह दे और जो कर दे वही उचित है।

जर्मन नाजियों की कल्पना भी इस सम्बन्ध में इटालियन फासिस्टों से भिन्न नहीं है। श्री वागनर कहते हैं कि "हिटलर जो निश्चय कर देते वही उचित है और अनन्त काल के लिये वही उचित होता है। सरकार-सम्बन्धी इस धारणा में दूसरी दृष्टि हो ही कैसे सकती है। जो सरकार को सर्वशक्तिमान् मानता हो, जो उसे स्वतः साध्य समझता हो उसकी दृष्टि में उसके लिये न कोई कर्त्तव्य हो सकता है और न नीति-अनीति का कोई बन्धन। सर्व शक्तिमान् निरंकुश सत्ता वास्तव में वह शक्ति है जिससे उत्कृष्ट अथवा आदरणीय दूसरा कोई पदार्थ हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि फासिटीवाद न व्यक्तिको, न समाज को, न जगत् को, न किसी आदर्श, सिद्धांत लक्ष्य या नीति को शासन-सत्ता से बड़ा मानता है और न मान सकता है।

इस शासनसत्ता की रचना कैसे होती है इस विषय में भी

फासिटीवाद की कल्पना भयावनी है। वह कहता है कि ऐसी सरकार की स्थापना वह समूह करता है जिसका निर्माण 'अधि-पुरुषों' के द्वारा होता है। पाठक जानना चाहेंगे कि अधिपुरुषों की यह कौनसी बला है। फासिटीवाद यह मानता है कि जगत् में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं। एक प्रकार वह होता है जो शासन करने के लिये ही जन्म-ग्रहण करता है। दूसरे वर्ग की सृष्टि केवल इस लिये होती कि वह शासित हो और शासकवर्ग की इच्छा तथा उसके संकल्प की पूर्ति का साधन बना रहे। यह शासकवर्ग ही 'अधि-पुरुषों' का समूह होता है। 'अधि-पुरुषों' का लक्षण यह है कि उनमें संकल्प की और इच्छा की शक्ति होती है। उसके संकल्प और उसकी इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति बलपूर्वक शासनसत्ता को अपने अधिकार में कर लेने में ही होती है। शस्त्र, संघर्ष और पशुशक्तिके द्वारा 'अधि-पुरुष' शासनसत्ताका निर्माण करके अपनी इच्छाशक्ति और संकल्प-बल का अभिव्यञ्जन करता है। दूसरा वर्ग वह है जो इच्छाहीन, संकल्पहीन और शक्तिहीन होता है। उसका एकमात्र कर्त्तव्य यही है कि वह 'अधि-पुरुष' के सम्मुख अपना सिर झुका दे और उसके संकल्प और इच्छा की पूर्त्तिका साधक बन जाय।

फासिटीवाद की कल्पना यहीं समाप्त नहीं होती। वह और आगे बढ़ता है तथा यह घोषणा करता है कि 'अधि-पुरुषों' का यह गुट भी एक व्यक्ति के नेतृत्व से ही सञ्चालित होता है। वह समझता है कि नेता का निर्वाचन नहीं अवतार होता है। न जाने किस रहस्यमय, अमूर्त अभौतिक कारणों के फलस्वरूप किसी में नेतृत्व का आवेश हो जाता है और नेता समुपस्थित दिखाई देता है। फासिटीवाद के इस नेता के सम्मुख 'अधि-पुरुषों' का शासकवर्ग आदर से नत मस्तक हो जाता है। फासिस्टों की दृष्टि में यह नेता शक्ति, नैतिकता, सत्य और औचित्य का मूर्त्तस्वरूप है। उसकी इच्छा ही विधान है। वह जो कहे वही न्याय और जो करे वही उचित है। उसे अपने मन के अनुकूल

शासनयन्त्र का निर्माण कर लेने का अक्षुण्ण अधिकार है। वह जिसे चाहे अपना सहायक नियुक्त कर ले और शासन का उत्तरदायित्व जिस प्रकार तथा जिसपर छोड़ना चाहे छोड़ दे। सरकार का सारा अङ्ग-उपाङ्ग और ढाँचा एकमात्र नेता के प्रति ही उत्तरदायी है, उसी के संकेत पर उसे चलना है और उसी के आज्ञानुसार कार्य करना है। ऐसे नेता और उसकी ऐसी सरकार न किसी के अंकुश में है और न उसकी शक्ति तथा विस्तार की कोई सीमा है।

फासिटीवाद यह मानता है कि व्यक्ति और समाज के जीवन के प्रत्येक अंश, विभाग और क्षेत्र पर शासन-सत्ताका अबाध, अपरिमित और स्वच्छंद अधिकार है। व्यक्ति क्या करे और क्या न करे, क्या सोचे और क्या समझे, क्या पढ़े और क्या लिखे, किससे मिले और कौन सा व्यवसाय करे आदि समस्त बातों का निर्धारण करने का सम्पूर्ण अधिकार नेता को प्राप्त है। उसके निर्णय में किसी प्रकार के संदेह करने अथवा उसका विरोध करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। और तो और फासिटीवाद यह भी समझता है कि क्या सत्य है क्या नहीं है। इसका निर्णय भी नेता ही करता है। वह यह नहीं मानता कि सत्य की कोई निरपेक्ष सत्ता अथवा प्रतिष्ठा है। वह समझता है कि सत्य की रचना भी मनुष्य ही करता है और वह रचना करने का अधिकार उसे है जो अधिपुरुष है और जो अपनी इच्छा की शक्ति और शस्त्र के बल का आश्रय लेकर सारे समाज के जीवन का सूत्रधार बन जाता है। फासिटीवाद तो यहाँ तक स्वीकार कर लेता है कि नेता अपने लक्ष्य की सिद्धिमें जिसे सहायक समझेगा वही होगा सत्य और असत्य होगा वह जिसे बाधक मानता होगा।

सत्य और असत्य की ऐसी उत्क्लेदक और रोमांचक व्याख्या कहाँ मिलेगी ? पर फासिटीवाद ऐसी कल्पना करने से भी न चूका। हिट-लर अपने 'मेनकैम्फ' में निस्संकोच असत्य के अवलम्बन का समर्थन करते हुए कहते हैं कि अपने हित के लिये असत्य को ग्रहण करके

उसका प्रचार इस तीव्रता और उग्रता के साथ करना चाहिए कि वही सत्य ज्ञात होने लगे। विचार कीजिए जहाँ सत्य की भी ऐसी छीछालेदर हो रही हो वहाँ संस्कृति, ज्ञान और विवेक के लिये स्थान कहाँ हो सकता है। मनुष्य-जीवनकी सबसे महती विभूति और विशेषता सत्य के अनुशीलन की उसकी प्रवृत्ति ही है। संस्कृतियों का बीज इसी प्रवृत्ति के गर्भ में आरोपित है। जहाँ उसकी सत्ता भी मिटा दी जाय वहाँ ज्ञान की उपासना और वास्तविकता के साक्षात्कार की संभावना भी कहाँ रह सकती ? फासिज्म की इस दृष्टि और धारणा का ही यह परिणाम है कि उसके अधीन स्वतन्त्र विचार, स्वतन्त्र मनन तथा स्वतन्त्र और सत्यज्ञान के लिए स्थान भी नहीं रहा। विज्ञान हो या कला, साहित्य हो या दर्शन, इतिहास हो या राजनीति, धर्म-शास्त्र हो या आचारशास्त्र किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व फासिटीवाद की दृष्टि में नहीं है।

सभी ज्ञान, विचार अथवा शास्त्र को वही रूप ग्रहण करना होगा जो रूप प्रदान करना नेता को अभीष्ट है। वैज्ञानिक, कलात्मक दार्शनिक अथवा ऐतिहासिक किसी भी वास्तविकता का कुछ भी महत्त्व नहीं है। नेता जिस दृष्टि से इतिहास को देखे उसी के अनुकूल रूप ग्रहण करने के लिये इतिहास को बाध्य होना पड़ेगा। यदि नेता यह कहता है कि जर्मन जाति ही आर्यों की जाति है और जो जगत् की समस्त जातियों से भिन्न है तथा ईश्वरने भूमंडल पर एकच्छत्र शासन करनेके लिये उसकी सृष्टिकी है तो वही सत्य होगा और प्राणि-विज्ञान तथा इतिहास को उसी सिद्धांत का प्रतिपादन करना होगा। भले ही ऐतिहासिक अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से यह सिद्धान्त निराधार हो, भले ही वह विक्षिप्त का प्रलापमात्र हो पर समस्त विश्वविद्यालयों को और बड़े-बड़े वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक पंडितों को उसी की शिक्षा देनी पड़ेगी। ग्रन्थकारों, लेखकों और रचयिताओं तक को तत्सम्बन्ध में वही लिखना पड़ेगा जिससे नेता के उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा प्रचार हो सके।

फासिस्ट कहता है कि "विज्ञान का लक्ष्य अवश्य ही सत्य का अनुसन्धान करना है पर सत्य का अनुसन्धान भी उसे उसी रूप में करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है जिस रूपमें शासन-सत्ता सत्य के स्वरूप को देखना चाहती है"। 'गोवेल्स' एक स्थान पर कहते हैं कि "जर्मनी में निरपेक्ष अथवा अराजनीतिक कला जीवित नहीं रह सकती। जब तक ऐसी कला जीवित है तब तक हमारा काम समाप्त हुआ नहीं समझा जा सकता।" स्पष्ट है कि फासिज्म के मत से न कला, न बिज्ञान, न इतिहास स्वतन्त्र है और न कलाकार, न वैज्ञानिक और न ऐतिहासिक की दृष्टि स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष और वास्तविकता के अनुकूल रहनी चाहिए। वह यह मानता है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति वही होनी चाहिए जो सर्व-शुक्ति-सम्पन्न सरकार को अभीष्ट है। हिटलर एक स्थान पर साफ-साफ कहते हैं कि "इतिहास को ऐसी शिक्षा देनी होगी जिससे जर्मनीमें राष्ट्राभिमान का जागरण हो। सारे मानव-समाज की संस्कृति के इतिहास को इसी दृष्टि से पढ़ाना होगा। हमें वास्तविक-सत्य के खोज की चिन्ता नहीं है प्रत्युत उस प्रयोजन को सिद्ध करना है जिसे हम सत्य समझते हैं। जर्मनी की शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य सिवा इसके और कुछ नहीं है कि व्यक्ति का निर्माण इस प्रकार किया जाय कि वह अपने राष्ट्र को छोड़कर और किसी बात को सत्य ही न समझे। वास्तविक सत्य गौण है जो सदा वांछनीय भी नहीं हो सकता।"

इस प्रकार फासिटीवाद की जो रूपरेखा हमारे सामने आती है उससे यह झलक जाता है कि उसका न कोई दर्शन है न कोई योजना और न कोई विचार-सरणि। वह उन्मत्त का प्रलापमात्र ज्ञात होता है। वह उन सब का सर्वनाश करने की गुहार लगाता दिखाई देता है जिनका निर्माण विकास की महती यात्रा में अग्रसर हुए मानवसमाज की प्रतिभा ने युग-युग में किया था। उसकी दृष्टि में न सत्य को स्थान है न विवेक को और न मनुष्यता को। स्वतन्त्र

चिन्तन और सत्य की खोज भी उसके मतानुसार अवांच्छनीय है जिसके उन्मूलन के बिना वह अपना काम अधूरा समझता है। सीधे-सीधे वह केवल एक बात मानता है और वह यह कि व्यक्ति हो अथवा समाज, राष्ट्र हो या जगत् सब की भलाई इसी में है जिसमें निरंकुश और पशुबल-प्रश्रित सरकार की भलाई है। यह सरकार यद्यपि स्वच्छन्द है पर उसका निर्माण जन-समाज की इच्छा के अनुकूल नहीं प्रत्युत उस व्यक्ति अथवा गुट के इच्छानुसार होता है जो शस्त्र और शक्ति के सहारे अधिकार-सूत्र ग्रहण कर लेता है। ऐसे ही व्यक्ति अथवा समूह को शासन करने का अधिकार है और दूसरों का जन्म इसलिये हुआ है कि वह शासनसत्ता के सम्मुख धरा-चुम्बन करता रहे। ऐसा करके ही व्यक्ति और समाज अपने कर्त्तव्य की पूर्ति कर सकता है। तात्पर्य यह कि फासिटीवाद खुल्लमखुल्ला 'जिसकी लाठी उसी की भैंस' के सिद्धान्त को न केवल ग्रहण करता है, अपि तु उसे ही धर्म, नीति और सत्य-सम्मत समझता है। इसी में वह जगत् और मनुष्य-समाज का कल्याण और उसका विकास समझता है।

पाठक देख सकते हैं कि इस विचार शृंखला में किस मनःस्थिति की अभिव्यक्ति है। जो कल्पना फासिटीवाद व्यक्त करता है उसमें स्थान केवल एक वस्तु के लिये है और वह है शारीरिक बल तथा शस्त्र-शक्ति। उसकी सारी विचार-धारा, शक्ति की महिमा स्वीकार करके ही प्रवाहित होती है। शक्ति के द्वारा अधिकार की प्राप्ति को ही वह मानव-जीवनका चरम लक्ष्य समझता है। वह यह स्वीकार ही नहीं करता कि मनुष्य के जीवन का आदर्श सुख की प्राप्ति करना है। वह साफ-साफ घोषित करता है कि सुखप्राप्ति की इच्छा केवल पशुओं के योग्य है। उसकी दृष्टि में प्रकृति ने मनुष्य में दूसरे पर शासन करने की प्रकृति भर दी है। यही है एकमात्र प्राकृतिक सत्य जिस ओर जीवन का अभिगमन अभीष्ट है। वह बल को ही सत्य-असत्य का, न्याय-

अन्याय का और उचित-अनुचित का निर्णायक समझता है। कौन 'अधि-पुरुष' है किसका जन्म केवल शासन करने के लिये हुआ है, कौन नेतृत्व का अधिकारी है आदि बातों का निर्णय भी शक्ति द्वारा ही होता है।

यही कारण है कि फासिज्म युद्ध और रक्तपात को वांछनीय समझता है, उसकी प्रशंसा करता है और मानव-समाज के विकास तथा कल्याण के लिये उसे आवश्यक मानता है। उत्तम पुरुष की पहिचान युद्ध और हिंसा के द्वारा ही होती है और मनुष्य को साहस तथा वीरता का प्रदर्शन करके अपना विकास करने का अवसर उसी के द्वारा मिलता है। फासिटीवाद को युद्ध और हिंसा में ही मानव-जीवन और समाजका प्रयोजन पूर्ण होता दिखाई देता है। फासिटियों के उद्गारोंमें आप सदा युद्ध और रक्तपात का समर्थन और प्रतिपादन पावेंगे। मुसोलिनी को "मनुष्य के सारे गुणों और उसकी सारी योग्यता का आधार युद्ध" में दिखाई देता है। विनाशक अस्त्र-शस्त्रों में वे सौन्दर्य देखते हैं। वह कहते हैं कि "शब्दों में सौन्दर्य होता है पर राइफल और मशीनगन में रणपोत तथा बम-प्रहारी विमानों के तोपों की गड़गड़ाहट और खड्ग की झनकार में उससे कहीं अधिक सुन्दरता होती है?" जर्मन नाजियों के मत से "प्राणि-विज्ञान के अनुसार युद्ध आवश्यक और वांछनीय वस्तु है। युद्ध ही जीवन का नियामक है जिसके अभाव में मानव जाति का पतन हो जायगा और उसकी सारी संस्कृति चौपट हो जायगी।" युद्ध की प्रशंसा, आवश्यकता और इष्टता का समर्थन करने वाले उद्धरणों को यदि फासिटियोंके साहित्य से उद्धृत किया जाय तो एक बृहत् ग्रन्थकी रचना हो जायगी।

इस प्रकार आप देखेंगे कि फासिटीवाद अन्ध पशुबल, हिंसा, रक्तपात और निर्दलन का समर्थक है। वह अधिकारसत्ता की अक्षुण्णता और उसकी अपरिसीम निरंकुशता का प्रतिपादक है। बलपूर्वक

शक्ति और अधिकार की प्राप्ति ही जीवन का एकमात्र नैतिक प्रयोजन समझता है। वह सत्य और असत्य, नीति और अनीति का कोई स्वतन्त्र-अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में तलवार चाहे जो कर दे वही न्याय और वही नीति है। वह शक्तिशाली की इच्छा को ही विधान मानता है और उसके सिवा सत्यासत्य की विवेचना करने का अधिकार भी किसी दूसरेको नहीं देता है। बलशील की दृष्टि और मत के विरुद्ध विचार करने और सोचनेको भी वह अपराध मानता है। इसी कारण किसी दूसरे विरोधी दल को जीवित रहने का अधिकार भी नहीं देता। एक ही दल होगा और वह होगा नेता का। दूसरा दल केवल शासितों का है जिनका धर्म आज्ञापालन के सिवा दूसरा नहीं है। वह लोकतन्त्रवाद की इस कल्पना को भी स्वीकार नहीं करता कि समाज में अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक सुख और भलाई का सम्पादन करना वह नैतिक आधार है जिसपर समाज अथवा सरकार का निर्माण होना चाहिए। लोकतन्त्र व्यक्ति को महत्त्व देता है और यह घोषणा करता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपना विकास करने का अधिकार समानरूप से प्राप्त है। कानून की दृष्टि में व्यक्ति को समान पद इसी कारण प्रदान किया जाता है। फासिटीवाद समता के इस सिद्धांत को अस्वीकार करता है और यह भी नहीं मानता कि शासनसत्ता से समान रुपेण लाभ उठाने का अधिकार व्यक्ति को प्राप्त है।

मुसोलिनी कहते हैं कि "फासिटीवाद लोकतन्त्र को ग्रहण नहीं करता और इस परम्परागत असत्य तथा निराधार सिद्धान्त का विरोध करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान रूपेण राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त होना चाहिए" लोकतन्त्र के बहुमतवाद को भी वह स्वीकार नहीं करता। मुसोलिनी के शब्दों में "फासिटीवाद यह नहीं मान सकता कि किसी बहुमत दल को केवल इसलिये कि वह बहुसङ्ख्यक है मानव समाज के सञ्चालन तथा शासन का अधिकार

प्राप्त है। वह यह भी नहीं मान सकता कि संख्या का बल ही केवल शासन करने का अधिकारी है। उसका यह विश्वास है कि मनुष्य समाज में अ-समता की सृष्टि प्रकृति ने ही कर दी है। यह असमता न केवल अटल है, किन्तु लाभप्रद और फलदायक भी है। वोट का व्यापक अधिकार देकर इस असाम्य को मिटा देना असम्भव है। व्यक्ति की भलाई और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को समाज का आधार मानना न केवल भ्रामक है प्रत्युत प्रकृति के विधान के प्रतिकूल दिखाई देता है।" जब फासिटीवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता तब व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रश्न ही कहाँ उठता है। वह तो यही मानता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व यदि है तो शासनसत्ता की सुविधा की पूर्ति के लिये ही है। फलतः व्यक्ति की स्वतन्त्रता वही है जो उसे शासक द्वारा प्राप्त होती है। फासिटीवादी राष्ट्र में व्यक्ति "अपनी उस सारी स्वतन्त्रता से वञ्चित कर दिया जाता है जिसे शासक व्यर्थ और हानिकारक समझता है। सरकार उतनी ही स्वतन्त्रता प्रदान करती है जितना आवश्यक समझती है। किस सीमातक समाज व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उपभोग करे और किस सीमातक न करे इसका निर्णय करने का अधिकार सरकार को ही प्राप्त है। उपर्युक्त वाक्य मुसोलिनी के हैं जिससे व्यक्ति और राज के सम्बन्ध में फासिटीवाद की कल्पना स्पष्ट हो जाती है।

उपर्युक्त कुछ वाक्यों में फासिटीवाद के स्वरूप का जो चित्रण किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकतन्त्र की कल्पना से उसका कितना और कैसा सहज वैपरीत्य है। जनता राजनीतिक अधिकार से वञ्चित है और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा मनुष्य के नैसर्गिक अधिकार की कल्पना भी उसके लिये विजातीय है। जब राजनीतिक क्षेत्र में समाज की यह स्थिति हो तब आर्थिक समता और आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। पहले ही कह चुका हूँ कि फासिटीवाद मनुष्य की असमता को न केवल स्वीकार करके

वरन् उसे प्रकृति का अटल विधान तथा समाज के विकास का एक-मात्र साधक समझ कर अग्रसर होता है। यदि वह इस दृष्टि को ग्रहण न करता तो कैसे मानव समाज को अधि-पुरुष और साधारण दास के दो वर्गों में विभक्त करता? तात्पर्य यह कि जिस विचारधारा का आधार ही असमता का सिद्धान्त हो वहाँ आर्थिक समता की बात ही कैसे उठ सकती है। जैसे राजनीतिक क्षेत्र में वैसे ही आर्थिक क्षेत्र में भी फासिटीवाद जन-समाज का केवल एक ही कर्त्तव्य मानता है और वह यह कि व्यापक जन-वर्ग राजसत्ताके आज्ञानुसार उत्पादन के आवश्यक काममें लगा रहे। साधारण मनुष्यको वह पशुवत् मानता है जिसका काम है कि अपने लिये निर्दिष्ट पथ पर चुपचाप चलता चला जाय।

व्यक्ति की सत्ता वह आर्थिक क्षेत्र में भी नहीं मानता। वह उत्पादकवर्ग को उसके विभिन्न पेशे के अनुसार विभक्त कर देता है। जो जिस पेशे में है वह अपना अलग अस्तित्व नहीं रखता प्रत्युत उस पेशे के संघ का एक अंगमात्र है। फासिटीवाद की कल्पना उसके "कारपोरेशन" में व्यक्त है। प्रत्येक पेशे में लगे हुए उत्पादक अथवा पूँजीपति, मजदूर अथवा मालिक सभी को सम्मिलित रूप से एक समूह के रूप में फासिटीवाद देखता है और यदि व्यक्ति है तो उसे उस व्यापक उत्पादक समूह का एक पुरजा मात्र समझता है। व्यक्ति का उस समूह से न तो पृथक् अस्तित्व है और न उसकी दृष्टि में कोई अधिकार। इटली में इसी सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न देशों का संघटन किया गया है जिसे 'कारपोरेशन' कहते हैं। इन संघों में मालिक और मजदूर सभी सम्मिलित किए जाते हैं। इटली की फासिटी सरकार इन संघों को प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। 'कारपोरेशन' का काम यह होता है कि वह अपने व्यवसाय की देख-रेख करे, मजदूरों की मजदूरी, काम के घंटे, छुट्टी आदि की व्यवस्था करे। वह यह भी देखे कि मजदूर काम करते हैं अथवा नहीं तथा उत्पादन की गति में किसी कारण कोई बाधा तो उपस्थित नहीं होती। राजनीतिक दशा में

यह 'कारपोरेशन' फासिटी सरकार की व्यवस्थापक सभा में अपना प्रतिनिधित्व करने के लिये प्रतिनिधि की नियुक्ति करता है। स्मरण रखना चाहिए कि प्रतिनिधि का निर्वाचन नहीं नियुक्ति की जाती है और नियुक्ति व्यक्ति 'कारपोरेशन' के ही सदस्यों में से होता है। यह न समझिएगा कि यह संस्था लोकतन्त्रात्मक ढँग की है अथवा उसका संघटन मजदूरसङ्घों की भांति होता है।

'कारपोरेशन' के संघटन में फासिटी सिद्धान्त की ही अभिव्यक्ति होती है। फासिटीवाद किस प्रकार की कल्पना राजसत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में करता है उसी का संक्षिप्त संस्करण उसके 'कारपोरेशन' में दिखाई देता है। फासिटीवाद व्यक्ति अथवा समूह का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानता। उसकी दृष्टि में प्रभु-शक्ति-सम्पन्न शासनसत्ता ही वास्तविकसत्ता है और व्यक्ति अथवा समाज का अस्तित्व उसीके अधीन है। वे दोनों सरकार द्वारा प्रदत्त अधिकारों के ही अधिकारी हैं क्योंकि उनका अपना कोई अधिकार नहीं है। व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति समूह में करता है और समूह के रूप में ही कर्त्तव्य-पालन करता है और समूह की अभिव्यक्ति अक्षुण्ण-शक्तिशालिनी सरकार के द्वारा होती। फासिटीवाद 'कारपोरेशन' का निर्माण इसलिये करता है कि सरकार रूपी वास्तविक सत्ता की आत्मा व्यापकरूप से उसके द्वारा समाज के अङ्ग-प्रत्यङ्ग तक पहुँचकर उसे सजीव बनाए रखे। तात्पर्य यह कि 'कारपोरेशन' शासन-सत्ता के अधीन उसके हाथ में एक साधन है जिसके द्वारा वह अपने अधिकार का विस्तार व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के कोने-कोने तक कर सके। इटली की फासिस्ट सरकार ने इन 'कारपोरेशनों' की रचना करके राष्ट्रीय जीवन की सारी गति को अपनी मुट्ठी में कर लिया था। 'कारपोरेशनों' के पदाधिकारियों की नियुक्ति सीधे-सीधे सरकार द्वारा ही होती थी। किसी पेशे के प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार नहीं था कि वह अपनी इच्छा के अनुसार, 'कारपोरेशन' का सदस्य हो सके। 'कारपोरेशन' जिसे

चाहते उसे सदस्य बनाते और जिसे चाहते उसे अपनी पंक्ति में लेने से इनकार कर देते। इस प्रकार 'कारपोरेशन' का संघटन स्पष्टतः सरकारी संस्थाओं के रूप में होता है। इन्हीं की ओर से व्यवस्थापक सभा में प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया जाता था।

यह नियुक्ति भी सदस्यों के वोट से नहीं होती। 'कारपोरेशन' के जिन पदाधिकारियों की नियुक्ति सरकार करती है वे उसी के सङ्केत पर प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया करते हैं। 'टोटेलेटेरियन' राजव्यवस्था का यही रूप है। फासिटीवादी दार्शनिक इसी निरंकुश और बर्बर राज्यव्यवस्था की कल्पना को विचित्र और अस्पष्ट वाक्यों के परिधान से ढँककर इस प्रकार सामने उपस्थित करते हैं मानों कोई अत्यन्त गहन और गूढ़ बात कह रहे हों। नीचे लिखे वाक्य पर दृष्टिपात कीजिए। "जिस प्रकार हमारा मस्तिष्क वाणी के द्वारा अपना भावव्यक्त करता है और शारीरिक गति के द्वारा अपना सक्रियता का प्रयोजन प्रकट करते हुए भी वाणी और गति की सीमा से कहीं अधिक विस्तृत और परे होता है उसी प्रकार राजसत्ता यद्यपि 'कारपोरेशन' के द्वारा अपने को व्यक्त करती है और उसे अधिकारांश प्रदान करके सजीव बनाती है तथापि राजसत्ता के व्यक्तित्व की अक्षुण्णता अक्षत बनी रहती है क्योंकि वह समस्त 'कारपोरेशनों' के सम्मिलित योग की सीमा का अतिक्रमण कर जाती है।" यह वाक्य यद्यपि शब्दजाल में वास्तविक भाव छिपाने की चेष्टा करता है तथापि उसमें फासिटीवाद की शासन-सत्ता की प्रकाण्ड कल्पना कैसी भयावनी है।

ऋषि-मुनि कहते हैं कि निराकार ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति विराट् दृश्य-अदृश्य जगत् के रूप में होती है पर वह ब्रह्म स्वयम् इस भव-प्रपञ्च की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। उनकी कल्पना है कि पूर्ण से पूर्ण निकलता है फिर भी पूर्ण ही शेष रह जाता है। विचार तो कीजिए कि फासिटियों की सरकार सम्बन्धी धारणा किस ब्रह्म की कल्पना से कम है? उनकी दृष्टि में वही सब कुछ है, उसी की

अभिव्यक्ति समूह और व्यक्ति में है, उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं और उसी से प्राप्त अधिकार से अधिकारी बनते हैं पर यह सब होते हुए भी वह उनकी सीमा से परे है, अक्षुण्ण और अक्षत है। ऐसी सत्ता के अधिकार-क्षेत्र से सामाजिक जीवन का कोई भी पहलू बचा नहीं रह सकता। फलतः 'टॉटेलेटेरियन' राष्ट्र की अधिनायक-वादिनी राजसत्ता किसी का कोई आर्थिक हित भी स्वीकार नहीं करती। उत्पादन, वितरण और उपभोग की सारी व्यवस्था पर उसी का एकाधिपत्य होता है। विनिमय, मुद्रा, उद्योग आदि कितना और कैसा माल पैदा करे, किस पदार्थ का मूल्य कितना हो, कौन उद्योग-पति कितना मुनाफा कमाए आदि सारी बातों का निर्णय उसी के संकेत पर होता है। स्पष्ट है कि वह न मजदूर का अधिकार मानती है और न मिल-मालिक का। मजदूर कितने घंटे काम करे, कितना अवकाश पावे, कितनी मजदूरी कमाए, उसके राजनीतिक अधिकार क्या हों, वह किस प्रकार मिले-जुले, कैसा जीवनयापन करे आदि बातों का निश्चय भी सरकार ही कर देती है।

गत पृष्ठों में लिख चुका हूँ कि रूस की बोल्शेविक सरकार भी ऐसे ही सर्वव्यापी अधिकारों का उपभोग करती है। पर उसमें और फासिटी सरकार में मौलिक भेद है। फासिटी सरकार राजनीतिक अधिकार-सत्ता की स्वामिनी हो जाती है पर आर्थिक संघटन में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं करती। उसके अधीन मिल-मालिक और मज-दूर, किसान और जमींदार, महाजन और सूदखोर, व्यक्तिगत रूप से व्यवसाय करने वाले हैं। और व्यक्तिगत सम्पत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है। वह सरकार जो करती है वह केवल इतना ही है कि सब को अधिकार-वंचित करके अपने को ही सर्वस्व की अधिकारिणी बना देती है और सब का उपयोग एकमात्र अपने हित और अपनी सुविधा की दृष्टि से करती है। वह सरकार ऐसी होती है जिसके निर्माण में न मजदूर का हाथ है, न किसान का न जन-समाज का। बोल्शे-

विक सरकार यद्यपि सर्वस्व की अधिकारिणी है तथापि वह सारे आर्थिक संघटन को बदल कर नए समाज की रचना करती है। मजदूर तथा उत्पादक जनवर्ग के हाथ में अधिकार सत्ता समर्पित कर देने की कल्पना करती है।

अब हिटलर के नाजीवाद पर भी दृष्टि डाल लीजिए। आप देखेंगे कि उसमें उपर्युक्त फासिटी कल्पना का ही चरम रूप विकसित हुआ है। वह वास्तव में एक पग और आगे बढ़ गया है। नाजीवाद केवल इतना ही स्वीकार नहीं करता कि जिनमें अधिकार-सत्ता प्राप्त कर लेने की शक्ति है वे ही शासन करने के अधिकारी होते हैं वरन् यह घोषणा भी करता है कि धरातल पर एकमात्र नार्डिक जाति ही ऐसा समूह है जिसमें ऐसी योग्यता तथा शक्ति है कि वह सारे जगत् का शासन करे। उसके मत से जर्मनों की सृष्टि जगत् की प्रभुता के लिये ही हुई है और जब तक यह लक्ष्य पूरा नहीं होता तब तक न भूमण्डल का कल्याण हो सकता है और न मानवता का विकास सम्भव है। तात्पर्य यह है कि नाजीवाद मुख्यतः जातिगत श्रेष्ठता के सिद्धान्त पर आश्रित है। वह आर्य-पुरुष ही नहीं अधि-जाति के भी अस्तित्व में विश्वास करता है। नाजीवाद की इस कल्पना का आधार न कोई तर्क है न कोई ऐतिहासिक वास्तविकता, और न कोई वैज्ञानिक सिद्धांत। वह आश्रित है केवल अंधविश्वास पर, उग्र उत्कण्ठा तथा विचित्र मनःस्थिति और उन्मत्त भावुकता पर। नाजीवाद अपनी उपर्युक्त धारणा को बुद्धि-विवेचना अथवा तर्क की सीमा से परे समझता है। वह कहता है कि यह धारणा परिणाम है उस दिव्य ज्ञान और आन्तरिक उत्प्रेरणा का जो अकस्मात् उसके नेता को प्राप्त हो गया।

ऐसी स्थिति में इतना स्पष्ट हो ही जाता है कि नाजीवाद न तो कोई योजना जानता है न व्यूहन। न उसकी कोई सुविचारित पद्धति है और न कार्य-कारणबद्ध प्रयोग। धार्मिक कट्टरता और कठमुल्लापन जिस प्रकार बुद्धिहीन उत्तेजना की आग सुलगाने में समर्थ होता है

उसी प्रकार नाजीवाद अंधविश्वास पर आश्रित धारणा को लेकर जर्मन-जनता की शक्ति, भावुकता और क्रोध को भड़का देने की चेष्टा करता है। वह प्रत्येक जर्मन को इसी के द्वारा अकल्पित बलिदान और अदम्य वीरता के लिये आँखें मूदकर आगे बढ़ने के लिये उभाड़ता है। यही धारणा और प्रक्रिया नाजीवाद की विशेषता है। जहाँ-तक सरकार, नैतिकता, व्यक्ति, समाज और जीवन के लक्ष्य आदि प्रश्नों का सम्बन्ध है वहाँ नाजीवाद की वही दृष्टि है जो फासिटीवाद की है। वह भी उसी प्रकार व्यक्तिवाद का विरोधी है और मनुष्य की असमता का समर्थक है जैसे फासिटीवाद। शासन-सत्ता से बड़ी किसी शक्ति या संस्था को वह भी स्वीकार नहीं करता। शासन-सत्ता उसकी दृष्टि में भी कोई राजनीतिक संघटनमात्र नहीं है। वह समझता है कि शासनसत्ता वह विभु और विराट् सत्ता है जिसमें सारा जन-समाज अथवा सारी जाति समाविष्ट है।

समाज अथवा राष्ट्रकी सारी भावना, इच्छा और संकल्प का अधिष्ठान अधिनायक और उसका दल करता है। इसी धारणा के आधार पर वह यह दावा करता है कि नाजीवादी सरकार की भावना, इच्छा संकल्प और कार्य के सिवा राष्ट्र की दूसरी भावना या इच्छा नहीं हो सकती। नाजीवाद मानवसमाज के इतिहास की व्याख्या भी इसी जातिवाद के आधार पर करता है। वह समझता है कि मानवसमाज की सारी गति और उसके इतिहास का सारा प्रवाह विभिन्न देशों में बसने वाली भिन्न-भिन्न जातियों की गति-शीलता से सम्बद्ध रहा है। इतिहास का सम्बन्ध न महान् आदर्शों से रहा है, न वर्गों के संघर्ष से और न मनुष्य की स्वतन्त्रता के संघर्ष से। सदा से जातियों में जो टक्कर होती रही है उसी से इतिहास का निर्माण होता रहा है। 'रोजेन-बर्ग' के मत से इतिहास का एक ही लक्ष्य पहले भी रहा है और आज भी है। वह लक्ष्य यह है कि जर्मनी की नार्डिक जाति के अस्तित्व की रक्षा और उसके रक्त की शुद्धि की जाय। जिसके फलस्वरूप भविष्य में

उस जाति को शक्ति तथा महत्ता प्राप्त हो सके। नाजीवादी पण्डित यह समझते हैं कि यही एकमात्र ऐतिहासिक आवश्यकता है और इसी ओर होना चाहिए इतिहास का प्रवाह।

इतिहास का यह प्रवाह क्यों होना चाहिए इसका उत्तर देते हुए नाजीवादी यह कहेगा कि जगत् में यद्यपि अनेक और मित्र-जातियाँ हैं पर आधुनिक युग में जर्मन जाति ही जगत् पर अधिकारसत्ता स्थापित करने की योग्यता रखती है और उसी में यह सामर्थ्य है कि मनुष्य को संस्कृत बनावे, उसका नियन्त्रण करे और वसुधा के वैभव का उपयोग उसके हित में कर सके। इस विश्वास को नाजीवाद ने धर्म का रूप दे रक्खा है। उस धर्म का एक ही सिद्धांत है और वह यह कि नार्डिक जातिकी रक्षा की जाय। इसके लिये उन तमाम विजातीय जातियों का सफाया कर देना भी उचित समझता है जो मिश्रित होकर नार्डिक रक्त को भ्रष्टकर रही हैं। इस रक्तशुद्धि की महती आवश्यकता नाजीवाद को प्रतीत होती है क्योंकि उसी में उसे उस शक्ति का उद्भव दिखाई देता है जिसके सहारे जर्मन जाति जगत् पर अपनी विजय-पताका फहराने में समर्थ हो सकेगी। नाजीवाद यह समझता है कि नार्डिक जाति के रक्त में और उस भूखण्ड में जहाँ उस जातिका निवास है कुछ ऐसी रहस्यमय विशेषताएँ प्रकृति द्वारा भर दी गई हैं कि वह जाति और वह भूमि जगत् की अन्य समस्त जातियों में उत्तम तथा उत्कृष्ट है। कैसे कब और क्यों प्रकृति ने यह किया, ऐसा होने का प्रमाण क्या है अथवा किन प्रमाणों से इस दावे की पुष्टि हो सकती है आदि प्रश्नों के लिये नाजीवाद स्थान भी नहीं देता। धर्म की बातों में शंका और तर्क तथा बुद्धि के लिये स्थान ही कहाँ रहता है।

इस सम्प्रदाय के देवता हिटलर हैं। एक नाजी लेखक कहता है कि "हम ईसा को केवल एक ही रूप में ग्रहण कर सकते हैं और वह रूप है हिटलर का।" तात्पर्य यह कि हिटलर को देवदूत अथवा पैग-म्बर अथवा अवतार का रूप प्रदान कर दिया गया। नाजीवादी

समझता है कि स्वर्ग में बैठे भगवान् ने हिटलर को जर्मनभूमि पर भेजा है इसलिये कि वह इतिहास और प्रकृति का लक्ष्य पूरा कर सके। जहाँ यह धारणा और विश्वास हो वहाँ बुद्धि और विवेक के लिये कहाँ स्थान है ? नाजीवाद नार्डिक जाति की स्वतन्त्रता और गौरव का प्रतिपादक है। उधर हिटलर में ही नार्डिक जाति की सारी विशेषता और उत्तमता का समावेश हुआ। वह उसके सजीव और पुञ्जीभूत प्रतीक हैं। अतः नेतृत्व तथा अपरिमित और निरंकुश अधिकार के वे अधिकारी और उपभोक्ता हैं। सारी शक्ति और सारा अधिकार उन्हीं में केन्द्रस्थ है। उनका कहना सत्य, उनका कहना न्याय्य और उनकी इच्छा ही नीति है। यही दो सत्य हैं जिन्हें नाजीवाद दिक्कालावच्छिन्न समझता है। इस सत्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति अस्तित्व रखता है और शासनसत्ता के अधिकार के अधीन है। इसके सिवा व्यक्ति का न कोई कर्त्तव्य है और न कोई अधिकार क्योंकि इसी में नाजीधर्म की पूर्ति और इतिहास के प्रयोजन की सिद्धि है। इसी के फलस्वरूप जगत् की हीन जातियों को श्रेष्ठ नार्डिक जाति सभ्य और सुसंस्कृत बना सकेगी।

नाजीवाद के व्यावहारिक रूप की विवेचना करते हुए श्री राबर्ट ए० ब्रेडी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "स्पिरिट एन्ड स्ट्रक्चर आफ जर्मन फेसिज्म" में लिखते हैं कि "नेशनल सोशलिस्ट पार्टी (जर्मनी का नाजीदल) ही देश की जनता की इच्छा और संकल्प को व्यक्त करती है। राष्ट्र का सर्वोत्कृष्ट नेता अपने सहकारियों को यह आदेश दे देता है कि उन्हें क्या करना चाहिए। ये सहकारी फिर अपने अधीन काम करनेवाले कर्मचारियों को बता देते हैं कि उन्हें क्या-क्या करना चाहिए। देश भर में फैले हुए ये अधीन कर्मचारी किसानों, मजदूरों, तथा व्यापक जनसमाज को भी आदेश दे देते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए, क्या उत्पादन करना चाहिए और क्या बेचना चाहिए और स्वयम् क्या प्राप्त करना चाहिए और किसे अपनी संपत्ति

समझना चाहिये। नाजीवाद में शक्ति और अधिकार का कैसा भयावना केन्द्रीकरण हुआ है और शासनसत्ता निरंकुशता के किस उत्तुङ्ग शिखर पर पहुँची हुई है यह इसी से स्पष्ट हो जाता है। सारी शक्ति एक व्यक्ति की मुट्ठी में है और वहीं से अधिकार-धारा अधोमुख प्रवाहित होती है। हिटलर की इच्छा-अनिच्छा पर ही सारा राष्ट्र उठने-बैठने के लिये बाध्य है।

इस कल्पना में लोकतन्त्र अथवा समाजवाद, शान्तिवाद अथवा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के लिये रञ्चमात्र भी गुञ्जाइश कहाँ है। समाज की स्वतन्त्रता अथवा व्यक्तिगत अधिकार, राष्ट्रों के परस्पर सहयोग अथवा पारस्परिक मानवीय सद्भाव, अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य अथवा विश्व की शान्ति की सम्भावना भी नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति में नाजीवाद की विचार-धारा जिस राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीति का प्रजनन करेगी उसकी कल्पना कर लेना कठिन नहीं है! युद्ध, रक्तपात, आक्रमणशीलता, दलन और शोषण के सिवा नाजीवाद की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का और कोई आधार नहीं हो सकता। जगत् में अशान्ति, भय, अविश्वास, और सशस्त्रता की प्रतिस्पर्धा का सर्जन कर देने के सिवा उस नीति का दूसरा परिणाम भी नहीं हो सकता। हिटलर को जगत् की शान्ति और व्यवस्था वस्तुतः स्थायी रूप में केवल एक ही स्थिति में दिखाई देती है। वह स्थिति तभी उत्पन्न होगी जब जगत् की सर्वोत्कृष्ट जर्मन जाति धरित्री को अपने अधीन करके अपना लक्ष्य पूरा कर ले।

अपनी इस नीति पर हिटलर स्वयम् प्रकाश डालते हैं। उन्हीं के शब्दों में उनका मन्तव्य पढ़िए। वे कहते हैं कि "मानवता और शान्तिवाद के सिद्धान्त सम्भव हो भले हों पर वे उसी समय भले होंगे जब भूमण्डल की सर्वश्रेष्ठ जाति विश्व पर विजय प्राप्त करके उसे अपने अधीन कर ले और उसका निर्दलन करके स्वयम् स्वामिनी बन जाय। अतः पहले युद्ध करो और तब बाद में शान्ति की बात कर लो

जायगी। यदि जर्मन जनता अपने एक सम्बन्ध पर स्थापित झुण्ड-प्रवृत्ति (हर्ड इन्स्टिक्ट) की अधिकारिणी रही होती और जर्मनी ने यदि अबतक संसार का राज्य प्राप्त कर लिया होता तो सम्भवतः हम उस शान्ति को प्राप्त कर चुके होते जिसका नाम ले-लेकर कुछ भ्रान्त शांतिवादी बुद्धि-भेद फैलाया करते हैं। वह शान्ति जब मिलेगी तब उसकी रक्षा विलासी व्यभिचारियों की शौकीनी से नहीं प्रत्युत उस प्रभुराष्ट्र के विजयी खड्ग के द्वारा हो सकेगी जो जगत् को उन्नत संस्कृति की ओर अग्रसर करता है।"

जिस उन्माद का परिचय उपर्युक्त वाक्यों में मिल रहा है उस पर क्या अधिक टीका अपेक्षित है? स्पष्ट है कि खड्ग के द्वरा जगत् को पराधीन बनाने के बाद हिटलर शान्ति के आविर्भाव की कल्पना करते हैं और फिर उसके बाद खड्ग के द्वारा ही उस शान्ति की रक्षा संभव समझते हैं। इस प्रकार धरित्री की छाती पर स्थायी रूप से खड्ग का नग्न नर्तन होते रहने में ही उन्हें उन्नत संस्कृति दिखाई देती है। आगे और देखिए, वे कहते हैं "राष्ट्रों की सीमा की रचना मनुष्य ने ही की है और मनुष्य ही उसे मिटाता या बदलता है। यदि किसी ने शक्ति के द्वारा विस्तृत प्रदेश जीत लेने में सफलता प्राप्त कर ली है तो कदापि इसका यह अर्थ नहीं होता कि जो हो गया वह अनन्तकाल के लिये स्थिरसत्य हो गया। उससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि विजयी में शक्ति थी और पराजित निर्बल था। अधिकार की धारा का स्रोत शक्ति है। जर्मन जाति यदि आज गिरी हुई है तो उसका यह अर्थ नहीं है कि वही उसकी नियति का विधान है। यह स्थिति तो केवल इस बात का परिणाम है कि उसने उठने, खड़े होने और गिर जाने से इन्कार कर दिया है। जर्मनी विश्व में सर्वोत्कृष्ट बनेगा अथवा धरती से मिट जायगा।"

हिटलर के उपर्युक्त वाक्यों को केवल उनकी अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर प्रकाश डालने के लिये उद्धृत नहीं किया है। मेरा आशय यह दिखाना

भी है कि प्रतिशोध और अपमान की ज्वाला में जलते हुए राष्ट्र को कैसी नीति और कैसे उद्‌गार पसन्द आते हैं। हिटलर के वाक्यों में जो उन्माद और उनकी विचारधारा तथा नीति में जो बर्बरता किसी दूसरे को दिखाई देता है वही विजयी राष्ट्रों की ठोकरों से आहत जर्मन राष्ट्रों के हृदय को स्पर्श कर देती है। जिस अपमानजनक स्थिति में जर्मनी को ढकेल दिया गया उसकी ऐसी प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही थी। फलतः जिस खड्‌ग को हिटलर अधिकार, शक्ति और न्याय का एकमात्र साधन समझते हैं उसका निर्माण करना ही उनकी एकमात्र आन्तरिक राष्ट्रीय नीति है। वह स्वयम् कहते हैं कि "जनता के नेता की राष्ट्रीय नीति यही है कि वह खड्‌ग का निर्माण देश में कर सके।' इससे स्पष्ट हो जायगा कि नाजीवाद की उत्पत्ति किस लिये हुई है और किस लिये हुआ है उसका प्रयोग। जनता को सैनिक बना देना, प्रतिशोध, दम्भ और द्वेष के भावों से उसे भर देना उनकी सरकार की चेष्टा है। जातिगत श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न कर देना, भेड़िये आदि पशुओं में जो झुण्डप्रवृत्ति होती है उसे पैदा कर देना, नेता के प्रति ऐसा अन्धविश्वास उत्पन्न कर देना कि जनता उसे खुदा का भेजा हुआ पैगम्बर समझे उनकी आन्तरिक नीति है।

जर्मनी में विश्वविद्यालयों की शिक्षा का लक्ष्य ज्ञान की उपासना नहीं रणस्थल के लिये सैनिक तय्यार करना है। प्रत्येक विद्यार्थी को अनिवार्यतः सैनिक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। बुद्धि को भले ही महत्त्व न दिया जाय पर शारीरिक बल अवश्य समझा जाता है। महिलाओं को यह उपदेश दिया जाता है कि उनका एकमात्र कर्तव्य है बच्चों को जनना क्योंकि बच्चों को सैनिक बना कर युद्ध में भेजने तथा राष्ट्र के महान् लक्ष्य की पूर्ति में बलि चढ़ा देने से बढ़ कर न कोई पवित्र कर्त्तव्य है और न उससे बढ़ कर गौरव की दूसरी बात हो सकती है। हिटलर के स्टार्म ट्रूप (तूफानी सेना) के सैनिकों के लिए विवाह करना अनिवार्य बना दिया गया था जिसमें जन-सङ्ख्या की वृद्धि हो।

महिलाओं का संघटन और उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था इस दृष्टि को लेकर की जाती रही है कि वे बलशील बच्चे उत्पन्न करने की योग्यता प्राप्त करें। बहुत सी महिलाएँ लिखा पढ़ा कर इसलिये तय्यार की जाती रही हैं कि उनका विवाह सुदृढ़ शरीर वाले सैनिकों से कराकर उन्हें मजबूत बच्चों की जननी बनाया जा सके। सारी व्यवस्था इसलिये थी कि समय आने पर इन बच्चों को युद्ध में भेजा जा सके। तात्पर्य यह कि सारी राष्ट्रीय नीति एक लक्ष्य को लेकर परिचालित थी कि घोर युद्ध और संहार की सृष्टि करके संसार पर जर्मन जनता की प्रभुता स्थापित की जा सके। नाजीवाद जगत् की शान्ति और व्यवस्था की समस्या का यही एकमात्र हल उपस्थित करता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये जर्मन-जनता की स्वतंत्रता और अधिकार का निर्दलन कर देना पड़ता है तो नाजीवाद उसे भी अन्तिम सीमा तक कर देता है।

उसकी छत्र-छाया में जनता और वहाँ के मजदूर तथा किसान के लिये उतनी स्वतन्त्रता भी विजातीय है जितनी की पूँजीवादी लोकतंत्रात्मक देशों में वहाँ की जनता को प्राप्त है। जर्मनी में नाजीवाद के सिवा किसी दूसरे दल को जीवित रहने का भी अधिकार नहीं है। और तो और हिटलर ने अपने देश के समस्त मजदूर संघटनों को उध्वस्त कर डाला है। उनका मूलोच्छेदन करते हुए उन्होंने घोषणा की थी कि "कैसा मजदूर दल? मजदूर दल की क्या जरूरत है। नेशनल सोशलिस्ट पार्टी ही तो मजदूर दल है। जब सारे राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व वह करती है तो फिर किसी दूसरे दल की न आवश्यकता है और न किसी दूसरे दल को स्थान है।" पर जहाँ मजदूरों की यह दशा है वहाँ दूसरे दल भी सुरक्षित नहीं हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिन दलों और वर्गों की सहायता पाकर हिटलर पदारूढ़ हुए थे, शक्ति ग्रहण करने के बाद उहीं पर उनका पहला आघात हुआ। धीरे-धीरे उन्होंने अपने सहायकों और विरोधियों का सफाया कर डाला। देश में एकमात्र नाजीदल रह गया।

नाजीवादी जर्मनी में उद्योगपतियों और पूँजीपतियों तक की दशा भी वह नहीं है जो पूँजीवादी देशों में उन्हें प्राप्त है।

बड़े-बड़े उद्योग और कल कारखाने उद्योगपतियों की निजी सम्पत्ति भले ही बने रहें पर अपनी सम्पत्ति का मनमाना उपभोग करने का अधिकार उन्हें नहीं रहा। अपने इच्छानुसार माल पैदा करना, बेचना मुनाफा कमाना और प्रतिद्वन्दिता करना उनके बूते की बात नहीं रह गई। सरकार के आज्ञानुसार उन्हें उत्पादन करना होगा, वितरण करना पड़ेगा और बिक्री के लिये बाध्य होना पड़ेगा। लाभ भी वे वही उठा सकेंगे जो सरकार चाहेगी। कल-कारखानों तथा उद्योग की व्यवस्था, मजदूरों की मजदूरी सरकार के आदेश के अनुसार निर्धारित होगी। इस प्रकार पूँजीपति अपनी संपत्ति का स्वामी नाममात्र को ही रह जाता है। इतना ही अलम् नहीं है। यह समझना भी भूल है कि नाजी या फासिस्ट सरकार पर पूँजीपति, उद्योगपति अथवा महाजन वर्ग की सत्ता प्रतिष्ठित रहती है। यह कहा जाता है कि नाजीवाद या फासिस्टीवाद पूजीवादी व्यवस्था को बचाए रखने के लिये पूँजीवादियों का ही अन्तिम प्रयास है। यह सच है कि पूँजीपतियों तथा उस वर्ग के एजेण्टों ने नाजी-विद्रोह की सहायता यही समझकर की थी कि नाजी सरकार आमूल प्रकम्पित और जर्जरीभूत पूँजीवादी व्यवस्था की रक्षा करने का ही काम करेगा। पर आगे चलकर उनकी यह धारणा भ्रान्त निकली और नाजी-विद्रोह तथा उसके उपरान्त की नाजी-सरकार तथा व्यवस्था ने उनकी भ्रान्ति सिद्ध कर दी।

फ्रेडरिक शूमेन अपनी पुस्तक "नाइट ओवर यूरोप" में लिखते हैं "नाजी अधिनायकवाद के सम्बन्ध में पहले जो भ्रान्त धारणा थी वह अब नहीं रही। मुझे यह अच्छी तरह स्मरण है कि बर्लिन में सन् १९३३ ई० में श्री माउटर ने यह भविष्यवाणी की थी कि नेशनल सोशलिज्म एक दिन नेशनल बोल्शेविज्म का रूप ग्रहण करेगा। उस समय मैंने इस मत का प्रबल खण्डन किया था और यह राय दी थी

की नाजीवाद पूँजीवादियों और अनेक एजेन्टों का एक प्रयास है जो अपनी रक्षा के लिये किया गया है। पर बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि मेरा विचार गलत था और श्री माउटर जो कह रहे थे वही सत्य था। आज जर्मनी में तृतीय राईख के नाम से जिस सरकार की सत्ता स्थापित रही उसके वास्तविक स्वरूप की कल्पना उस समय नहीं की जा सकी थी। यह सत्ता न तो पूंजीपतियों और उनके ऐजेन्टों के हाथ की कठपुतली है और न उनकी कार्यसमिति है जो उनके हित की नीति संचालित करने में लगी हुई है। पूँजीपति और सामन्तों को यदि वह सहन करती है तो केवल उस सीमा तक सहन करती है जहाँ तक उनका शोषण अपने हित में करना सम्भव होता है। पूँजीपतिवर्ग को भी वह अपने संकेत पर नचाती है और बलपूर्वक उनका उपयोग अपनी सुविधा के अनुकूल करती है। यह सम्भव नहीं है कि उक्त वर्ग उस सरकार की नीति के सञ्चालन की बागडोर अपने हाथों में ले और उसे इस प्रकार प्रभावित करे कि वह उनके वर्गमूलक स्वार्थों की सिद्धि का साधक हो। नाजीवादी और नाजी व्यवस्था वस्तुतः एक नव-विद्रोह है जिसका प्रवर्त्तन विद्रोहियों के ऐसे नये गुट ने किया है जिनकी अपनी नयी राजनीतिक और सामाजिक कल्पना है। सारे जगत् में वे उसी विद्रोह की आग भड़काने की चेष्टा में लगे हैं। सम्पत्ति और धन की वह कल्पना और उनका वह मूल्य तथा वह स्थान जो पुराने अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में था नाजीव्यवस्था में नहीं रह गया।"

फ्रेडरिक शूमेन का मत ग्राह्य है अथवा नहीं इस विवाद में यहाँ न पड़ कर इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि फासिटी अथवा नाजी व्यवस्था में यद्यपि आर्थिक संघटन का मौलिक परिवर्तन नहीं होता तथापि वहाँ के आर्थिक क्षेत्र का सूत्र शासन-सत्ता के हाथ में रहता है जो उसका संचालन अपने हित के लिये मनमाने ढंग से करती है। वहाँ के मजदूर यदि स्वतन्त्र नहीं, अधिकार वंचित हैं

तो पूँजीपँतियों के गले पर भी शासन व्यवस्था की लम्बी भुजा पहुँची हुई हैं। दोनों पराधीन हैं सरकार के और उन्हें उतना अधिकार भी प्राप्त नहीं है जितना पूजीवादी लोकतंत्रात्मक देशों के कानून प्रदान करते है। नाजीवाद की आर्थिक, समाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का यही रूप है। मैं समझता हूँ, कि पाठकों ने फासिटीवाद और नाजीवाद के उपर्युक्त संक्षिप्त चित्रण से यह अभास पा लिया होगा कि उन दोनों की दृष्टि, लक्ष्य, पथ और प्रेरणा में अधिक भेद नहीं है। दोनों में प्रायः एक ही प्रवृत्ति और कल्पना का उदय हुआ है। यह प्रवृत्ति और यह कल्पना यदि समाजवाद की विरोधिनी है तो उससे कम लोकतंत्रवाद का भी विरोध नहीं करती। यदि वह जन-स्वतन्त्रता और जन-सत्ता का मूलोच्छेदन करती है तो सामन्तवादी और पूँजी-वादी गुटों को भी दबाए रखने में विश्वास करती है। एक वाक्य में कहें तो कह सकते हैं कि नाजीवाद और फासिटीवाद उन समस्त धारणाओं, कल्पनाओं और आदर्शों का प्रतिवाद और उच्छेदन है जिनका विकास यूरोप में 'पुनरुद्धार युग' (रेनिसाँ) के बाद हुआ था। वह पाश्चात्य संस्कृति की सारी भित्ति और मूलाधार पर कठोर आघात है।

यह सच है कि फासिज्म में आज जिन विचारोंका विकसित रूप प्रदर्शित हुआ है वे जगत् के लिये बिल्कुल नये नहीं है। यूरोप में भी शताब्दियों पूर्व ऐसे दार्शनिक हो चुके हैं जिनकी विचारधारा में आज के फासिज्म का प्रवाह स्पष्ट दिखाई देता है। फासिटीवाद के जन्म के शताब्दी पूर्व जर्मनी में ही 'फीख्टे' और उनके बाद नीट्शे आदि ऐसे विचारक हुए हैं जिनके विचारों में आधुनिक फासिज्म का स्रोत दिखाई देता है। नीट्शे को तो कुछ लोग फासिटीवाद का 'आदि-पुरुष' कहते हैं पर 'फीख्टे' आदि के विचार भी विशेष परिस्थिति में ही उपजे थे। फीख्टे का काल वह रहा है जब जर्मन राष्ट्र नेपोलियन के विरुद्ध घोर युद्ध में संलग्न था। उस समय जर्मनी विशेष अवस्था

में था और उसकी विशेष आवश्यकता थी। फीख्टे अपने देश की स्थिति से प्रभावित हुए। उन्होंने देखा कि संघटित और एकात्म हुआ जर्मनी ही नेपोलियन की विजयिनी रणवाहिनी का सामना कर सकता है। फलतः यह आवश्यक था कि जर्मन जनता की देशभक्ति की भावना का उद्‌बोधन कर दिया जाय।

इसी दृष्टि से फीख्टे ने अपने विचारों का प्रतिपादन किया। उन्होंने समाज को दो प्रकार के वर्गों में विभक्त किया। एक वर्ग तो उन लोगों का बताया जो उत्तम पुरुष कहे जाते हैं और दूसरे वे हैं जो 'अनुत्तम' वर्ग में है। 'उत्तम वर्ग' शासन करता है और राष्ट्र के लिये जीवन की बलि चढ़ा देता है। 'अनुत्तम वर्ग' वह है जो शासित रहता है और जिसका एकमात्र कर्त्तव्य यह है कि 'उत्तमवर्ग' की सेवा करे। फीख्टे ने 'उत्तमवर्ग' को जागरित करने की भरपूर चेष्ट की और घोषणा की कि इस वर्ग में संकल्प-शक्ति होती है जो इतिहासके प्रवाह को समय-समय पर मोड़ती रही है। फीख्टे की दृष्टि में शक्ति और अधिकार-प्राप्ति की इच्छा ही मनुष्य-जीवन का मूल है और उसी में 'उत्तम' की उत्तमता अभिव्यक्त होती है। 'उत्तम' और 'अनुत्तम' के भेद के सिवा फीख्टे के विचारों में जाति-गति श्रेष्ठता की भावना का बीज भी उपस्थित है। वे कहते हैं कि जर्मनी में यद्यपि, 'उत्तम' और 'अनुत्तम' का वर्ग-भेद मौजूद है फिर भी दूसरे राष्ट्रों की तुलना में जर्मनीके 'अनुत्तम' भी 'उत्तम' हैं। क्योंकि "जर्मन होना और चरित्र-शील होना वस्तुततः एक ही बात है।" फीख्टे जर्मनी को संघटित कर के कारपोरेट संस्था का रूप प्रदान करने की राय देते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को सैनिक शिक्षा देकर देश-भक्ति की वह अग्नि प्रज्वलित करना चहाते हैं जो प्रत्येक जर्मन संतान को राष्ट्र के लिये जीवन-होम देने की उत्प्रेरणा प्रदान करे।

फीख्टे के उपर्युक्त विचारों में फासिज्म की कल्पना के जो बीज

निहित हैं वे स्पष्ट हैं। पर उन विचारों का उत्कृष्ट विचार तो नीट्शे के ग्रन्थों में हुआ है। १९ वीं शती के मध्य में नीट्शे का जन्म हुआ जो जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक हुए। उनके विचारों की विवेचना और खंडन-मंडन में संलग्न होना मेरा लक्ष्य नहीं है पर उन्हें संक्षेप में उपस्थित कर देना चाहता हूँ क्योंकि फासिज्म के आदि विचारों का आभास उसमें मिल जाता है। नीट्शे की वचार-धारा अहम्वाद का परम रूप प्रदर्शित करती है। वह सर्वत्र 'मैं' को ही देखते हैं और 'मैं' के सिवा दूसरा कुछ नहीं मानते। उनके मत से अहम् की भावना ही मुख्य है। वही उचित और उसी की पूर्ति कर्तव्य है। वही नैतिक है। अहम् का ही अस्तित्व है और उसके सिवा जो भी है वह महत्वहीन तथा निरर्थक है। वे समझते हैं कि ईश्वर भी नही है क्योंकि वह मर चुका और अहम् ने उसकी हत्या कर डाली है। अहम् ही सब का निर्णायक है, सब का संचालक है और सब का अस्तित्व उसी से सापेक्ष है। अक्षुण्ण ऐकान्तिक अहम् ही है। वह ईश्वरसे भी अधिक परिपूर्ण है। ईश्वर तो है ही नहीं और यदि हो भी तो अहम् ही ईश्वर है।

दार्शनिक दृष्टि से ये विचार ऊँचे हुए होते यदि नीट्शे ने अपने 'अहम्' को ऊँचा उठाया होता। अद्वैतवाद का प्रतिपादक वेदान्त भी 'सोहमस्मि' की आवाज लगाता है पर उसका अहम् इतना ऊँचा और इतना व्यापक है कि मैं और तुम की सारी दुनिया उसमें लय हो जाती। पर नीट्शे अपने अहम् को उतनी दूर न ले जा सके। वे उसकी व्याख्या करते हुए कहते कि 'मैं' का अर्थ है मेरा शरीर। सब का मानदण्ड यह शरीर ही है। शरीर ही सत्य है। दुनिया के समस्त दर्शनों से कहीं अधिक ज्ञान तुम्हारे शरीर में है। तुम्हारे मस्तिष्क अथवा तुम्हारे विचारों से कहीं अधिक बुद्धिमानी तुम्हारे शरीर में है। नीट्शे इस शरीर की भी व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि शरीर का अर्थ है शक्ति, प्रवृत्ति और इच्छा। प्रवृत्ति ही सत्य है और संकल्प ही सत्य है। संकल्प और प्रवृत्ति की भी अभिव्यक्ति बलशील होने तथा

शक्ति-लाभ करके दूसरे पर अधिकार स्थापित करने में व्यक्त होती है। इन सिद्धान्तों के आधार पर नीट्शे दार्शनिक विचारों की एक दीवार खड़ी करते हैं। उनके मत से 'जीवन के संघर्षमें जो सबल और योग्य हैं वे टिकते हैं और निकम्मे तथा निर्जीव मिट जाते हैं'। विकास की प्रक्रिया इसी प्रकार चरितार्थ होती है और विकास ही प्रकृति का धर्म है। इसका अर्थ यह है कि जो सबल हैं, योग्य हैं और अधिकार स्थापित करने में समर्थ हैं उन्हीं को जीवित रहना चाहिए। निर्बलों का मिट जाना ही वांछनीय है। यही नैतिकता है क्योंकि विकास की क्रिया में जो सहायक हो और जो उसकी धारा को अग्रसर करे वही नैतिक है। इसके विपरीत जो उस क्रिया का बाधक हो वही अनैतिक है।

नीट्शे की दृष्टि स्पष्टतः जिस बात का प्रतिपादन करती है वह यही है कि सबल और सशक्त रहें, जगत् का भोग करें और दूसरों पर अपने अधिकार की स्थापना करें। इस संघर्ष में जो सफल हों, वे ही सबल हैं और जो असफल हों वे निर्बल तथा अयोग्य हैं जिन्हें पीस कर मिटा देना ही नीति, न्याय और औचित्य है। नीट्शे सबल को सारा अधिकार प्रदान कर देते हैं। वह जीवित रहने का, अधिकार और प्रभुता स्थापित करने का तथा जो भी करना चाहे, वह सब करने का अधिकारी है। संघर्ष में शस्त्र के द्वारा अपनी सबलता का परिचय देनेवाले को सारा अधिकार प्रदान कर देने के सिद्धान्त के नीटशे प्रबल प्रतिपादक हैं। इच्छा, सङ्कल्प और शस्त्र के द्वारा शक्ति-लाभ करके दूसरों पर अधिकार स्थापित करने की भावना और चेष्टा उनकी दृष्टि में प्रकृति का नैतिक पथ, जीवन का चरम लक्ष्य और मनुष्य के लिये विधेय कर्त्तव्य है। इसके विपरीत जो भी है वह निर्जीवता, नपुंसकता और अनैतिकता है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण वे लोकतन्त्रवाद और स्वयम् ईसाई धर्म की नैतिक कल्पना तथा आचारवाद का भी प्रबल विरोध और गहरी टीका करते हैं। मनुष्य सब समान हैं और सब की भलाई करना कर्त्तव्य है यह उनकी

समझ में बिल्कुल झूठ है। न सब समान हैं न सब की भलाई करना वे अपेक्षित मानते हैं। इस प्रकार के भाव ही दुर्बलों और निकम्मों के उपयुक्त हैं जो दास हैं और जिनका जीवन केवल इसलिये है कि सबल उन्हें कुचल कर विकास की प्रक्रिया का पथ प्रशस्त करे। दया, सहयोग, समवेदना आदि भाव ऐसे ही शक्तिहीनों के लिये हैं।

नीट्शे लोकतन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सबल ने सब काल में निर्बल पर शासन किया है। निर्बल अपनी रक्षा करने की चेष्टा करता है और राजनीतिक क्षेत्र में उसकी यह चेष्टा लोकतन्त्र के रूप में व्यक्त होती है जिसमें मानवमात्र की समानता का झूठा सिद्धान्त खड़ा करके अपनी संख्या के बल से वह अपनी रक्षा करना चाहता है। इसी प्रकार नैतिक क्षेत्र में अपनी रक्षा का प्रयास उसने किया जिसकी अभिव्यक्ति ईसाई-धर्म के आचारवाद में होती है। नम्रता, दया आदि को धर्म घोषित करके ये दब्बू नैतिक आदर्शों की दीवार खड़ी करते हैं और उसके पीछे छिपकर अपनी जान बचाना चाहते हैं। नीट्शे को तो जीवन की सजीवता प्रभुता स्थापित करने की इच्छा में दिखाई देती है। जो प्रकृति के विकास-सोपान पर चढ़ चुका है, जो साधारण मनुष्यों की भीड़ में असाधारणता प्राप्त कर चुका है, उसी में उपर्युक्त इच्छा और संकल्प दिखाई देता है। ऐसे हीं लोग 'उत्तम' हैं। उनके लिए न नीति का बन्धन है और न राष्ट्र का। वे स्वयम् अपने ही स्वामी होते हैं।

नीट्शे का विश्वास है कि विकास की क्रिया इसी प्रकार सम्पादित होगी। बन्दरों से विकसित होकर कोई प्राणी इसी प्रकार मनुष्य बना। नीट्शे समझते हैं कि अब मनुष्य को इसी प्रकार विकसित होकर किसी नई जाति को जन्म देना होगा। वह नयी जाति होगी 'अधि-मानवों' की। उनके वाक्यों पर ध्यान दीजिए। "मानव को मानव-जाति का अतिक्रमण करना है। पर इस दिशामें उसने अबतक क्या किया?

वह तो उलट कर चल पड़ा है और पुनः पशु हो जाना चाहता है। बन्दर आज मनुष्य की दृष्टि में क्या महत्त्व रखता है? वह उपहास्य है और एक लज्जाजनक जन्तु के सिवा कुछ नहीं है। इसी प्रकार 'अधि-मानव' के सम्मुख आज के मनुष्य का क्या महत्त्व होगा? वह उपहास्य और लज्जाजनक जन्तु के सिवा कुछ नहीं।"

नीट्शे के विचारों को कुछ विस्तार के साथ लिखने का साहस इस दृष्टि से किया कि उसमें आधुनिक फासिटीवाद और नाजीवाद का आदिरूप स्पष्ट दिखाई देता है। 'अधि-पुरुष' और 'अधिनायक' लोक-तन्त्र का विरोध और मनुष्य की असमानता का प्रतिपादन, शक्ति की प्राप्ति और निरंकुश प्रभुता स्थापित करने की इच्छा, युद्ध और रक्तपात की प्रशंसा, निर्दलन और शोषण में नैतिकता के दर्शन, जगत् की पराधीनता और शस्त्र का राज्य, सत्यासत्य, विधि-निषेध की समस्त परम्परागत धारणाओं को मटियामेट करके उचित-अनुचित के निर्णय का सर्वाधिकार एकमात्र खड्ग में प्रतिष्ठित कर देना आदि जो विशेषताएँ फासिटीवाद में प्रदर्शित हैं उनका बीज नीट्शे ऐसे विचारकों के विचार-क्षेत्र में दशकों पूर्व अंकुरित हो चुका है। आज वे ही विचार जर्मन नाजीवाद में विकसित दिखाई दें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? नाजीवादी समझता है कि जर्मनी की नार्डिक जाति ही 'अधि-पुरुष' को उत्पन्न करने की शक्ति रखती हैं क्योंकि वह जगत् की सर्वोत्तम जाति है, उसका रक्त सर्वोत्कृष्ट है और उसकी भूमि सर्वश्रेष्ठ है। फलतः विश्व को कुचल कर अपनी प्रभुता स्थापित करने का नैतिक अधिकार उसी को प्राप्त है। नाजी-विचारकों की इन घोषणाओं का कोई आधार नहीं है। जातिगत श्रेष्ठता का सिद्धान्त वैज्ञानिक नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी वह निराधार और असिद्ध है। इतिहास और समाज-शास्त्र दोनों ही दृष्टि से जातियों की रक्त-शुद्धि की कल्पना सर्वथा भ्रान्त सिद्ध हो चुकी है।

प्राणि-विज्ञान के द्वारा भी अब तक विभिन्न जातियों के रक्त में

ऐसा कोई तत्त्व दिखाई नहीं पड़ा जिसके आधार पर एक जाति श्रेष्ठ और दूसरी हीन कही जा सके। इसके विपरीत यह स्वतः सिद्ध है कि जगत् की सभी जातियाँ विभिन्न जातियोंके सम्मिश्रण का ही परिणाम है। यह कहना कि इतिहास का निर्माण जातियों ने किया है असंगत तथा अर्द्धसत्य ज्ञात होता है। यदि, कभी किसी आदि काल में किसी जाति ने इतिहास के निर्माण का सूत्रपात किया हो, तो भी यह मानना होगा कि जातियों ने इतिहास का जितना निर्माण किया है उससे कहीं अधिक इतिहास ने जातियों का निर्माण किया है और आज तक कर रहा है। भगवान् ने किसी राष्ट्र को जगत् पर शासन करने का अधिकार प्रदान कर दिया है अथवा उसके लिये शस्त्र द्वारा अपनी संस्कृति बलपूर्वक किसी के गले के नीचे उतार देने का कर्तव्य निर्धारित कर दिया है—यह कहनेवाले और माननेवाले दोनों ही विक्षिप्त हैं। यह धारणा तो ऐसी है जो न केवल उन्मत्त-प्रलाप की भांति है प्रत्युत विनाशकारी दम्भ और घोर पशु-प्रवृत्ति का द्योतक है।

यह सब होते हुए भी जातिगत श्रेष्ठता की भावना और सिद्धान्त का ज्वलन्त प्रतीक बन कर नाजीवाद वसुधा की छाती पर नग्न ताण्डव कर रहा है। यह मानता हूँ कि इतिहास के लिये इस तरह की भावना सदा नयी नहीं है। भारत के प्राचीन आर्यों में भी यह प्रवृत्ति थी जब अनार्य जातियों को दस्यु आदि के विशेषणों से विभूषित करके उनका भरपूर दमन किया जाता था। उस विकृत प्रवृत्ति से हिन्दू जाति आज भी मुक्त नहीं है। उसमें विभिन्न वर्णों की पारस्परिक श्रेष्ठता और लघुता की भावना आज भी वर्तमान है और अन्त्यजों की समस्या उसी पुरानी परिपाटी का अवशिष्ट रूप है। भारत ही नहीं यूरोप भी ऐसे भावों से ग्रस्त रहा है। 'एङ्ग्लो सैकशन' और जर्मनों ने शताब्दियों तक अपनी श्रेष्ठता के भाव को व्यावहारिक रूप प्रदान किया था। अपने को आर्यवंश की न्यूतानिक शाखा कहनेवाले लोगों ने यूरोप में अपने आक्रमणों और अपनी विजयों के

आधार पर यह धारणा बना ली कि उनकी धमनियों में प्रवाहित रक्त की रचना भगवान् ने स्वयम् विशेष द्रव्यों से की है। ऐतिहासिक युगों में ऐसी तीव्र किन्तु निर्मूल धारणाओं के फलस्वरूप मनुष्य द्वारा मनुष्य का कितना निर्दलन और पीड़न हुआ है यह इतना स्पष्ट है कि कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह कि ऐसी प्रवृत्तियाँ पहले से रही हैं जो अनर्थ और पापका स्रोत होती रही हैं। पर प्रश्न तो यह है कि आज के युग में क्या मानव-समाज से कुछ अधिक भी आशा नहीं की जा सकती ?

जब ज्ञान और विज्ञान का इतना प्रसार हो चुका हो, जब सत्य की जिज्ञासा और उसका साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति इतनी विकसित हो चुकी हो, जब मानव सभ्य और •सुसंस्कृत होने का दावा कर रहा हो उस समय उस निराधार और बर्बर-युगीन जातिगत श्रेष्ठता के सिद्धान्त का ऐसा नङ्गा नाच क्या मानवता के महान् सांस्कृतिक पतन का द्योतक नहीं है ? यही कारण है कि मैं नाजीवाद को प्रयोग नहीं प्रहार मानता हूँ मानवता के मूल पर और वसुधा के वक्षःस्थल पर। मैं इसे पूँजीवाद की रक्षा की चरम चेष्टा नहीं प्रत्युत संस्कृति की धारा को प्रत्यावतर्ति कर देनेका प्रचण्ड प्रयास मानता हूँ। यह मनुष्यके हृदय की पशुता का भयावना विस्फोट है जो उन सब को नगण्य करने पर तुला हुआ है जिस पर मनुष्यता को गर्व है। पर जहाँ यह मानता हूँ वहीं यह भी मानता हूँ कि उस मनःस्थितिके प्रजनन का सबसे अधिक उत्तरदायित्व उस पूँजीवाद पर है जिसके पाप की प्रतिक्रिया इस रूप में मूर्त्त हुई। पूँजीवाद शोषण और साम्राज्यवाद के रूप में यदि विकसित हुआ तो उसका अनिवार्य परिणाम विश्वव्यापी युद्ध के सिवा दूसरा नहीं हो सकता था। गत महायुद्ध का कारण यही था और वर्तमान महासमर का कारण भी यही है। अपनी कुनीति के कारण पूँजीवाद ने मानव समाज को भयावने गृह-युद्ध में झोंक दिया है। गत महायुद्ध में अन्ध स्वार्थ-परता और निरंकुश पशु-शक्ति के

द्वारा विजय प्राप्त की गई। इस घटना ने जगत् की आँखें खोल दीं। उसने देखा कि दुनिया में एक ही पदार्थ है जो न्याय और औचित्य का निर्णय करता है। वही शक्ति और अधिकार का भी निर्णायक है। जिसके पास शस्त्र का बल है वही सफल होता है, उसी की बात रहती है, उसी की उन्नति और प्रभुता का पथ प्रशस्त होता है तथा न्याय और नीति का उपयोग भी अपने हित में करने में वही समर्थ होता है।

विचार कीजिए कि क्या इस प्रकार पशुबल की ही सार्थकता सिद्ध नहीं कर दी गई? जो पराजित और दलित थे उनके मन पर क्या प्रतिक्रिया हो सकती थी? क्या वे यह न सोचते कि शस्त्र-शक्ति के बिना न उद्धार की आशा की जा सकती है और न जीवन की रक्षा। इस अवस्था में यदि उन्होंने यह समझा हो कि सफलता प्राप्त करने के लिये एकमात्र उपाय और नीति यही है कि भुजा में शस्त्र ग्रहण करने का बल हो तथा हृदय में हो अपरिमित और नग्नस्वार्थ-परता तो इसमें आश्चर्य का स्थान कहाँ है? फलत. शस्त्र की उपा-देयता, उसकी सार्थकता देखकर प्रवंचितों, निर्दलितों तथा पराजितों में प्रतिशोध की आग का सुलगने लगना स्वाभाविक था। परिणाम हुआ फासिटीवाद और नाजीवाद का उद्भव। शस्त्र और पशुशक्ति, प्रचण्ड दम्भ और दर्प, द्वेष और सन्देह के भावों से ओत-प्रोत विचार-धारा फूट पड़ी जिसने यूरोप की भूमि को प्लावित कर दिया। उसने समस्त मानवीय विचारों की कोमल लतिकाओं को अपने आवेग में उखाड़ फेका। लोकतंत्रवाद हो अथवा समाजवाद, अन्तर्राष्ट्रीयता-वाद हो या शान्तिवाद वह सब का शत्रु हो गया। पूँजीवाद की रक्षा की चिन्ता भी उसे न रही। धन-प्राप्ति और मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति को भी उसने पशुओं के योग्य घोषित कर दिया। उसने जीवन के सामने एक ही लक्ष्य रखा और पथ के अवलम्बन में विश्वास प्रकट किया। वह लक्ष्य और पथ यह था कि अधिकार की प्राप्ति करो और

शस्त्र की पूजा के द्वारा ही वह लक्ष्य सिद्ध करो। शस्त्र उठाओ और बलपूर्वक वसुधा का निर्दलन करके अपनी प्रभुता स्थापित कर दो। उसने वह आग लगाने की चेष्टा की जिनमें सब 'वाद' जल कर राख हो जायँ और उस भस्मावशेष में से एक दूसरा 'वाद' संभूत हो जो पशुतावाद की ही संज्ञा प्राप्त करने का पात्र है।

यही है रोम-बर्लिन का वीभत्स चीत्कार। इस उन्मत्तता में भला कोई रचनात्मक तत्त्व कहाँ है? यह प्रयोग जीवन की रचना नहीं उसके विनाश का हेतु हो रहा है। आज जगत् में दहकनेवाली समराग्नि उसका परिणाम है जिसमें वह स्वयम् तथा यूरोप की सारी संस्कृतियाँ और गौरव भस्मीभूत होता दिखाई देता है। इसके संबंध में कुछ अधिक लिखना व्यर्थ ज्ञात होता है। उससे गाँधीजी की पद्धति की तुलना करने की बात भी सोचना अपराध है। आश्चर्य होता है उन लोगों की बुद्धि पर जो कह दिया करते हैं कि गाँधी की विचाधारा फासिस्ट है और गाँधी भी स्वयम् फासिस्ट है। उन विदेशी मूर्खों की स्वार्थपरता को तो मैं समझ सकता हूँ जो गाँधी को फासिस्ट कहने का दुराग्रह करते हैं पर उन भारतीयों को क्या कहूँ जो बिना समझे-बूझे अनर्गल प्रलाप कर देने में नहीं हिचकते। वे जरा बुद्धि से काम लें और गाँधी जी की शैली तथा प्रयोग से फासिटीवाद के स्वरूप की तुलना तो करें।

गाँधी जहाँ मानव-समाज को विकास के पथ पर कतिपय पग आगे बढ़ाने के लिये सचेष्ट है वहाँ फासिज्म को लौटा कर वहाँ ले जाने पर तुला हुआ है जहाँ से मनुष्य सहस्राब्दियों पूर्व चल चुका था। गाँधी मनुष्य को मानव बनाना चाहता है और फासिटीवाद पशु। गाँधी भावी जगत् की रचना अहिंसा पर करना चाहता है और फासिटीवाद हिंसा को ही धर्म, सत्य तथा नीति समझता है। गाँधी जन-समाज की स्वतन्त्रता का अभिलाषी है और फासिटीवाद पराधीनता का।

गाँधी मानव-व्यक्तित्व के विकास का आकांक्षी है और फासिटीवाद उसका दमन तथा विलोप चाहता है। गाँधी के जीवन का आदर्श त्याग और अपरिग्रह तथा सेवा में प्रतिष्ठित है और फासिटीवाद का प्रभुता, निर्दलन तथा शोषण में। गाँधी केन्द्रीभूत शक्ति तथा अधिकार के विघटन का पक्षपाती है और फासिटीवाद उसका अकल्पित, अभूतपूर्व तथा घृणित केन्द्रीकरण करना चाहता है। गाँधी का पथ स्वयम् बलि चढ़ कर दूसरे की सेवा करने में है और फासिटीवाद दूसरे का बलिदान करके अपनी सेवा कराना चाहता है। गाँधी कष्ट सहन और तप के द्वारा न केवल स्वात्म-शुद्धि की चेष्टा करता है प्रत्युत मानव-मात्र के सद्भावों, उसकी नैतिक प्रवृत्तियों तथा उसके उत्तमांश को उज्जीवित करना चाहता है और फासिटीवाद इन सब को नगण्य करके मनुष्य की आदि बर्बर-प्रवृत्ति का प्रबोधन कर रहा है।

एक के विचार के मूल में है सेवा और प्रेम, दूसरे की जड़ है द्वेष और प्रतिशोध। एक अहम् की सत्ता को विराट् में लय कर देना चाहता है और दूसरा संकुचित अहम्वाद को ही जागरित कर रहा है। एक संयम और सन्तुलन तथा समन्वय को व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का पथ समझता है और दूसरा जगत् को असन्तुलित करके उसे घोर निरंकुशता और उछृङ्खलता के चरणों में समर्पित किए दे रहा है। एक प्रकाश का पूजक है तो दूसरा अन्धकार की सत्ता स्थापित कर देना चाहता है।। एक में जीवन की उपासना और उसके निर्माण की आकांक्षा का चरमरूप प्रदर्शित है तो दूसरा मृत्यु तथा विनाश को ही स्थायी बना देने पर तुला हुआ है। भला दोनों में कहाँ साम्य है और कैसे हो सकती है उनकी परस्पर तुलना? कृष्ण ने गीता में जीवों के आसुर स्वभाव और दैवी सम्पत्ति की जो रूप-रेखा विकसित की है उस पर दृष्टिपात कीजिए और उनकी तुलना फासिटीवाद तथा गाँधीवाद से कर लीजिए। आसुर स्वभाव का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो, न सत्यं तेषु विद्यते ॥
असत्यमप्रतिष्ठन्ते, जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं, किमन्यत्कामहैतुकम् ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य, नष्टात्मानोल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः, क्षयाय जगतोऽहिताः ॥
काममाश्रित्य दुष्पूर, दंभमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥
चिन्तामपरिमेयां च, प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा, एतावदिति निश्चिताः ॥
अशापाशशतैर्बद्धाः, कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयन् ॥
इदमद्यमयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे, भविष्यति पुनर्धनम् ॥
ईश्वरोहमहंभोगी, सिद्धोहं बलवान् सुखी ।
आढ्योभिजनवानस्मि,कोन्योस्तिसदृशो मया ॥
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य, इत्यज्ञानविमोहिताः ।
अनेकचित्तविभ्रान्ता, मोहजालसमावृताः ॥
आत्मसम्भावितास्तब्धा, धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते, दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥
अहंकारं बलं दर्पं, कामं क्रोधं च सञ्श्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु, प्रद्विषन्तोभ्यसूयकाः ॥

अर्थात् "आसुर स्वभाववाले मनुष्य न तो यह जानते हैं कि क्या कर्त्तव्य है और न यह जानते हैं कि क्या अकर्त्तव्य है। न उनमें सत्याचरण होता है न शौच और न आचार। जगत् को आश्रयरहित मानने वाले, सत्य और ईश्वर का भी अस्तित्व न स्वीकार करनेवाले, विश्व को अकस्मात्, निष्प्रयोजन तथा केवल कामकौतुक से सम्भूत

समझनेवाले, अपनी अपरिसीम कामनाओं की पूर्ति की इच्छा रखनेवाले, दम्भ मान और मद से युक्त अपने ही भोग को सत्य समझते हैं और उन्हीं की पूर्ति में जीवन को लगा लेना एकमात्र लक्ष्य मानते हैं। आज यह मिला कल उसे प्राप्त करना चाहिए, आज इस शत्रु का नाश किया और कल उसका नाश करना चाहिए, मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही भोगी, सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ। मुझ से बड़ा धनवान्, शक्तिमान् और योग्य कोई नहीं हो सकता। ऐसी बुद्धि, दृष्टि और मिथ्याज्ञान को अपनाकर, अभिमान दम्भ और स्वार्थ में अन्धे होकर इस प्रवृत्ति के लोग जगत् के अहित और विनाश के कारण होते हैं तथा अति उग्र और क्रूर कर्मों का प्रवर्तन कर देते हैं।"

पाठक गीता के उपर्युक्त वाक्यों पर विचार करें और देखें कि फासिटीवाद में क्या उन्हीं प्रवृत्तियों का चरम विकास नहीं हुआ है? दूसरी ओर दैवी सम्पत्ति का वर्णन भी श्रीकृष्ण के शब्दों में ही सुन लीजिए। वे कहते हैं:—

अहिंसा, सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवम् ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव, अलोलुपता, लज्जा, स्थिरता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, बाह्याभ्यन्तर शुद्धि, अद्रोह, अनावश्यक दम्भ का अभाव आदि दैवी प्रवृत्तियाँ हैं।

विचार कीजिए कि गाँधीवाद की मूल भित्ति क्या उपर्युक्त प्रवृत्तियों पर ही स्थापित नहीं है? क्या वह उन्हीं भावनाओं की उपासना, उद्बोधन और आवाहन की चेष्टा नहीं करता? क्या वह उन्हीं के जागरण के द्वारा नए जगत् और नए जीवन की रचना करना नहीं चाहता और क्या उसी में आधुनिक समस्याओं का हल नहीं देखता? फिर

आसुर भावापन्न फासिटीवाद और शुभ-प्रवृत्तिमूलक गाँधीवाद में तुलना हो ही कैसे सकती है ? वे दोनों मूलतः विरोधी हैं। फलतः गाँधीजी के विचारों में फासिटीवाद की गंध खोजनेवाले या तो अज्ञानी हैं अथवा हठधर्मी के पुजारी हैं।

हाँ यूरोप के अन्य सभी 'वादों' में हम फासिटीवाद की किसि न किसी प्रवृत्ति का आभास अवश्य पाते हैं। पूँजीवादी लोकतन्त्र ने आज जो रूप ग्रहण कर लिया है वह फासिटीवाद का ही एक और संस्करण हो गया है। साम्राज्यवाद और फासिटीवाद में आप को अधिक भेद दिखाई न देगा। और तो और रूसी समाजवाद में भी फासिटी-प्रवृत्तियों की अनेक बातें स्पष्टतः समाविष्ट हैं। एकमात्र भौतिक दृष्टि पर आश्रित यूरोप की सारी सांस्कृतिक धारा ने, तथा उसके विज्ञान-वाद और बुद्धिवाद ने भी अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्षरूप से यूरोप के जन-समाज में जीवन और जगत् के प्रति जो दृष्टिकोण उत्पन्न कर दिया है उसमें आप उन भावों और प्रवृत्तियों का प्रभाव देखेंगे जिसे कृष्ण ने आसुर भाव का नाम प्रदान किया है। पर फासिटीवाद की तुलना यदि दूर से भी किसी के साथ नहीं की जा सकती, यदि कोई उसके भावों से पूर्णतः अस्पृश्य है, और कोई सर्वथा, मूलतः सिद्धान्ततः तथा व्यवहारतः उसका विरोधी है तो वह गाँधीवाद है। गाँधी का प्रयोग ही इसलिये है और उसकी सारी चेष्टा का लक्ष्य ही यह है कि मान-वता उन प्रवृत्तियों और पथों से मुक्त तथा विरत की जाय जिसका प्रतिनिधित्व यूरोप का फासिटीवाद तथा नाजीवाद मुख्यतः, और सभी वाद गौणतः कर रहे हैं।

बापू की दृष्टि और पथ

गत महायुद्ध के बाद यूरोप में हुए कुछ प्रयोगों की अति संक्षिप्त रूपरेखा गत पृष्ठों में की जा चुकी। उनके सम्बन्ध में यदि एक वाक्य में कुछ कहना हो तो यही कहा जा सकता है कि वे प्रयोग उस धारा के प्रतीक हैं जो युद्धोत्तर विश्व में लोकतन्त्र के आदर्श और उसकी कल्पना के विरुद्ध प्रवाहित हुई। रूसी समाजवाद तथा उसी प्रकार इटालियन और जर्मन फासिटीवाद स्पष्टरूप से उस लोकतंत्र के विरुद्ध थे जिसका विकास यूरोप की भूमि पर गत कतिपय शताब्दियों में हुआ था। पर समाजवाद और फासिटीवाद तक ही यह बात परिमित नहीं है। यूरोप में घटित घटनाओं ने स्वयम् लोकतंत्रात्मक देशों में उस प्रवृत्ति को जन्म प्रदान किया जो उन्हें लोकतंत्र के विरुद्ध ले बहीं। यह सत्य है कि उनका ऊपरी वेष तब भी लोकतंत्रात्मक बना रहा और अब भी बना हुआ है। पर उसके आवरण में जो प्रेरणा सक्रिय हुई वह धीरे-धीरे लोकतन्त्रवाद को ही चबाती गई। लोकतन्त्र की यह विकृति ही गत महायुद्ध का कारण हुई। उसके बाद उसका क्षय क्रमशः होता गया जो गत बीस वर्षों में अपने चरम बिन्दु पर पहुंच गया। लोकतंत्र के इस ह्रास में हृदयहीन उत्पादक यन्त्रों के आविर्भाव ने किस प्रकार सहायता पहुँचाई और किस प्रकार उससे उद्भूत पूँजीवाद लोकतन्त्र को ले डूबा इस पर थोड़ा प्रकाश पहले डालने की चेष्टा की जा चुकी है।

यूरोप में एक युग था जब राष्ट्रीयता प्रगति की पुजारिणी, उदार और उन्नत भावों की जननी लोकतन्त्र तथा जन-स्वातंत्र्य की प्रतिपादिनी और नैतिक धाराओं से ओत-प्रोत थी। पर उसी यूरोप में यंत्रवाद के उस युग का विकास हुआ जब राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र आर्थिक तथा

राजनीतिक साम्राज्यवाद का जगत् के दोहन और दलन का जनस्वत्व और जन-सत्ता के कुटेव का तथा शक्ति और अधिकार के वर्गमूलक-केन्द्रीकरण का कारण हो गया। युद्ध के बाद लोकतंत्रवादी राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ की स्थापना अवश्य की, उसे लोकतंत्रात्मक रूप भी प्रदान किया पर अंततः उपर्युक्त संघटन साम्राज्यवादी लिप्सा की पूर्ति और आर्थिक शोषण का ही कारण बना। आशय यह है कि गत दो दशकों में जो प्रयोग हुए वे चाहे लोकतंत्रवादियों की ओर से हुए हों अथवा दूसरी दिशा से स्वरूपतः और भावतः लोकतन्त्रवाद को नगण्य ही करने वाले थे।

आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में किसी न किसी वर्गविशेष की अधिकारसत्ता को केन्द्रित करने की चेष्टा सब ने समानरूप से की। इस केन्द्रीकरण की सफलता के लिये केन्द्रीभूत हिंसा की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत हुई फलतः सब ने शस्त्र का आश्रय ग्रहण किया। केन्द्रीभूत हिंसा का जब आविर्भाव होगा तब जन-समाज का निर्दलन और शोषण न केवल स्वाभाविक है प्रत्युत अवश्यम्भावी है। परिणामतः सारी धरती हिंसा, दलन और दोहन की आग में भस्म होने लगी, मानव-समाज के सांस्कृतिक महाविनाश का पथ प्रशस्त होने लगा और प्रगति तथा विकास की धारा मानवपशुता की मरुभूमि में पहुँच कर सूखती दिखाई देने लगी। ऐसे समय जब युग की यह अवस्था थी भारत में एक नया और महान् प्रयोग आरम्भ हुआ। मानव समाज सामूहिक हिंसा से कैसे त्राण पावे, कैसे सांस्कृतिक विकास के पथ पर उसकी चिरयात्रा अबाधगति से जारी रहे, कैसे जनसमाज दैन्य, दलन, दासता की घृणित विभीषिका से मुक्त हो और कैसे मनुष्य ज्ञान-विज्ञान से उपार्जित विभूति का उपयोग जगत् के विनाश नहीं कल्याणार्थ करने में समर्थ हो? युग के प्रश्न का तथा उसकी समस्या का यही रूप था। भारत में आरम्भभूत यह प्रयोग युग की समस्या को हल करने का ही प्रयास था।

इस समस्या के सुलझाव का अभिनव उत्तर लेकर एक युग-पुरुष उपस्थित हुआ। उसकी कल्पना की मौलिक दृष्टि थी अनोखी और मार्ग था नवीन। उसने आवाज लगाई कि मानव की मानवता का उद्बोधन किये बिना समस्या को हल करना असम्भव है। मानवता का जागरण उसी स्थिति में सम्भव है जब उसके ज्ञान और विज्ञान का, अर्थ और काम का, समाज और जीवन का, राजनीतिक तथा विधान का समन्वय नैतिकता के साथ स्थापित हो। वैज्ञानिक विभूति हो अथवा यान्त्रिक उद्योगवाद, लोकतन्त्र हो अथवा समाजवाद, मनुष्य उन सब का दुरुपयोग करके अनर्थ की सृष्टि कर सकता है। महती कल्पनाएँ, उत्कृष्ट संघटन तथा आविष्कार भी अभिशाप बन जा सकते हैं। उसके द्वारा भी जगत् का कल्याण उसी समय हो सकता है जब उनका आधार मनुष्य की उद्बुद्ध नैतिकता हो। आज मनुष्य को सब कुछ उपलब्ध है पर खो गई है उसकी मानवात्मा। फलतः उसका विशाल ऐश्वर्य और महान्-वैभव उसके पराभव और पतन का कारण हो रहा है।

यही थी दृष्टि जिसे लेकर उक्त युग-पुरुष ने जगत् की ओर देखा। उसने भविष्य के निर्माण की कल्पना की। भावी जगत् ऐसा हो जिसमें मनुष्य का उज्वलांश उज्जीवित हो, उसकी राजनीति और अर्थ-नीति एवं विधि और व्यवस्था ही नहीं वरन् जीवनका सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग नैतिक भावों से आप्लुत और प्रभावित हो। उसी स्थिति में जगत् का निर्माण अहिंसा के आधार पर हो सकेगा और हिंसा से मुक्त धरित्री में जन समाज निर्दलन और शोषण से बच कर आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेगा। मनुष्य की वे वृत्तियाँ जो सहयोग और समवेदना, सेवा और स्नेह की ओर सहज ही उन्मुख हैं जब तक जागरित नहीं होतीं तब तक समता, स्वतन्त्रता, और बंधुत्वके विकास की आशा भी करना बालू से तेल निकालने के सामान है। समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के आधार पर यदि जगत् की रचना

करनी है तो वह स्थिति लानी होगी जिसमें प्रेम और विधान एक हों। इसी में उसने नये प्रकार के लोकतंत्र की कल्पना व्यक्त की। वह लोकतन्त्र नहीं जो अहम् के सुख को जीवन का लक्ष्य समझे। वह लोकतन्त्र नहीं जो सुख की कल्पना सांसारिक भोगों तक ही परिमित रखता हो। वह लोकतन्त्र नहीं जो अधिकार और शक्ति की सत्ता को केन्द्रित करता हो और वह भी लोकतन्त्र नहीं जो वर्ग द्वारा वर्ग के शोषण का औचित्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आवरण में सिद्ध करता हो।

उसका कल्पित लोकतन्त्रात्मक जगत् ऐसा है जिसमें शक्ति और अधिकार समाज के आधारभूत जन-मण्डल में वितरित हों। जन-समाज ही उसका स्रोत और निधि हो। आर्थिकक्षेत्र में जनसमूह स्वावलम्बी और स्ववश हो, उत्पादन के साधन और उत्पन्न पदार्थ का सच्चा स्वामी हो। समाज और व्यक्ति एक दूसरे के पूरक हों। व्यक्ति का व्यक्तित्व समष्टि में लय हो जाने के लिए हो और समूह व्यक्ति को इस प्रकार सर्वाङ्ग और सर्वांश में विकसित होने में सहायता दे कि वह विराट् में अपने को उत्सर्ग कर देने में सफल हो। अहम् की सत्ता के इस क्रमिक और सर्वांशिक उदय किन्तु स्वेछाकृतलय के फलस्वरूप जिस समाजवाद का उदय होगा उसमें सच्चे वर्गहीन समाज का विकास हो सकेगा। सच्ची वर्गहीनता उसी समय सम्भव है जब मनुष्य मानवता के उच्चस्तर पर पहुँचा हुआ हो। कानून अथवा शस्त्र अथवा निरंकुश शासनसत्ता के प्रबल आघात से जीवन के विकास तथा मानव की प्रगति की आशा करना विशुद्ध भ्रांति है। मनुष्य का विकास मनुष्य का निर्माण करने से होगा। निर्माण इस प्रकार किया जाय कि वह अपने अधिकार नहीं कर्त्तव्य की ओर अभिमुख हो। कर्त्तव्य ही हो उसका लक्ष्य और कर्त्तव्य ही हो पथ। कर्त्तव्यकी भावना में अहम्का विसर्जन सन्निविष्ट हो। जब व्यक्ति और समाज की दृष्टि अधिकार की ओर से हट कर कर्तव्य पर स्थिर हो तब श्रम का आधार हो जायगा प्रेम और पूँजी का आधार होगा उत्सर्ग।

इस प्रकार पूँजी और श्रम का समन्वय होगा उत्सर्ग और प्रेम में। वर्ग का संघर्ष और वर्गों का भेद वर्गद्वेष की आग भड़काने से भला कैसे मिट सकता है ? उसका स्थायी हल तो उसी समय सम्भव है जब वर्गों के विरोधी हितों के विरोधत्व को मिटा दिया जाय। विरोधत्व का लोप विरोधी हितों को किसी एक बिन्दु में लय कर देने से हो सकता है। यह समन्वय और सामञ्जस्य ही वर्गसंघर्ष का लोप करेगा और वर्गभेद को मिटा देने का कारण होगा। उस युग-पुरुष ने इसी रूप में नए लोकतन्त्र और सच्चे समाजवाद की कल्पना की। उसने विरोधी हितों को प्रेम और उत्सर्ग में लय कर देने की बात सोची और यह देखा कि इसकी सिद्धि उसी दशा में हो सकती है जब मनुष्य की मनोवृत्ति को अधिकार-प्राप्ति की ओर से हटा कर कर्तव्य-पालन की ओर अग्रसर किया जाय। मनुय की दृष्टि और वृत्ति के इस परिवर्तन का एकमात्र उपाय यह है कि उसकी सहज और सनातन नैतिक अन्तश्चेतना का जागरण हो। इसी भांति उसने भावी जीवन और जगत् की रचना का स्वप्न देखा। अपनी इस कल्पना को उसने व्यक्त किया यह कह कर कि अहिंसा के आधार पर जगत् का निर्माण करना होगा। मानव-समाज के विचारक्षेत्र को यही उसकी महती देन थी।

पर उसकी सक्रियता विचारक्षेत्र तक ही परिमित न थी। उसके जीवन में उज्वल आदर्श-वादिता के साथ-साथ कठोर कर्मठता का अभिनव सम्मिश्रण हुआ है। वह भारत के उन महर्षियों की परम्परा से प्रसूत है जो सिद्धान्तवादिता की सार्थकता, जीवन में उसे व्यावहारिक रूप देनेमें ही मानते थे। फलतः उसने अपनी कल्पना को साकार रूप प्रदान करने का भारी भार भी उठाया। लक्ष्य स्थिर कर लेने के बाद वहाँ तक पहुँचने का पथ उपस्थित करने का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लाद वह आगे बढ़ा। आदर्श और कल्पना की भारी गठरी का असह्य बोझ उसके सिर पर था। चारों ओर अंधकार था, मानव-जगत् के जीवन की प्रबल धारा हाहाकार करती हुई विपरीत दिशा की

ओर बही जा रही थी, मानव-पशुता का डरावना अट्टहास दशों दिशाओं को कम्पित् किए हुए था पर वह वृद्धकाय किन्तु अन्तरालोक से उल्लसित तपस्वी अपनी लकुटी ठेगते हुए पथ का निर्माण करने के लिए अग्रसर हुआ। पथ के निर्माण की उसकी यह चेष्टा उस प्रयोग के रूप में व्यक्त है जिसका सूत्रपात भारत में गत पचीस वर्ष पूर्व हुआ।

यह प्रयोग था नैतिक पद्धति से अनैतिक भावों और वेषों का अदम्य प्रतिरोध करने का जिस के फलस्वरूप नैतिकता का जागरण हो सके और जीवन की रचना नैतिक आदर्शों के आधार पर की जा सके। लक्ष्य के अनुकूल पथ न होने पर लक्ष्य का भेदन असम्भव है। यदि लक्ष्य यह है कि अहिंसा की प्रतिष्ठा समाज के संघटन के मूल में हो, यदि मनुष्य को दासता, हिंसा तथा बर्बरता से मुक्त करना हो तो उसकी सिद्धि के लिए साधन का अहिंसक होना अनिवार्य है। बर्बरता का पराभव यदि मानवतासे न हो तो मानवता का विकास सम्भव ही नहीं। उसने विश्वास और श्रद्धा के साथ यह देखा कि मनुष्य के जीवन का स्वरूप द्वन्द्वात्मक है जिसमें पशुता के साथ मानवता की सहज प्रतिष्ठा है। मनुष्य अपनी ही पशुता से संघर्ष करता हुआ विकास की ओर बढ़ा है। फलतः यदि उसे अपनी यात्रा जारी रखनी है तो उस युद्ध को भी जारी रखना होगा। इस स्थिति में मानव-पशुता से मानवी-मानवता का संघर्ष अपेक्षित है। उसने मानवीय युद्ध के व्यूहन का भार उठा लिया। युद्ध और क्रान्ति को हिंसा तथा रक्तपात के बीच से बाहर निकाल कर मानवता के उच्च और पूत धरातल पर ले जाना उसकी प्रयोग-पद्धति का आधार हो गया। असहयोग और सत्याग्रह में उसकी अहिंसक रणपद्धति मूर्त्त हुई। द्रोह-रहित विद्रोह और रक्त-रहित युद्ध की प्रणाली उसकी दूसरी महती देन थी जिसे उसने मानव-समाज के व्यावहारिक कार्यक्षेत्र को प्रदान किया।

विचारों और कल्पनाओं को साकाररूप प्रदान करने के लिए

आधार-पीठिका अपेक्षित होती है। जिस प्रकार बोल्शेविज्म को रूस की भूमि और नाजीवाद को जर्मनी की सीमा अपने-अपने प्रयोग के लिये प्राप्त हुई उसी प्रकार भारत का विस्तृत-भूखण्ड परिस्थितियों के प्रताप से अपना प्रयोग करने के लिये तथा अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिये गांधीजी को मिल गया। उनकी विचार-धारा का जन्म यद्यपि अफ्रीका में हुआ था तथापि उसे प्रौढ़ता, विस्तार और गति भारत में ही मिली। विराट् के विकसित होने और फूलने-फलने के लिये उपयुक्तक्षेत्र, उपयुक्त अवसर और उपयुक्त परि-स्थिति का मिलना आवश्यक होता है। यह अवसर और यह परि-स्थति भारत में वर्तमान थी। भारत की समस्या युग की समस्या का ही अङ्ग है जिससे जगत् उत्पीड़ित है। यदि जगत् साम्राज्यवाद का, जातिगत श्रेष्ठता की भावना और वर्णभेद का, आर्थिक और राजनी-तिक पराधीनता का, पूँजीवाद और शस्त्रवाद का शोषण और उत्पी-ड़न का शिकार है तो भारत भी उसीसे त्रस्त है। भारत ही तो मानव-समाज के उस अंश का ज्वलंत प्रतीक है जो मनुष्य की पशुता और स्वार्थान्धता से बुरी तरह निर्दलित है। जगत् की समस्त दबी हुई जातियों की समस्या का सजीवरूप भारत में वर्तमान है। उससे बढ़ कर दूसरा कौन है जो यूरोप में उत्पन्न अमानवी प्रवृत्ति का कुपरिणाम भोग रहा हो? ऐसी स्थिति में उस प्रवृत्ति का प्रतिरोध और विलोप करने लिये आवश्यक प्रेरणा तथा पथ भारत के सिवा और कौन प्रस्तुत कर सकता है?

स्पष्ट है कि जिस जगद्व्यापिनी प्रवृत्ति और क्रिया का सक्रियरूप भारत में व्यक्त हुआ उसकी प्रतिक्रिया भी यहीं हो सकती थी। यूरोप ने इस देश को समस्याओं और परिस्थितियों की जिस विकटता और उलझन में डाल दिया उसका प्रतिकार भी यही देश कर सकता था। जगत् की परिस्थिति यदि उपर्युक्त समस्याओं के हल की माँग कर रही थी तो भारत की अवस्था भी उसी की अपेक्षा कर

रही थी। गाँधी जी का उदय इसी माँगका परिणाम है। वे सम्भूत हैं उस परिस्थिति के गर्भ से जो स्वभावतः उपर्युक्त समस्याओं की विभीषिका से छुटकारा पाने की माँग कर रही थी। यही कारण है कि परिस्थिति के अनुकूल पथ और पद्धति लेकर वे अवतरित हुए। वही पथ और पद्धति आज "गाँधीवाद" के नाम से जगत् के सामने उपस्थित है। स्वयं गाँधीजीने 'गाँधीवाद' की कोई निश्चित रूपरेखा और व्याख्या नहीं की है। यह सच है कि गाँधीजी की दृष्टि के पीछे निश्चित विचारधारा है, जीवन और जगत् तथा मानव इतिहास के प्रति निश्चित दृष्टिकोण है। उनके विचारों का ठोस दार्शनिक आधार भी स्पष्ट प्रकट होता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने उस रूप में और उस अर्थ में किसी 'वाद' की रचना की है जिस रूप और जिस अर्थ में यूरोप के अनेक विद्वानों और दार्शनिकों ने की है। गाँधी जी स्वयम् न किसी 'वाद' के प्रवर्तक बनना चाहते हैं, न किसी नव धर्म के गुरू और न किसी नूतन मठ के महन्त। वह अपने को सत्य का विनम्र साधक और सत्यानुशीलन में संलग्न एक आतुर अन्वेषक के रूप में ही व्यक्त करते रहे हैं। जो व्यक्ति अपने को छोटा सा साधकमात्र समझता है और जो अब तक किसी अनुसन्धान में संलग्न है वह सत्य के सम्बन्ध में न अंतिम निर्णय प्रदान करने का साहस कर सकता है और न अपने मत को सारे ज्ञान का "इदमित्थम्" कहने का दावा कर सकता है। वह अनुयायियों से इसी कारण यह अपेक्षा भी नहीं करते कि वे उनके विचारों को उस रूप में स्वीकार करें।

किसी प्रमाणिक ग्रन्थ की रचना करके गाँधीवाद का प्रवर्तन करने में न गाँधी जी सफल हुए और न मार्क्स और स्टर्नर, हिटलर या मुसोलिनी की भांति न कभी यह घोषणा ही कर सके कि वह जगत् को कोई ऐसी दृष्टि प्रदान कर रहे हैं जो अबतक के इतिहास में कभी किसी को सुझाई नहीं पड़ी। गाधीजी में न इतनी अहम्मन्यता है और न इतना साहस। उनके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि वे कर्मठ

साधक हैं जो वर्तमान जगत् को और उसकी समस्याओं तथा उसके स्वरूप को एक विशेष दृष्टि से देखते हैं और उसके प्रकाश में जिन तत्थ्यों पर पहुँचते हैं उन्हीं के आधार पर वर्तमान प्रश्नों को सुलझाने की पद्धति खोज निकालने की चेष्टा करते हैं। फलतः भले ही गाँधीजी के पास कोई वाद न हो तथापि उनकी एक विशेष दृष्टि है, उनकी एक विशेष पद्धति है उनके प्रयोग में वे दृढ़तापूर्वक संलग्न हैं। उनके लिये उनकी पद्धति और उनके पथ का स्वरूप विशुद्ध प्रयोगात्मक है जो उत्कट साधना के रूप में सामने प्रस्तुत होता है। गाँधीजी ऊँची दार्शनिक उड़ानों में भी नहीं पड़ते। उनकी दृष्टि सृष्टि के उद्गम और जीवन के स्रोत अथवा प्रकृति के मूल की विवेचना करने में अपना समय नहीं लगाती। जो सामने है और जो स्थूल रूप से समीप तथा दृश्य है उसे ग्रहण करती है और उसी के द्वारा मौलिक, तात्विक तथा रहस्यमय बिन्दु तक पहुँचने की चेष्टा करती है। वे जीवन की प्रयोगशाला में, जीवन के आदर्श और उसके सत्य की प्राप्ति के लिये जीवन द्वारा ही जीवन का प्रयोग करते दिखाई देते हैं।

मनुष्य संसार और जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण ग्रहण करता है उसी के अनुसार वह व्यक्ति और समाज के लिये आदर्श की कल्पना करता है और उसी के अनुकूल आचरण का पथ भी निर्धारित कर लेता है। मानव-जीवन के प्रति गाँधीजी भी विशेष दृष्टि ग्रहण करते हैं। अवश्य ही उनकी कल्पना में न कोई गम्भीर 'रहस्यवाद' है और न कोई बड़ी गूढ़ दार्शनिकता। वह योगियों की भाँति दिव्यज्ञान का दावा भी नहीं करते। पर यह सब होते हुए भी वे जीवन के प्रति केवल भौतिक दृष्टि स्वीकार करने में समर्थ नहीं हैं। साधारण जीवनके प्रवाह और विधि-विधान के मूर्त स्वरूप को देखकर वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विश्व की एकमात्र भौतिक व्याख्या करना सत्य की उपेक्षा करना है। ऐसी व्याख्या गाँधी जी की दृष्टि में यदि निराधार नहीं है तो एकांगी अवश्य है। जीवन का एक स्वरूप

भौतिक हैं, और उसीकी एक धारा भी भौतिक है इसे गाँधीजी स्वीकार करते हैं। पर वह यह भी मानते हैं कि उसी जीवन का एक दूसरा पहलू भी है, एक दूसरा अंग और प्रवाह भी है जो अभौतिक है। विश्व की रहस्यमय अनन्तता में उन्हें किसी वास्तविकता की अलौकिक अभिव्यक्ति दिखाई दे जाती है। जिस रहस्य में प्रवेश करने में हम असमर्थ हैं वही किसी अक्षय चिरंतन सत्ता के अस्तित्व का आभास दे देता है। गाँधीजी को इस मूर्त विश्व में उस सत्ता के अस्तित्व का आभास दे देता है। गाँधीजी को इस मूर्त विश्व में उस सत्ता की असीम चेतना और अनन्त सौंदर्य की झलक मिल जाती है। वह देखते हैं कि मानव-चेतना स्वतः उसीका अंग भूत है जो उसी के सौंदर्य की परिसीम अनुभूति सदा से करती आई।

यही कारण है कि गाँधीजी जीवन और विश्व के दोनों पहलुओं का अस्तित्व समान रूप से स्वीकार करते हैं। स्थूल विश्व जहाँ भौतिक शक्तियों और पार्थिव तत्त्वों के पुञ्जीभूत परिणाम के रूप मे स्थित है वहीं अमूर्त चेतन का पहलू भी वर्त्तमान है जिसकी अभिव्यक्ति के रूप में जीवन उपस्थित होता है। यही भावानुभूति और भावुकता उन्हें भौतिकता की सीमा से परे ले जाती है। गाँधीजी समझते हैं कि जीवन के इस स्वरूप को अस्वीकार करना सत्य से मुख मोड़ना है। जीवन का यह द्वन्द्वात्मक स्वरूप प्रकृति का सहज विधान है। एक में जितना सत्य है उतना ही सत्य दूसरे में भी है। जितना सत्य स्थूल शरीर और भौतिक तत्त्वों में है उतना ही सत्य उस अमूर्तालोक में भी है जो जीवन को सौन्दर्यानुभूति कराने में सफल होता है। गाँधीजी पार्थिव जगत् के अस्तित्वको जिस सीमा तक स्वीकार करते हैं उसी सीमा तक चेतन के स्वतन्त्र और अक्षुण्ण अस्तित्व को भी मानते हैं। एक यदि अनादि है तो दूसरा भी अनादि और अविनश्वर है। फलतः अधिक दार्शनिक प्रपञ्चों में न पड़ते हुए भी वे इस विश्वास को लेकर अग्रसर होते हैं कि विश्व के मूल में चेतन की स्वतन्त्र सत्ता प्रतिष्ठित

है। भौतिकवादियों की भाँति वे चेतना को जड़भूतों की अभिव्यक्ति-मात्र स्वीकार करने में समर्थ नहीं हैं और न यही स्वीकार कर सकते हैं कि द्रव्य द्वारा द्रव्यता की अनुभूति ही चेतना है। अचेतन भौतिक द्रव्यता की अनुभूति कर ही नहीं सकता क्योंकि अनुभूति चेतना का ही गुण है। अतः वे "आत्मवाद" के "चेतनवाद" को ग्रहण करके अग्रसर होते हैं। इसी दार्शनिक आधार को ग्रहण करके वे जीवन और जगत् पर दृष्टिपात करते हैं। जीवन के विकास के मूल-तत्व के रूप में वे चेतन सत्ता को ही स्वीकार करते हैं। वे यह भी देखते हैं कि जीवन की चेतना का एक मार्ग स्पष्ट रूप से असंदिग्ध है। सदा से मनुष्यता तथा मनुष्य का अनादि और अविनश्वर चेतन सुन्दर-असुन्दर, सत्य-असत्य, शिव-अशिव तथा उचित-अनुचित की कल्पना करता, और अनुभूति करता आया है।

सत्य, शिव और सौन्दर्य की सत्ता के सम्बन्ध में विवाद खड़ा किया जा सकता है। कहनेवाले कह सकते हैं कि उनकी सत्ता सापेक्ष है; क्योंकि उनकी कल्पना युग-युग में बदलती रही है। जिसे आज हम सत्य समझते हैं वह कल असत्य हो जाता है; जिसे एक सुन्दर समझता है वह दूसरे के लिए असुन्दर है। फलतः इनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है और जो है वह हमारी दृष्टि से अथवा युग के धर्म से सापेक्षामात्र है। ऐसी स्थिति में उन्हें न वास्तविक कहा जा सकता है और न जीवन का आधार माना जा सकता है। अधिक विवाद और वितंडा में पड़े बिना उपर्युक्त तर्क के उत्तर में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि दृष्टि-भेद होनेमात्र से सत्य की सत्ता सापेक्ष नहीं हो जाती! सत्य अथवा सौन्दर्य अथवा शिव की कल्पना यदि सदा से की जाती रही है, तो यही इस बात का प्रमाण है कि उसकी स्वतन्त्र सत्ता प्रतिष्ठित है कल्पना उसी की होती है। जो हो और जो नहीं है, जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसकी कल्पना भी नहीं है। चेतन यदि इनकी कल्पना सदा से करता आया है और यदि चेतन अविनश्वर है

तो सत्य भी अविनश्वर है उसके सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण युग के धर्म से अथवा स्थान के भेद से अवश्य सापेक्ष रहा है, जिसके फलस्वरूप दृष्टिभेद दिखाई देता रहा है। स्थान भेद से अथवा काल भेद से यदि दृष्टिभेद हो जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि दृश्य सत्ता का अस्तित्व अथवा उसका स्वरूप वस्तुतः परिवर्तित हो गया।

यह मानता हूँ कि सत्य की व्याख्या करना, सौन्दर्य की रूपरेखा का अङ्कन करना नितान्त असम्भव है। अधूरे मनुष्य की अपूर्ण वाणी कब इसमें समर्थ हो सकी है? भौतिक विज्ञान का शास्त्री क्या बता सकता है कि उसके विद्युत् धनकण और ऋणकण का अन्तिम रूप क्या है? वह भी कहता है कि अपने अन्तिम रूप में वे अमूर्त हो जाते हैं और उनके अस्तित्व का पता वायुमण्डल में उनके द्वारा उद्भूत गति-लहरी और सञ्चालनमात्र से चलता है। विश्व का समस्त भूतात्मक दृश्य लोक उसी तत्त्व का परिणाम और उसी की छाया है; पर स्वयं उसका अन्तिम और वास्तविक रूप अमूर्त्त और अभौतिक-सा है। मैं पूछता हूँ कि जब साकार भौतिक तत्त्व की यह दशा है, तो निराकार के स्वरूप का अङ्कन करना भला कैसे सम्भव हो सकता है? पर उनका अस्तित्व है—इसे अस्वीकार करना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि जीवन उनका आभास पाता और अनुभूति करता रहता है। उनकी स्पष्ट छाया विश्व की अनन्त मोहकता और महिमा-मण्डित रहस्य में झलक जाया करती है। विचार तो कीजिए कि प्रकृति की अविचल नियमबद्धता में, काल के अनन्त प्रवाह में, वैभव और अभाव की सतत क्रीड़ा में, विनाश और निर्माण की निरन्तर परिचालित प्रक्रिया में, प्रकृति के गर्भ में निहित सत्य का आभास क्या नहीं मिल जाता?

सिद्धार्थ के उत्सर्ग में, ईसा के बलिदान में, रवीन्द्र के विश्व-बन्धुत्व में और गाँधी के अद्रोह और त्याग में क्या सौन्दर्य और शिवत्व की झलक नहीं मिल जाती? प्रखर जलधार में डूबते हुए किसी असहाय बालक की प्राण रक्षा के लिये जब कोई अपने को भूलकर खतरे में

झोंक देता है, जब भूखे की करुण पुकार सुनकर कोई अपने आगे की थाली उसे अर्पण कर देता है, जब क्षणमात्र के लिये भी 'अहं' के भौतिक बन्धन से निकलकर हम किसी को जगद्धित में अपने को मिटाते देखते हैं, तो क्या विश्व के मूल में स्थित उस भावमय तत्त्व की झिल-मिल आभा नहीं मिल जाती जो जीवन और जगती को जीने और रहने योग्य बनाती है ? अपने उदर और अपने भोग को केन्द्र में स्थिर करके सारे विश्व को उसी की तृप्ति का साधन मानने वाला प्राणी जब कभी अपनी इस सहज प्रेरणा से ऊँचे उठता है और जब अपने को दूसरे में लीन करता है, तो उस क्षण उसके जीवन पर जो आलोक झलकता है, जो सौन्दर्य दिखाई देता है, सत्य और शिव की जो उज्वलता चमक उठती है, उसकी अनुभूति क्या हम नहीं करते ? उसी में इस विश्व का उत्तमांश सजीव रूप में मूर्तिमान् हुआ क्या दृष्टिगोचर नहीं होता ? स्पष्ट है कि मानव का चेतनांश इसी अनुभूति के आधार पर और अपने विवेक के द्वारा उनके ही आलोक में जीवन का पथ प्राप्त करता है।

जीवन की प्रवृत्ति उसी प्रकार स्वाभाविक है जिस प्रकार मनुष्य की वह प्रवृत्ति जो अहं और स्वार्थ की तृप्ति की कामना में विभोर रहती है। मानव-जीवन और उसके समाज का इतिहास यह सिद्ध करता है कि समय-समय पर मनुष्य के विवेक ने, उसकी भावुकता और भगवान् ने अपनी उपर्युक्त प्राकृतिक प्रेरणा के वशीभूत होकर सत्य, सौंदर्य और शिवतत्त्व की आराधना में जीवन की सार्थकता और विश्व का कल्याण देखा है। मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियाँ जहाँ सक्रिय रही हैं, वहीं उसके जीवन की एक उत्प्रेरणा उसे सदा इस ओर भी उन्मुख करती रही है। मनुष्य के जीवन की गति का इतिहास यह भी सिद्ध करता है कि उन्हीं के प्रकाश में मनुष्य सदा से कुछ आदर्शों को प्रतिष्ठित करता आया और उन आदर्शों के आधार पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करता रहा है। ये आदर्श ही जीवन की प्रेरणात्मिका शक्ति

के रूप में स्थित रहे हैं, जिनकी पूर्ति करने की ओर मानव की सजीवता अभिमुख होती रही है। ये आदर्श ही जीवन के मूल्याङ्कन के लिये मानदण्ड के रूप में प्रस्तुत होते रहे हैं।

मनुष्य की एक प्रवृत्ति जहाँ अपने विलास, ऐश्वर्य और भोग को जीवन का आदर्श मान कर उसे आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करती रही है वहीं उसके हृदय की दूसरी शुभ्रधारा उसे सचाई के लिये, सौन्दर्य और कल्याण के लिये भी अग्रसर करती रही है। जीवन का यह द्वन्द्वात्मक सङ्घर्ष यद्यपि प्राकृतिक है, तथापि शुभ्रधारा की विजय से ही मानवता का विकास होता रहा है। जीवन की यह शुभ्र गति जहाँ उसकी प्रगति और विकास में सहायक होती है, वहीं उससे विरति पतनाभिमुख बनाती है। स्पष्ट है कि पतन, विनाश और अन्धकार का, दुःख और बन्धन का कारण होता है। दूसरी ओर विकास की यात्रा में निश्रेयस और अभ्युत्थान अभिनिविष्ट हैं। जब-जब व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन इस ओर विशिष्ट रूप से उन्मुख हुआ है, तब-तब मानवता अपने सुन्दर और विकसित रूप में सामने आई है। महती संस्कृतियों का निर्माण तथा इतिहास के गौरवपूर्ण युगों का प्रवर्तन इसी का परिणाम रहा है। जब कभी व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन इस प्रकाश से विमुख होकर विपरीत दिशा का अवलंबन करता है तब उसके विकास की गति कुण्ठित होती दिखाई देती है। फलतः जीवन का यह स्वरूप इस बात का प्रमाण है कि प्रकृति ने सहज-विकास के लिये विधेय पथ का निर्माण कर दिया है। यदि यह सत्य है कि जीवन का विकास की ओर अभिमुख होना प्राकृतिक विधान है, तो यह भी स्पष्ट है कि विधेय पथ पर यात्रा करना भी जीवन के लिये प्रकृति द्वारा निर्धारित विधान है। इसे ही हम उसका नैतिक विधान कह सकते हैं।

जीवन को इस दृष्टि से देखना और इसी प्रकाश में उसके प्रयोजन की स्थापना करना गाँधी की दृष्टि की विशेषता है। व्यक्ति के जीवन

का ही नहीं, अपितु जगत् की सारी व्यवस्था और संघटन, उसकी संस्था और उसके नियम, उसके आदर्श और व्यवहार को उसी कसौटी पर कसने के बाद गाँधी उनके खरे और खोटे होने का निर्णय करता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वह जीवन को नैतिक दृष्टि से देखता है, नैतिक दृष्टि से ही उसकी व्याख्या करता है और उसी नैतिक दृष्टि से उसके लिये आदर्श और व्यवहार की स्थापना करता है। उसकी सारी विचारधारा नैतिकता के आधार पर ही स्थापित है। विकास के मूल में वह संघर्ष देखता है, पर उस संघर्ष का रूप उसकी दृष्टि में कुछ दूसरा ही प्रतिभासित होता है। अस्तित्व की रक्षा के लिये परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बनाने के लिये, अपने भोगोपभोग तथा उदर और काम की तृप्ति के लिये जीव-जगत् में सदा से संघर्ष होता रहा है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। पर विकास की क्रिया में संघर्ष का यही स्वरूप रहा है और यही प्रमुख कारण रहा है, इसे गाँधी स्वीकार नहीं करता। विकास की प्रक्रिया आंशिक नहीं सामूहिक रूप से हुई है। उसने जहाँ एक अंश को विकसित किया वहीं दूसरा अंश चेतन भी विकसित होता गया है; जिसके फलस्वरूप मनुष्य का विवेक और उसकी अन्तर्दृष्टि, उसकी अनुभूति तथा कल्पना भी विकसित होती गई है। विकास की क्रिया में इसी कारण विवेक और प्रवृत्ति का सहज संघर्ष होता है और विवेक की विजय से ही मानवता की उत्पत्ति और उसके विकास की यात्रा फलवती हुई है।

यदि यह न हुआ होता तो वन्य मानव मानव न हुआ होता। मानवने ही विश्व की अनन्तता और जीवन की ग्रन्थियों को रहस्य और विस्मय की दृष्टि से देखा है, उसमें सुन्दर-असुन्दर का भेद पाया है, पशुता और मानवता का स्वरूप समझा है। आखिर इस विवेक ने ही तो उसे विकसित किया है। जीवन की यह नैसर्गिक प्रक्रिया उस सनातन नियम का ही परिणाम है, जो विश्व के संचालन के निमित्त प्रकृति के अटल नैतिक विधान के रूप में परिचालित ज्ञात होता है। मनुष्य के

लिए उचित आदर्श और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निश्चय, गाँधी की दृष्टि में, नैतिकता के प्रकाश में ही किया जा सकता है। जो आदर्श मनुष्य की शुभ्र प्रवृत्ति के अनुकूल हो और इस प्रकार मानवता के विकास का कारण हो सके वही उसकी दृष्टि में ग्राह्य है। जो आचरण उसके अनुकूल हो और उसकी ओर अग्रसर कर सके वही विधेय है। गाँधी इसी में जीवन की सार्थकता और मानवता की प्रगति देखता है। इस नैतिक दृष्टिकोण को ग्रहण करके वह जगत् की समस्त समस्याओं पर दृष्टिपात करता है, उनके कारण और हल को ढूँढ़ता है तथा तदनुकूल समाधान समुपस्थित करता है। यही है भावालोक जिसके प्रकाश में वह व्यक्ति के, समाज के, राष्ट्रों के आचरण की विवेचना और निर्धारण करता है। यही है प्राण जो गाँधी के विचार-क्षेत्र में प्रकाशमय केन्द्रविन्दु के रूप में अवस्थित है। तात्पर्य यह कि बापू की विचार-धारा नैतिक स्रोत से प्रवाहित होती है अतः इतिहास पर उसी दृष्टि-कोण से दृष्टिपात करना उसके लिये अनिवार्य है। मानव इतिहास की यदि कोई धारा है तो गाँधी उसे मनुष्य के अन्तःस्थ द्वन्द्वों के संघर्ष के मध्य से ही प्रवाहित देखता है। जीवन की शुभाशुभ प्रवृत्ति से ही उसका उद्भव होता है और उसी से वह धारा प्रभावित होती है। मनुष्य का आचरण, उसका सारा व्यवहार, उसकी सारी क्रिया शुभा शुभमयी चेतना की उत्प्रेरणा के अनुकूल ही होती है। जीवन की व्याप्ति, मनुष्य से मनुष्य का सम्बन्ध, आर्थिक, सामाजिक और राज नीतिक संघटन तथा व्यवस्थाओं का निर्माण और परिचालन, विभिन्न राष्ट्रों का पारस्परिक सम्बन्ध आदि सभी बातें मनुष्य के जीवन से सम्बद्ध हैं, अतः उन सब पर उसके शुभा-शुभमय अंतर का गहरा प्रभाव पड़ता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि मानव जगत् का सारा बहिर्लोक वास्तव में उसके अंतर का ही प्रतिबिम्ब है।

मानव जाति का इतिहास सभ्यताओं के उत्थान और पतन की ही गाथा है। मनुष्य जिस भांति अपने व्यक्तिगत और सामाजिक

जीवन का संचालन करता है, अपने संमुख जो आदर्श स्थापित करता है, उसी में उसकी सभ्यता के उत्थान और पतन का संकेत स्पष्ट रूप से झलक जाता है। लाखों वर्ष पूर्व इस धरती के जीवन में किसी युग में, उसकी गोद में मनुष्य ने जन्म ग्रहण किया उस काल में भी मनुष्य की कोई न कोई सभ्यता रही होगी। वह वनस्थ प्राणी रहा होगा और उसकी संस्कृति रही होगी। तत्कालीन संस्कृति की कल्पना आज यदि करनी हो तो जंगल निवासी वानरों या चीतों अथवा भेड़ियों की रहन-सहन देख कर ही करनी होगी। बन में भी वहाँ का अपना विशेष जीवन होता है। विशेष प्रकार का समाज होगा और विशेष प्रकार के विधान तथा व्यवस्थाएँ होंगी। यह सच है कि वहाँ के जीवन पर उस सांस्कृतिक कल्पना की छाया भी नहीं पड़ी है, जिसे हम सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। पर इतना स्वीकार करना ही होगा कि पशु-जगत् में भी अपने ढँग की सामाजिकता है, जीवन है, व्यवस्था है जो उसका संचालन करती रहती है। सारी व्यवस्था और जीवन, सारी सामाजिकता और व्यवहार का आधार कुछ थोड़ी सी प्रवृत्तियाँ मात्र है, जो उस जगत् का संचालन करती हैं। उन प्रवृत्तियों को हम उँगली पर गिन सकते हैं। भूख, भय, काम, हिंसा तथा प्रतिहिंसा के सिवा न उनके जीवन का कोई आधार है और न कोई आदर्श।

न जाने कितनी सहस्राब्दियाँ बीत गयीं पर पशु उसी दशा में पड़ा हुआ है। मछली और कछुए बनबिलाव और चीते आज से करोड़ों वर्ष पूर्व जिस सभ्यता और जीवन को लेकर अवतरित हुए उसी में आज भी पड़े हुए हैं। पर मानव प्राण अपने गर्भ में कुछ और लेकर आया था। जीव-जगत् में वह क्षण महती क्रांति के रूप में उपस्थित हुआ होगा जब आदि मानव की आदि चेतना ने पाशविक जड़ता के बंधन को ढीला करने का महा-प्रयास आरम्भ किया होगा। अवश्य ही आदि मानव बर्बर ही था, हिंसा और अज्ञान तथा प्रजनन और उदर की

भावना ही उसके जीवन की शक्ति, प्रेरणा तथा आदर्श रही होगी। फिर भी पशुता के कठोर लौह-बंधन से उन्मुक्त होने के लिये इस प्राणी का प्रयास वह महाविद्रोह था जिसने धरातल की धारा ही बदल दी। मनुष्य की यह उत्क्रान्ति संभवतः उस महती प्राकृतिक प्रक्रिया का परिणाम था जिसने आदिमानव के जड़जीवन में स्थित चेतना को विकास की ओर अग्रसर किया। प्रवृत्तियों के प्रभूतांधकार से प्रच्छन्न मानव के मानस-पटल में, चेतन के विकास से उद्भूत, विवेक की वह चिनगारी जल उठी जो क्रमशः जीवन को आलोकित करने के लिये उज्ज्वल प्रकाश का रूप ग्रहण करने लगी। सहसा उसके सम्मुख जीवन और जगत् का कुछ दूसरा ही स्वरूप भासने लगा होगा। प्रकाश और अन्धकार के इस अन्तःसंघर्ष में नवोदित विवेक विजयी होता गया और मानव को आगे बढ़ाता गया। उस युग के आने के पूर्व, जब वास्तविक रूप से सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ, सुसंस्कृत बनने में मनुष्य ने न जाने कितनी सहस्राब्दियाँ गुजार दीं।

उसका अन्धकार कितना बलवान् था, इसका प्रमाण वह लम्बी अवधि है जो सभ्य बनने के पूर्व मनुष्य को बितानी पड़ी। एक समय आया जब मनुष्य ने अपनी प्रवृत्तियों पर बड़ी सीमा तक विजय पाई जब भय, भूख, भोग और हिंसा तथा स्वार्थ की सीमा संकुचित कर सका। जैसे-जैसे इस प्राणी को इसमें सफलता मिलती थी वैसे-वैसे मानवता का उदय होता गया। मानव-समाज की यह गति ही उसकी संस्कृति की धारा है, जिसके-प्रवाह का चित्रण इतिहास के रूप में प्रकट होता है। इतिहास का यह प्रवाह हमारे सामने है, जो इस बात को सिद्ध करता है कि मनुष्य समाज के उत्थान और विकास के मूल में मनुष्य का वह शुभांश रहा है, जो क्रमशः उसकी पशु प्रवृत्तियों पर विजय लाभ करता गया है। जब-जब व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में उन उच्चतर भावों का प्राधान्य रहा है, जो व्यक्ति और समाज को सहानुभूति, समवेदनशीलता तथा सामूहिक हित और

सहिष्णुता की ओर उत्प्रेरित करते रहे हैं, तब-तब मानव समाज उन्नति और विकास की ओर बढ़ता चला गया है।

मनुष्य का सत्त्व ही उसे अपनी प्रवृत्तियों पर, अपनी परिस्थितियों पर और अपनी पशुता पर विजय प्राप्त कराता रहा है, जिसके फलस्वरूप युग-युग में सभ्यताओं की नींव पड़ती रही है, जो मानव जीवन के लिये जीवनादर्श की स्थापना करती गयी है। पर जहाँ सभ्यताओं का विकास होता दिखाई देता है, वहाँ उनके पतन के दृश्य भी सामने आते हैं। मानव समाज और उसका सारा इतिहास किसी लक्ष्य की ओर गतिशील हैं। जीवन की गति और उसका नैसर्गिक धर्म विकास की ओर है। विकसित होते जाना ही प्रग.त है। विकास का अधर्मी जीवन उसकी गति पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य मूलतः पशु है, पर पशुता से, पशुभाव और पशुवृत्ति से, पशु-संस्कार और पशु-आदर्श से क्रमशः विरत होते जाना और पदे-पदे मानवता की ओर बढ़ते जाना ही उसका प्रयास रहा है, इसी को आप विकास की यात्रा कह सकते हैं। उसकी यह गति ही प्रगति है जिसे हम जीवन का सहज धर्म कह सकते हैं। इस स्थिति में भले ही वह बिन्दु अज्ञात हो जहाँ मनुष्य की यात्रा समाप्त होने वाली हो, पर इतना तो स्पष्ट है कि उसका सहज और सीधा मार्ग प्रगति में ही समाविष्ट है। इसी के प्रकाश में हम शुभ-अशुभ की विवेचना भी कर सकते हैं। जो गति और प्रवृत्ति विकास और प्रगति में सहायक हो वह शुभ है और जो उससे विमुख करे वही अशुभ है।

उपर्युक्त पँक्तियों में यह लिखा गया है कि जहाँ इतिहास सभ्यता के विकास की गाथा उपस्थित करता है, वहीं सभ्यताओं के पतन के दृश्य भी सामने आते हैं। इतिहास की विवेचना करने पर यह ज्ञात होता है कि मानव के शुभ का उद्बोधन जहाँ संस्कृतियों का निर्माण करता है, वहीं उसके अशुभ का जागरण उसके पतन का कारण होता है। जीवन में यह द्वन्द्व मूलरूप से प्रस्तुत है। जिस प्रकार प्रगति

उसका सहज धर्म है उसी प्रकार मानव-पशुता मनुष्य को पीछे घसीटने में भी समर्थ हो जाया करती है। जब कभी मनुष्य अपने पाशव भावों से ग्रस्त और विपन्न होता है तो प्रगति के पथ से विरत हो जाता है। जब मनुष्य का दम्भ और स्वार्थ प्रबल हो उठता है, जब वह सारे जगत् की सत्ता की उपयोगिता केवल अपने उपभोग में समझता है, जब प्रवृत्तियाँ उसके जीवन की अधिकारिणी हो जाती हैं, जब अहं और भोग ही उसका आदर्श बन जाता है, जब उसका विवेक धूमिल हो जाता है, तब मानव की मानवता मोहित हो जाती है। जिसके फलस्वरूप उसकी विकास-यात्रा कुंठित हो जाती है, उसका स्वप्रगिगामी हो जाता है और मानव समाज बर्बरता की ओर अग्रसर हो जाता है। यही स्थिति होती है जब मनुष्य और उसकी सभ्यता का प्रत्यावर्तन होता दिखाई देता है। मानव-जाति के जीवन में समय-समय पर यह अवस्था आई है, जब उसे अनिवार्यतः ऐसे संकट का सामना करना पड़ा है। उस काल में यदि सहज आन्तरिक उत्प्रेरणा से मानव अपने पतन की गति का अवरोधन करने में समर्थ होता है तो बच जाता है अन्यथा वही संकट उसका विनाश करने में समर्थ होता दिखाई देता है।

मानव-समाज के इतिहास को इसी दृष्टि से देखना गाँधीजी की विशेषता है। इतिहास की इस गति को देखकर वह इसी परिणाम पर पहुँचता है कि मानव समाज के कल्याण, सुख और श्रेय के लिये शुभ पर आरूढ़ होना ही एकमात्र मार्ग है। यह सच है कि मनुष्य की अशुभ प्रवृत्तियों का सर्वथा उन्मूलन और तिरोभाव सम्भव नहीं, क्योंकि वह जीवन के मूल में निहित है पर उसके साथ ही यह भी सच है कि संयम, सन्तुलन और नियन्त्रण की प्रक्रिया प्रकृति की देन है जो निरन्तर होती रही है और सतत होती रहेगी। शुभ प्रवृत्ति को इसी कारण जीवन में सक्रिय होने का अवसर मिलता रहता है। मनुष्य का शुभ ही था जिसने उसे सामाजिक प्राणी बनाया। त्याग,

समवेदना, सहयोग और सामंजस्य पर ही सामाजिक जीवन अवलंबित है। अपने अधिकारों के संकोच और दूसरों के प्रति कर्त्तव्य की विस्तृति पर ही उसका निर्माण होता। समाज का विकास तो वस्तुत: विशुद्ध स्वार्थ और केवल अहंवाद का प्रतिवाद ही है। जगत् को अहं के लिये नहीं परन्तु अहं को पर के लिये उपयोगी बनाने की ओर पहला कदम उठाने के बाद ही मनुष्य सामाजिक प्राणी बना होगा। समाज में अहं और पर का समन्वय ही तो विकसित हुआ है।

जीवन की अनुभूति ने सिद्ध किया कि मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास और उसकी प्रगति तथा उत्थान समाज में ही सम्भव है। मनुष्य की समस्त अन्तःस्फूर्तियों तथा उत्तम तत्त्वों का अभिव्यञ्जन समाज के द्वारा ही होता है। मानव ऐसा प्राणी है जिसके समस्त अवयवों की, जीवन की, उसकी सभी साध की परितृप्ति केवल उदर और प्रजनन की कामना-पूर्ति से नहीं हो जाती। उसे अपने स्नेह और उत्सर्ग, अपने अनुराग और विराग, अपने प्रेम और घृणा, अपनी समवेदनशीलता और सहानुभूति का प्रदर्शन करने के लिये भी उपयुक्त साधन की आवश्यकता है। तभी उसे जीवन की पूर्णता का अनुभव हो पाता है। समाज इसका साधक है। यही कारण है कि जैसे-जैसे सहयोग, सेवा तथा सहानुभूति की उसकी परिधि विस्तृत होती गई और जिस अनुपात में वह अहंभाव तथा विशुद्ध स्वार्थ का विसर्जन करता चला गया, वैसे-वैसे उसकी सामाजिकता बढ़ती गई और उसका विकास होता गया। इस दशा में किसे सन्देह हो सकता है मनुष्य के शुभांश की सक्रियता में। मानव जीवन का यही मानवी और नैतिक पथ है जो उसके कल्याण और अभ्युत्थान का साधक हो सकता है। जो जीवन नैतिक आदर्शों से अनुप्राणित न हो और जो समाज तथा जिस समाज की व्यवस्था नैतिकता के आधार पर स्थापित न हो, वह मानवता को संकटापन्न किए बिना बाकी नहीं रह सकता उस स्थिति से भूमण्डल का अनीति और बर्बरता से आक्रान्त हो जाना स्वभावत: अनिवार्य है।

इसी प्रकाश में जब गाँधी अर्वाचीन जगत्, मानव-समाज की आधुनिक स्थिति तथा आज की उसकी गति और व्यवस्था पर दृष्टिपात करता है, तो उसे आपाद-मस्तक अनैतिक और अमानवीय पाता है। अनैतिक और अमानवीय इस लिये कि वह उस आदर्श से विमुख है जिसकी ओर अपनी समस्त भौतिकता को लिए-दिए भी बढ़ते जाना उसकी ऐतिहासिक परंपरा और वैकासिक पथ रहा है। सहयोग, समाजिकता और संयम, उत्सर्ग, त्याग और सेवा की भावनाओं में उज्वलता की अनुभूति करने वाली, उनमें ही निराकार किन्तु सत्ताशील सत्य, सौन्दर्य और कल्याण का आकारांकन कराने वाली उसकी वह सहज नैतिक उत्प्रेरणा आज बन्द हो गयी है, जिसे विकास की महती प्रक्रिया ने ही उसे प्रदान किया था। गाँधी की दृष्टि में आज मनुष्य-समाज के संमुख जो प्रचण्ड ऐतिहासिक संकट आया दिखाई दे रहा है उसका वास्तिविक कारण यही है। वह उसके मूल में स्वयं मनुष्य को ही कारण के रूप में देख रहा है। वह देख रहा है कि आज मनुष्य के अन्तःस्थ जो आदि पशुप्रवृत्ति मौजूद है वह सक्रिया हो उठी है, जिसके नियंत्रण और नियमन पर ही संस्कृति का भविष्यत् निर्भर करता है। मानवता उस भयावने शिखर पर पहुँची दिखाई दे रही है जहाँ से एक कदम आगे बढ़ी तो तलहीन गर्त में गिरकर विलुप्त होती दिखाई देगी। आज उसका पशु-बल जागरित है जिसने उसकी अन्तर्दृष्टि को धूमिल कर दिया है। फलतः वह पथभ्रष्ट है, आदर्शभ्रष्ट है और विवेकभ्रष्ट है।

ऐसी स्थिति में उसकी सारी व्यवस्थाएँ अमानवीय हो जायँ तो इसमें आश्चर्य नहीं। वर्बर आदि मानव जिन प्रवृत्तियों के प्रभाव से अभिभूत हो कर जीवन-रथ को आगे बढ़ाता था, वही क्या आज दुनिया का आदर्श और उत्प्रेरक शक्ति नहीं हो गई है? एक दृष्टि से आधुनिक मनुष्य अपने पूर्व पुरुष से भी अधिक भयावना हो गया है। वह था बर्बर पर उसमें उतनी शक्ति कहाँ थी जो आज के मनुष्य को

प्राप्त है। वह पाशव था पर उसके विवेक की चिनगारी, अपने लघु रूप में ही सही धीरे-धीरे सुलगने लगी थी। आज के मनुष्य की आदि बर्बरता जागरित तो है ही साथ-साथ वह अकल्पित रूप से शक्ति-सम्पन्न हो गया है। उधर युग-युग से उपार्जित अपनी बुद्धि और मस्तिष्क की सारी शक्ति का उपयोग अपनी पशुता के समर्थन, उसकी सफलता और उसके औचित्य को सिद्ध करने में लगाना आरम्भ कर दिया है। हृदयांधकार का प्रतिवाद अन्तःस्थ प्रकाश कर सकता था, पर प्रकाश का उपयोग भी जब अंधकार की वृद्धि में किया जाने लगा तो स्थिति की भयानकता सिद्ध करने की विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। महान् सिद्धान्तों और आदर्शों का उल्लेख अपने कुत्सित अहं की तृप्ति के लिये किया जाता है। इस प्रकार मनुष्य भयानक आत्मप्रवंचन में संलग्न है।

हृदयस्थ अनैतिकता और अमानवता मनुष्य के समस्त आचरण और व्यवहार पर उसके विचार और दृष्टिकोण पर, उसकी व्यवस्था और संघटन पर, उसके ज्ञान और भावना पर इस प्रकार छा गया है कि सारी सांस्कृतिक धारा भयावनी हो उठी है। आज का आर्थिक संघटन शोषण पर, राजनीतिक दलन पर और अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष तथा प्रबंचन पर स्थापित है। अर्थनीति और राजनीति ही नहीं प्रत्युत समस्त सांस्कृतिक जीवन इसी आधार पर आश्रित हो गया है। मनुष्य ने जीवनरक्षा के लिये संघर्ष करते हुए सब पर विजय प्राप्त कर ली। अपने से कहीं अधिक बलशील जीव-जन्तुओं के मस्तक को अपने चरणों से कुचल डाला। उसने प्रकृति की अपरिमित शक्ति को विज्ञान के द्वारा नाथकर अपनी दासी बना लिया। इस शक्तिशील प्राणी का सामना करने वाला संसार में कोई बाकी न बचा। अब वह संघर्ष करे तो किससे करे? आखिर अपनी शक्ति की आजमाइश और उपयोग तो करना ही चाहिए। विज्ञान ने यह धारणा भी बैठा दी कि संघर्ष अनिवार्य है, क्योंकि उसीके द्वारा विकास-प्रक्रिया चरितार्थ

होती है। फलतः प्रकृति की कला की अनुपम रचना यह मानव, अपने को दिग्विजयी पाकर भी किसी न किसी से लोहा लेने को उतावला हो उठा। उसे किसी ने यह न बताया कि युद्ध करना है, पर करना है अपनी पशुता से। परिणाम हुआ यह कि मानव का संघर्ष मानवता से ही आरम्भ हो गया और आज का सारा सांस्कृतिक पथ उसी संघर्ष का रण-स्थल हो गया है।

मनुष्य मनुष्यता का ही हनन करने लगा और आज अपने समस्त साधनों का उपयोग, अपने ज्ञान-विज्ञान का उपयोग, अपनी बुद्धि और बल का उपयोग उसी लक्ष्य की सिद्धि में कर रहा है। जो विज्ञान जगत् के कल्याण का साधक हो सकता था, वह उसके विनाश का हेतु हो रहा है। जो अविष्कार संसार को अभाव, दरिद्रता और दैन्य से मुक्त कर सकते थे वे शोषण और दलन के लिये प्रयुक्त हो रहे हैं। दिक्काल की दूरी को सर्वथा मिटाकर, जगत् को परस्पर निकट लानेवाले आधुनिक साधन जो मानव-समाज को एक सूत्र में आबद्ध करके उसे एकता प्रदान कर सकते थे वे ही उसके लिये अभिशाप हो गये। पूर्व युग का मानव प्राकृतिक और भौगोलिक बाधाओं के कारण अपनी प्रभुता को सर्वत्र व्याप्त कर देने में असमर्थ होता था, पर वही आज सारे भूमण्डल को उससे परिप्लावित कर देने में समर्थ हो रहा है।

इस स्थिति का कारण ढूँढ़ने के लिये विशेष आयास की आवश्यकता नहीं। स्थूल रूपसे कह सकते हैं कि जब जीवन का आदर्श भौतिक सुख और भोग की तृप्ति हो जाय और जब अहं के प्रति राग एकमात्र उसका पथ समझ लिया जाय, तो मानव की आक्रमणशील प्रवृत्ति का उत्तेजित हो जाना अनिवार्य है, जिसका अन्त हिंसा, रक्तपात और संहार में ही होगा। मनुष्य का बाह्य उसके अन्तर का ही प्रतिबिम्ब है। किसी भी व्यवस्था का जन्म और उसका सञ्चालन मनुष्य के हृदय के ही आश्रित है। वही है आधार और वही है तत्त्व जो उनमें प्राण-प्रतिष्ठा करता है। फलतः जबतक अवस्थाएँ मानव की नैतिक भावना

और अन्तर् के शुभांश से उद्भूत और परिचालित नहीं होती उसका स्वरूप चाहे कितना भी उदार और आकर्षक क्यों न हो, तबतक उनका कोई अर्थ नहीं, क्योंकि वे निकम्मी सिद्ध होंगी। स्मरण रखना चाहिए कि व्यवस्थाएँ निमित्तमात्र हैं, जिनका उपयोग करनेवाला दूसरा है, जो अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल ही उनका उपयोग करेगा। ऐसी स्थिति में इच्छाओं की आग में जलानेवाला मनुष्य जब इच्छाओं की तृप्ति में ही सुख की कल्पना कर रहा हो और जब इस सुख की प्राप्ति ही उसकी दृष्टि में जीवन का एकमात्र प्रयोजन हो गया हो, तब निस्सन्देह उसका सारा प्रयत्न और चेष्टा उसी दिशा की ओर उन्मुख रहेगी। जीवन का प्रवाह आखिरकार यह आदर्श लेकर मनुष्यता को किधर ले जायगा? स्पष्ट है कि इसी कारण आज का राजनीतिक और आर्थिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय संघटन मानव के उपर्युक्त अन्तर् से आछन्न हो रहा है। परिणामतः मनुष्य की हृदयाग्नि के दाह में जगत् भस्म हो रहा है।

आधुनिक विचारक और जगत् की समस्या को सुलझाने की इच्छा रखनेवाले प्रश्न के मूल में नहीं जा रहे हैं। आज की विचार-पद्धति ऊपरी स्तर में प्रगट हुए रोग के उपसर्गों को ही वास्तविक रोग समझ कर उपचार में लग जाती है जिसके फलस्वरूप विफलता ही हाथ लगती है। उग्र राष्ट्रवादिता, पूँजीवाद, आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद, वर्ग-संघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता जगत् की दुर्दशा के कारण अवश्य हो रहे हैं, पर इस दुरवस्थाके मूल में उन्हें ही कारण समझकर आगे बढ़ना वास्तविक निदान से विमुख होना है। गाँधी की दृष्टि इनसे मूलतः भिन्न है। वह विश्व की अव्यवस्था और संकट की जड़ में मनुष्य के अन्तर् को देख रहे हैं, जो अपने अशुभ और पाशव से पराजित होकर अमानवीय और अनैतिक हो गया है। आज का जगत् दुर्भाग्य से अपनी पशुता को ही पुनरुज्जीवित करने में अपनी शक्ति का क्षय कर रहा है। यूरोप का अशिव 'भौतिकवाद' मनुष्य को भूत बनाने में सफल हुआ, अतएव उसकी प्रेतलीला से वसुधा

विपत्संकुला होकर त्राहि-त्राहि कर रही है। मनुष्य कदाचित् उस ऐतिहासिक युग से जा रहा है जब उसका अन्तर प्रगति और विकास के पथ से विरत हो गया है।

गाँधी की दृष्टि में यही है रोग का मौलिक निदान और 'पूँजीवाद' या 'साम्राज्यवाद', 'फासिटीवाद' या 'नाज़ीवाद', 'वर्गसंघर्ष' या 'मानव-दोहन' वस्तुतः उसी विघातक महारोग के भयावने उपसर्ग मात्र हैं, जिसमें मानव की घृणित पशुता और अशुभ का चरम रूप प्रदर्शित हुआ है। वे स्वयं वसुन्धरा की आकुलता के कारणरूप में भले ही दृष्टिगोचर हों पर यथार्थतः उनका सर्जन मनुष्य के 'लोभवाद', 'प्रभुतावाद' और 'प्रतिशोधवाद', 'भोगवाद' और 'स्वार्थवाद' के गर्भ से हुआ है। वे इन कारणों के ही परिणाम हैं, जो स्वयं आज कारण बनकर मानवता के क्लेश और विनाश के स्रोत हो रहे हैं। मोहाच्छन्न और भ्रान्त मनुष्य अवांछनीय अनादर्शत्व को जीवन के आदर्श के पुनीत पदपर प्रतिष्ठित करके लक्ष्यभ्रष्ट हो गया है और अपने साथ-साथ समस्त जगती को भ्रष्टता की ओर लिए बढ़ा चला जा रहा है।

इस स्थिति में यह अनिवार्य है कि उसकी भावना उसके सारे विधान, व्यवस्था, संघटन, संस्था और साधनों पर आधिपत्य स्थापित करके उनपर वही रंग चढ़ा दे जिस रंग में उसने मनुष्य को रंग डाला है! फलतः सारा सांस्कृतिक भवन विषाभिभूत होकर मानवता के कोमल कलेवर को जर्जर और विक्षत कर डाले तो आश्चर्य क्या है! मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का मूल्यांकन जिन मानदण्डों से किया जाने लगा है, उसमें उन नैतिक आदर्शों के लिये स्थान नहीं रहा जिनके आधार पर ही मानवता का निर्माण संभव है। स्वतन्त्रता, न्याय और समानता तथा बन्धुत्व का नामोल्लेख करना एक बात है; पर उन्हें जीवन में व्यावहारिक रूप प्रदान करना बिल्कुल दूसरी चीज है। स्मरण रखना चाहिए कि अहं की पूजा तथा भोग और प्रभुता की एषणा के साथ-साथ उपर्युक्त नैतिक आदर्श कदापि नहीं चल

सकते। एक के अभाव, सम्पूर्ण नहीं तो कम से कम एक की गौणता और संयम तथा निग्रह पर ही दूसरे की अट्टालिका खड़ी की जा सकती है। आज अभाव है एक का, पर अभाव है दुर्भाग्य से उनका जिन्हें हम नैतिक आदर्शों के नाम से संबोधित करते हैं और जो मानवता के प्राण हैं। लुप्त हो रहा है मानवांतर् का वह अंश जो प्रकृत्या सत्य की ओर अभिमुख होता है और जो 'स्व' के विराट् विलय में जीवन का सत्य समझता है, और उसी में विकास की पूर्णता की आभा देखता। मानव-जगत् का ज्ञान-विज्ञान, उसकी कला और साहित्य, उसका आर्थिक संघटन और राजनीतिक ढाँचा सब धीरे-धीरे उसकी वासना-पूर्ति के लिये ही उपयुक्त होने लगे हैं। गत एक शताब्दी के इतिहास का अक्षर-प्रत्यक्षर पुकार-पुकार कर इसी अवस्था की ओर संकेत कर रहे जिसका हैं संसार की आज की परिस्थिति ही उसका ज्वलंत प्रमाण है।

विज्ञान के प्रसाद से औद्योगिक क्रान्ति हुई पर मनुष्य उसका सदुपयोग न कर सका। यदि कर सका होता तो जगत् से अभाव का नाम-निशान भी मिट गया होता और "विभूति में अभाव" की विचित्र पहेली भी न उपस्थित हुई होती। लोभ और अधिकाधिक प्रलोभन ने न केवल उत्पादक और औद्योगिक देशों में शोषित नर-कंकालों की महती सेना संघटित कर दी, बेकारों और भुक्खड़ों की भारी भीड़ पैदा कर दी, प्रत्युत उत्पन्न पदार्थों की खपत के लिये भी धरातल के अनेक भूभागों में उपनिवेशों और शासित प्रदेशों का निर्माण कर डाला, जहाँ पराधीन और प्रताड़ित जन-समुदाय पशुओं की भांति मानव-पशुता से पीड़ित और निर्दलित जीवन-यापन करने को बाध्य हो गया। साम्राज्यों की प्रभुता के लिये उग्र राष्ट्रवादिता के नाम पर होड़ मच गई जिसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को विषाक्त कर डाला। मनुष्य ने विज्ञान का दुरुपयोग करके प्रतिद्वन्द्विता में विजय पाने के लिये और साम्राज्य-विस्तार तथा अर्थलोलुपता की पूर्ति के लिये अक-

लिपत नव शस्त्रों और साधनों की रचना कर डाली। अनिवार्य था कि शस्त्र-संग्रह के लिये भी घुड़दौड़ मच जाती। फलतः भय, प्रतिहिंसा और द्वेष के आधार पर जीवन की स्थापना हो गयी। लोभ, एषणा और प्रभुता को आदर्श मान कर अग्रसर हुए मनुष्य के सारे विचार, कार्य और आचरण तदनुकूल हो गए।

फलतः आधुनिक संस्कृति की धारा, शक्ति तथा शस्त्र के दो दुकूलों के मध्य से प्रवाहित होने लगी। यही कारण है कि गत २५ वर्षों में दो-दो बार भूमण्डल विश्वव्यापी अराजकता और हिंसा का शिकार हुआ। युद्ध भी यद्यपि किया गया महान् आदर्शों के नाम पर, पर मनुष्य ने उसके द्वारा अपनी पशुता ही चरितार्थ की। गत महायुद्ध के समय लघुराष्ट्रों की स्वतन्त्रता की रक्षा की दुहाई बार-बार दी गई। बार-बार कहा गया कि जगत् से सदा के लिये युद्ध का नाम-निशान मिटा देने की भावना लेकर ही मानव-इतिहास का यह अन्तिम युद्ध लड़ा जा रहा है। पर क्या उसमें सफलता मिली है? राष्ट्रसंघ की स्थापना का भी कोई परिणाम नहीं निकला। संघ की वे अनेक योजनाएँ जो राष्ट्रों के बीच उठने वाले आर्थिक झगड़ों को हल करने के लिये बनाई गई थीं, निकम्मी सिद्ध हुईं। निःशस्त्रीकरण के प्रश्न को लेकर हुए कतिपय विश्व-सम्मेलन भी निरर्थक और निष्फल हुए। सबसे बढ़ कर मनुष्य के स्वरूप की पोल खुल गई उस समय जब, अवसर उपस्थित होने पर आदर्शों की दुहाई देने वालों ने स्वयं अपने स्वार्थ के लिये निर्लज्जता पूर्वक उन्हीं आदर्शों को तिलाञ्जलि दे दी।

अपना उल्लू सीधा करना ही जिनका एकमात्र लक्ष्य हो वे अपनी सुविधा के अनुसार न्याय की पूजा करेंगे और तिरस्कार भी। जब चाहेंगे निर्बलों को बलि चढ़ा देंगे और अपने कुकृत्य का औचित्य सिद्ध करने में सङ्कोच भी न करेंगे। ऐसी स्थिति में कहाँ रह गए वे मौलिक नैतिक आदर्श जिनके प्रकाश में मनुष्य अपने आचरण का विधान करता। हिटलर को मानवता और शान्ति का शत्रु घोषित

करना उचित ही है, पर घोषणा करनेवालों को यह भूल जाना उचित नहीं है कि उन्होंने स्वयं ही शक्ति तथा शस्त्र और गुण्डई तथा अराजकता को न केवल पनपने का मौका दिया है वरन् उनकी सार्थकता सिद्ध कर दी है।

शस्त्र के द्वारा शस्त्र पर विजय प्राप्त करके शस्त्र की ही महिमा स्थापित की जाती है। बल का दमन अधिक बल के द्वारा करने के बाद पराजित के लिये सिवा इसके दूसरा कौन सा मार्ग रह जाता है कि वह विजेता से अधिक शक्ति-सम्पन्न होने की चेष्टा करे। ऐसी स्थिति में शक्ति के द्वारा शक्ति का मर्दन करनेवाले जब अधिक बल-सम्पन्न को सामने पाते हैं, तो उसी प्रकार नाक रगड़ने लगते हैं जिस प्रकार चेम्बरलैन ने हिटलर के सम्मुख रगड़ी। फलतः गुण्डई और अराजकता का उत्तेजन मिल जाता है। इस प्रकार पशुता और मद, आक्रमणशीलता तथा हिंसा के लिये हिटलर को दोष देकर शान्त हो जाना उस महारोग की उपेक्षा करना है जिससे मानव-समाज संत्रस्त है। उन्माद और स्वार्थपरता से यदि धरित्री आकीर्ण है तो उससे सारा जगत् प्रभावित होगा, विजयी हो या पराजित, सभी उसी के वशीभूत होकर कार्य करेंगे।

मानव की अन्तर्भूत भावनाएँ उसकी सक्रियता का स्रोत है; अतः महत्व है मनुष्य के प्रकृत रूप का। वह रूप यदि पशुता से आच्छन्न है, तो व्यवस्थाओं और विधान तथा जगत् का कल्याण करने में समर्थ वैज्ञानिक साधनों से भी पशुता ही प्रवाहित होती दिखाई देगी। आज का विचारक समाज जगत् के इस प्रकृत रूप की ओर ध्यान नहीं दे रहा है। यही कारण है कि बार-बार चेष्टा करने पर भी स्थिति सुलझने के बजाय बिगड़ती चली जा रही है। यह धारणा नितान्त भ्रामक है कि उपसर्गों का शमन करने के प्रयासमात्र से रोग का परिहार करना भी सम्भव होगा।

गाँधी इसी प्रकाश में जगत् की समस्या पर दृष्टिविक्षेप कर रहा

है। वह आधुनिक सङ्कट के मूल में मनुष्य की अनैतिकता और अमानवता को जहाँ कारण रूप में देख रहा है, वहीं यह भी समझता है कि स्थिति को सुलझाने के लिये एकमात्र उचित उपाय और मार्ग यही है कि मानव के प्रकृत रूप का ही उपचार किया जाय, क्योंकि जब सारी संस्कृति, समाज, जीवन, आदर्श, व्यवस्थाओं और विधानों पर उसकी पशुता छाई रहेगी तो जगत् के कल्याण की आशा करना विशुद्ध आत्म-प्रवञ्चन के सिवा कुछ नहीं है। आज मानव-समाज को दो में से एक चुनना है। वह या तो पशुता के आलिङ्गन में ही विभोर होकर बर्बरता की ओर झुक जाय और इस प्रकार स्वयं अपना ही संहार कर डाले, अथवा अपने स्वरूप को इस प्रकार बदले कि आज का सारा दृष्टिकोण, उसके जीवन, समाज और संस्कृति का आधार उलट-पुलट जाय। उसके स्थान पर नई कल्पनाओं, नवादर्शों और उत्तम भावनाओं की नींव पर नव जगत् की रचना करे, जो उसके पद और गौरव के अनुकूल हो तथा उसकी वास्तविक प्रगति और विकास के पथ को प्रशस्त करे, यही है नई ध्वनि और नई धारणा जिसे लेकर गाँधी जगत् के सम्मुख उपस्थित हुआ है।

वह जानता है कि मनुष्य अशुभ की ओर प्रकृत्या आकृष्ट है। वह उसकी उन समस्त प्रमाथिनी और बलवती प्रवृत्तियों से परिचित है, जिन्हें हम पशुभाव के नाम से पुकारते हैं। पर जिस प्रकार वह यह जानता है कि मनुष्य अपने दम्भ और अहङ्कार में, अपनी प्रभुता और ऐश्वर्य की लालसा में, अपने भोग और स्वकाय-पूजा की कामना में रस लेता है उसी प्रकार वह यह भी जानता है कि चेतनांश से उद्भूत मनुष्य को विवेक की वह विभूति भी प्राप्त है, जो उसे समय-समय पर यह आभास भी देती रहती है कि उसका जीवन केवल इतनी सी संकुचित सीमा में आबद्ध होने के लिये नहीं है और इससे ऊँचे उठने में ही उसकी मानवता है। यही मनुष्य का शुभांश है जिसकी विजय में ही मनुष्य मनुष्य है। यही मनुष्य की साधना रही है। जब-जब वह

अपनी साधना के इस पथ से विरत होता है तब-तब उसका पतन होता है। और तत्पथाभिगामी होने पर उसके इतिहास का उज्ज्वल रूप प्रकट होता है।

बापू स्वयं इसी पथ का यात्री है और यदि उसका कोई 'वाद' हो तो कह सकते हैं कि 'गाँधीवाद' मनुष्य को साधनारूढ़ बनाने का, उसे पथारूढ़ करने का उत्कट प्रयोग है। वह प्रयोग है मानव के उज्ज्वलांश को उज्जीवित कर देने का, जिसमें उसकी चेतना प्रबुद्ध होकर अपने सत्स्वरूप में अवस्थित हो जाय। मनुष्य मनुष्यता की ओर उन्मुख हो, अपनी महिमा और लक्ष्य को समझे, प्रकृति के विधान का आदर करे तथा जिस साधना के द्वारा उसका विकास होता है अथवा जिधर चलने के लिये ही कदाचित् उसका अवतार हुआ है उसी ओर गतिशील हो। उसके इस सात्विक भाव पर ही गाँधी उसका कल्याण और भविष्य निर्भर मानता है। वह चाहता है कि उसी के आधार पर न केवल मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन अवलम्बित हो, प्रत्युत उसके सामाजिक संघटन का, समष्टि और व्यष्टि के पारस्परिक संबन्ध का, सारी सामाजिक व्यवस्था का भवन भी खड़ा हो। मनुष्य की राजनीति, अर्थनीति सभी उसके आश्रय पर आश्रित हों। इन सब में उसके उत्तम अंश का प्रतिबिम्ब झलक रहा हो, तभी मानव-जगत् की रक्षा हो सकेगी। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक मनुष्य पर पाशव सत्ता का अधिकार छाया रहेगा। यह धरित्री भी मनुष्य की पशुता से घृणित नरक तुल्य हो जायेगी और मानवता का वह भव्य भवन जिसका निर्माण युग-युग से मनुष्य की उज्ज्वलता करती आई है भूमिसात् हो जायेगा।

'गाँधीवाद' की इस दृष्टि के संबन्ध में तरह-तरह की शङ्काएँ खड़ी की जा सकती हैं। कहा जा सकता है कि यह सारी कल्पना ही भ्रांत है, क्योंकि मनुष्य को देव बनाने की चेष्टा कभी सफल हो ही नहीं सकती। मनुष्य प्रकृत्या स्वार्थी है, जो अपनी कामना और प्रवृत्ति की

पूर्ति में धर्मतः सदा से संलग्न रहा है और सदा रहेगा। यह सोचना कि उसे ऊँचा उठा कर उसका स्वरूप परिवर्तित करना संभव होगा ऐसी असंभव कल्पना है जिसे कभी व्यावहारिक रूप दिया ही नहीं जा सकता। यह आशा करना कि सामूहिक रूप से मानव-समाज जैसा है उससे कुछ भिन्न बनाया जा सकेगा वास्तविकता की उपेक्षा करके हवा में महल बनाने के समान है। यह तर्क यदि सचमुच प्रौढ़ और साधार स्वीकार कर लिया जाय तो 'गाँधीवाद' का सारा आधार ही समाप्त हो जाय पर सौभाग्य से बात ऐसी नहीं है। मनुष्य देवता भले ही न बने पर मनुष्य बनना उसकी नियति का विधान है। यदि ऐसा न होता तो वह भी पशु ही बना रह गया होता। मानव जाति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य बदलता रहा है और बदलते हुए बढ़ता गया है।

इतिहास की गति को इसी दृष्टि से देखना होगा अथवा मानव समाज के भविष्य में अपना विश्वास खो देना होगा। मनुष्य के परिवर्तन में अविचल श्रद्धा गाँधी की दृष्टि धारा की विशेषता है, क्यों कि वह मनुष्य के उज्ज्वलांश में अटल निष्ठा रखता है। 'गाँधीवाद' का अनुमान करती विचार-धारा का स्रोत गाँधी का यही विश्वास है। उसकी सारी प्रक्रिया और पद्धति भी मनुष्य के उत्तमांश को न केवल आधार मान कर अग्रसर होती है, बल्कि सक्रिय रूप ग्रहण करके उसे झंकृत और सजीव कर देने के लक्ष्य को लेकर आगे बढ़ती है। तात्पर्य यह कि नैतिकता के आधार पर जीवन और जगत् की रचना में ही गाँधी को मनुष्यता का कल्याण दिखाई पड़ता है। नैतिकता का प्रजनन तथा उसका आधार है मानव का अंतर, अतः उसे उद्बुद्ध करना आवश्यक समझता है। आधुनिक विश्व की विचार-पद्धति और बौद्धिक प्रकाश मनुष्य के अन्तर् का स्पर्श नहीं करता। 'भौतिकवाद' तथा 'विज्ञानवाद' जीवन के इस अंश की भयजनक उपेक्षा कर रहा है, जिसके फलस्वरूप वर्तमान मानव-समाज मोहा-

कुल होकर भ्रष्टादर्शों को जीवनादर्श के स्थान पर प्रतिष्ठित करने में सफल हो गया है। फलतः जगत् न केवल विनाशोन्मुख हुआ दिखाई दे रहा है, वरन् संहार से उसे बचाने की चेष्टा भी असफल सिद्ध हो रही है।

यह न समझिए कि गाँधी की यह धारणा और विवेचना किसी काल्पनिक और भावुक व्यक्ति की कपोल-कल्पना के सिवा कुछ नहीं है। पाश्चात्य जगत् के गम्भीर तथा सत्यद्रष्टा मनीषी भी इस तथ्य को धीरे-धीरे स्वीकार करने लगे हैं। 'आइन्स्टाइन' सा महान् वैज्ञानिक आज धरती पर दूसरा कौन है! विज्ञान जगत् यह स्वीकार करने को बाध्य है कि आधुनिक दुनिया का यह मस्तिष्क अपनी विशालता और सूक्ष्म तथा गंभीर मननशीलता में बेजोड़ है। वही 'आइन्स्टाइन' कहते हैं कि "हमारे पूर्ववर्तियों ने हमें उन्नत तथा महान् वैज्ञानिक और यांत्रिक ज्ञान प्रदान कर दिया है, जिसके द्वारा मानव-जीवन को स्वतंत्र और सुन्दर बनाने की वह अभूतपूर्व क्षमता प्राप्त हुई थी, जैसी इतिहास के किसी युग ने कभी उपस्थित नहीं की थी। पर यह देन अपने साथ वैसे भयावने संकट भी लाई है, जैसे मानव-समाज के इतिहास में कभी प्रस्तुत नहीं हुए थे। आज सभ्य मानव-जगत् का भविष्यत् सब से अधिक इसी एक बात पर निर्भर करता है कि उसमें नैतिक शक्तियों का प्रजनन करने की क्षमता है अथवा नहीं। फलतः हमारे सामने कठिन काम करने को बाकी पड़ा है।"

आगे 'आइन्स्टाइन' और कहते हैं "जीवन के प्रयोजन अथवा उसके अर्थ के सम्बन्ध में खोज करने की बात यद्यपि हमें व्यर्थ सी जँचती है, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति के सामने कुछ आदर्श होते हैं, जो उसके विचारों, निश्चयों और कार्यों का निर्णय करते रहते हैं। इस दृष्टि से मैंने केवल भोग और सुख को कभी जीवन का साध्य नहीं समझा। जीवन के आधार के रूप में ऐसी कल्पना मेरी दृष्टि में केवल सूअरों के झुण्ड के लिए ही उपयुक्त हो सकती है। जिन

आदर्शों ने मुझे सदा उत्प्रेरित किया है और समय-समय पर प्रसन्नता-पूर्वक जीवन का सामना करने की शक्ति प्रदान की है वे सत्य, सौन्दर्य और शिवमय रहे हैं। सम्पत्ति, बाह्य सफलता और विलास की भावना से उत्प्रेरित प्रयत्न मुझे सदा घृणित दिखाई पड़े हैं।"

पर प्रश्न यह है कि जीवन के सुख की जो कल्पना 'आइन्स्टाइन' की दृष्टि में सूअरों के झुण्ड के लिये ही उपयुक्त है और जिन भावों से उत्प्रेरित होकर जीवन का पोषण करना उन्हें घृणित दिखाई देता है, उन्हीं की सत्ता और प्रभाव क्या आज के मनुष्य पर नहीं छा गया है ? आज मनुष्य को सूअर से मानव बनाए बिना क्या जगत् की समस्या हल हो सकती है और क्या संसार-व्यापक घृणित परिस्थिति से पार पाया जा सकता है ? क्या जिनके पास सुख, भोग और प्रभुता के साधन भरे पड़े हैं, वे उसे केवल अपने लिये ही रखना नहीं चाहते ? जो है उसी से उन्हें सन्तोष नहीं होता, अपितु उत्तरोत्तर उसकी वृद्धि में ही जीवन की सारी सचेष्टता लगा दी जाती है। जिनके पास नहीं है वे घृणा और द्वेष से संतप्त हैं। स्पष्ट है कि जगत् की सारी सम्पदा और विभूति को कुछ हाथों में संकलित करके रखने वाला अल्पसंख्यक समुदाय जब बहुसंख्यक जन-समाज को इस सम्पत्ति में भागीदार बनाना अस्वीकार करेगा, और जब सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक प्रगति से उपार्जित सारे वैभव और ऐश्वर्य को केवल अपने उपभोग का साधन बनाने की चेष्टा करेगा तो अभाव से संत्रस्त लोग घृणा और द्वेष की अग्नि लगा कर सब कुछ विनष्ट कर देने के लिये अनिवार्यतः अग्रसर होंगे।

जब यह स्थिति उत्पन्न होती है तो संकट की अवस्था का प्रजनन हो ही जाता है। इतिहास में ऐसी स्थिति अनेक बार आ चुकी है। मानव-हृदय में उत्पन्न यह गृह-युद्ध बहुधा सभ्यता और मानवता का हनन करने का कारण होता रहा है। बर्बरता और मनुष्यता के इस सङ्घर्ष में बहुधा सभ्यताएँ स्वयं संतप्त हो गई हैं। यूरोप ने आज पुनः

वहीं क्षण उपस्थित कर दिया है। वह जिसे आज सभ्यता कहता है। वह मानवता के लिये अभिशाप सिद्ध होने लगी है। बापू इसी दृष्टि से यूरोप की ओर देख रहा है। वह कहता है "मैं आधुनिक सभ्यता का दृढ़ और कृतसंकल्प विरोधी हूँ। मैं चाहता हूँ कि आप यूरोप के अन्तरिक्ष पर अपनी दृष्टि डालें। तनिक देखिए तो सही कि संसार पश्चिमी सभ्यता के चरणों के नीचे दलित होकर किस प्रकार कराह रहा है। यूरोप में जो हो रहा है वह इस बात का साक्षी है कि पाश्चात्य सभ्यता उन काली और शैतानी शक्तियों का प्रतीक है, जो मनुष्य को जलाए जा रही है। वह सभ्यता मुख्यतः भौतिक है, जो केवल स्थूल-भूतों और भौतिक नियमों की खोज में संलग्न हैं। वह मानव-शक्ति का उपयोग उत्पादन के उन साधनों और विनाश के उन शस्त्रों की खोज और निर्माण में करती है, जो जगत्-संहार के कारण हो रहे हैं। यदि समय रहते आप जाग नहीं उठते तो अनैतिकता की उत्ताल तरङ्गें जो आपके चारों ओर उठ रही हैं और उत्तरोत्तर उग्र होती जा रही हैं, शीघ्र ही आप को निमग्न कर लेंगी। अतः मैं अपनी सारी शक्ति के साथ पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ कि सावधान हो जाइये और उस भयावनी ज्वाला से पूर्व कि वह आपको जला कर भस्म कर दे, दूर हट जाइए।"

'आइन्स्टान' जिन नैतिक शक्तियों के प्रजनन की बात कहते हैं, गाँधी उसी का अभाव आज के जगत् में देख रहा है। वह आज जीवन के लिये जिस साध्य और आधार को सूअरों के झुण्ड के लिये उपयुक्त समझते हैं गाँधी उन्हीं का व्यापक प्रभाव विश्व पर छाया देखता है। जगत्-सङ्कट के मूल में उसकी दृष्टि में यह मुख्य कारण है। सम्प्रति प्रश्न यह है कि मनुष्य का अशुभ उसे पराधीन रखता है अथवा उसका शुभ जागरित होता है। मनुष्य सभ्यता की रक्षा के लिये सभ्यता का आश्रय ग्रहण करता है अथवा अपने विलास और ऐश्वर्य के लिये, अपने भोग और अपनी वासना के लिये सभ्यता

को ही नष्ट कर देता है। आज मानव-जगत् को इसी प्रश्न का उत्तर देना है और उस उत्तर पर ही उसका भविष्यत् निर्भर करता है। गाँधी स्वयं जगत् और मानव-समाज के सम्मुख महान् प्रश्नात्मक चिह्न के रूप में उपस्थित हुआ है। पर वह न केवल स्वयं प्रश्नात्मक चिह्न है, प्रत्युत उक्त प्रश्न का उत्तर भी है। वह जगत् का कल्याण मानव-हृदय की विजय में देखता है और आज की परिस्थिति को सर्वथा उलट-पुलट देने के लिये नैतिक पद्धति, नैतिक प्रयोग और नीति-सम्मत साधना के रूप में अवतरित होता है। यही कारण है कि जीवन और जगत् को वह गतिशील द्वन्द्वात्क 'भौतिकवाद' के प्रकाश में नहीं देखता वरन् द्वन्द्वात्मक 'जीवनवाद' में विश्वास करता है। गाँधी का 'गाँधीवाद' वास्तव में जीवन, मानवसमाज और जगत् का नैतिक भाष्य है।

अहिंसक क्रान्ति की कल्पना

गाँधी जीवन और जगत् को जिस दृष्टि से देखता है उसका उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। उसके प्रकाश में आधुनिक जगत् की समस्या का जो कारण प्रतिभासित होता है उसकी चर्चा भी कर आए।

गाँधी का यह विश्वास है कि मानवता के कल्याण के लिए जगत् का आमूल परिवर्तन अपेक्षित है। दुनिया का कल्याण इधर-उधर थोड़ा बहुत रद्दोबदल कर देनेमात्र से नहीं हो सकता। कारण यह है कि आज की व्यवस्था का सारा आधार विषाक्त और जर्जरीभूत हो गया है। जीवन के सामने जो आदर्श स्थापित हो गये हैं, जो वृत्तियाँ और भावनाएँ मनुष्य का सञ्चालन कर रही हैं, जो व्यवस्था और सङ्गठन बना हुआ है, संस्कृति की धारा की जो दिशा है, वह सब जब तक पलट न दी जायगी और उनके स्थान पर नए आदर्श, जीवन का अंकन करने वाले नए मानदण्ड और मनुष्य को उत्प्रेरणा प्रदान करने वाली शक्ति को नई दिशा और नया कलेवर प्रदान नहीं किया जाता तब तक केवल चकतियों के लगाने से पतनोन्मुख आज का सांस्कृतिक पट परिवर्तित नहीं किया जा सकता। फलतः गाँधी संसार को संहार की अग्नि से बचाने के लिये, शोषण और निर्दलन से मानवता को मुक्त करने के लिये तथा मानव बर्बरतासे जगती का उद्धार करने के लिये ऐसे सर्वाङ्गीण प्रबल और मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता समझता है जो जीवन, समाज और संस्कृतिके मूलधार को ही बदल दे। यही कारण है कि हम आज की सारी दुनिका और उस पर छाई हुई आज की संस्कृति के समस्त अंगोपांग के विरुद्ध गाँधी को सजीव मूर्त्त विद्रोह के रूप में प्रस्तुत पाते हैं। उसकी विचारधारा आधुनिक मानव-समाज के सम्मुख उप-

स्थित हुए भ्रष्टादर्शों के विरुद्ध सतेज क्रान्ति-प्रवाह है, जो सात्विक उद्घोष और सात्विक संघर्ष के द्वारा मनुष्य को अपनी दृष्टि पर पड़े मलिन मोह के आवरण को फाड़ फेंकने के लिए उत्प्रेरित कर रहा है।

जगत् को परिवर्तित करने की आवश्यकता और वांछनीयता में आज कहाँ मतभेद नहीं है। सब अनुभव कर रहे हैं कि वर्तमान स्थिति चलने वाली नहीं है। कोई वाद हो अथवा विचार, नेता हो या मनीषी सब यह स्वीकार करते हैं कि जब तक आज की अवस्था और व्यवस्था में, मनुष्य और उसकी कार्यपद्धति में आवश्यक परिवर्तन नहीं किया जाता तब तक हमारा सांस्कृतिक शकट आगे नहीं बढ़ता। आगे बढ़ना तो दूर रहा उसके प्रत्यावर्तन का भय भी उत्पन्न हो गया है। परिवर्तन की यह आवश्यकता और आकांक्षा इतिहास की कोई नयी घटना नहीं है। परिवर्तन जीवन का धर्म है, क्योंकि उसी में विकास का स्रोत सन्निहित है। जीवन और समाज की गति के साथ स्थिति बदलती है और नवीन आवश्यकताएँ उत्पन्न होकर नवीन व्यवसायों की माँग करती हैं। इतिहास-सरिता के अविरल प्रवाह में इसी प्रकार सांस्कृतिक तरंगे उठती और विलीन होती रहती हैं। उत्थान और विलय की इस क्रिया में पतन के साथ उत्थान की चेष्टा में ही जीवन की रक्षा संभव है। इसके विपरीत निश्चेष्टता में उसका विलोप निश्चित है। इसी कारण परिवर्तन की चेष्टा मानव-समाज के जीवन को बनाए रखने के लिये बहुधा संजीवनी सिद्ध होती रही है।

अवसर आया है जब मनुष्य ने अपनी दुनियाँ को बदलने के लिये महाप्रयास किया है। आज भी स्थिति कुछ वैसी ही है। जीवन की तुला बुरी तरह डगमगा गयी है और जगत् की अवस्था से किसी को संतोष नहीं है। वह वर्ग भी जो आज की व्यवस्था से परिपोषित है और जिसका स्वार्थ उसी में स्थिर है, वर्तमान जगत् की आवश्यकता के अनुकूल रद्दोबदल करने की बात सोचने लगा है। पर वह आव-

श्यकता क्या है जिसके लिये वर्तमान जगत् में परिवर्तन इष्ट समझा जा रहा है स्थूल रूप से कह सकते हैं कि मानव-समाज हिंसा, रक्तपात तथा आक्रमणशीलता से आक्रान्त है। शोषण, अन्याय, अत्याचार पराधीनता और दैन्य से मानवता त्रस्त है। इन प्रवृत्तियों का उत्पात इतना बढ़ गया है कि मनुष्य के लिये अब उनकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं रहा। यों तो मनुष्य की हिंसा-प्रवृत्ति, रक्त-पिपासा, दूसरों पर प्रभुता स्थापित करने की इच्छा, आक्रमण-शीलता और स्वार्थ-पूजा की भावना सदा मनुष्य के साथ ही लगी रहती है। पर सदा उसने इनकी उग्रता, गुरुता और सीमा को घटाते जाने की चेष्टा में ही जीवन की उन्नति और मानवता का गौरव देखा है। यह सत्य है कि अब तक मनुष्य कभी इनका सम्पूर्ण उन्मूलन न कर सका, पर कभी किसी युग में उसने हिंसा और आक्रमणशीलता को स्वयमेव उचित अथवा अपने आदर्श के रूप में ग्रहण नहीं किया।

सदा से मनुष्य ने मनुष्य का दलन किया है, शोषण और शासन किया है, साम्राज्यों का विस्तार करके जन-समूह की स्वतन्त्रता अपहृत की है, पर यह सब किया गया है मानवता के कल्याण के नाम पर। अशान्ति मिटे, हिंसा का लोप हो, मत्स्यन्याय न चलने पावे, दुर्बल की रक्षा हो और मनुष्य पशुता से दूर किया जा सके, यही लक्ष्य उपस्थित किया जाता रहा है। तात्पर्य यह कि हिंसा या रक्तपात तथा आक्रमण-शीलता का आश्रय ग्रहण किया जा रहा है यह कह कर कि उसके द्वारा अहिंसा, सुख और कल्याण का साधन करना ही लक्ष्य है आज भी हम वही स्थिति पाते हैं। हिंसा और आक्रमणकारिता की सजीव प्रतिमा आधुनिक नाजीवाद भी यह कहते हुए मानव-रक्त का पान करने में संलग्न होता है कि वह धरित्री को हिंसा से मुक्त करना चाहता है। उसकी दृष्टि में जगत् संकटापन्न है उन राष्ट्रों की गुट को प्रभुता से जो अपने स्वार्थ के लिए संसार पर अपना अधिकार बनाए रखना चाहते हैं। उनकी दुष्टता के फलस्वरूप संसार में युद्ध की आग भड़कती रहती

है। हिटलर कहते हैं कि मैं यह स्वीकार करने के लिये तय्यार नहीं हूँ कि कुछ राष्ट्रों को ईश्वर का यह आदेश प्राप्त है कि वे पहले शस्त्र के बल पर जगत् को अपने अधीन कर लें और फिर नैतिक सिद्धान्तों का राग अलाप कर इस डाँकेजनी की रक्षा करें। पूँजीवादी लोकतन्त्रात्मक राज्य युद्ध लोलुप हैं जो शान्ति और व्यवस्था के पुजारी जर्मनों के लिये भयावने खतरे हैं।

वह आगे कहता है कि "धुरी राष्ट्रों का संघ समस्त यूरोप को, शान्ति और संस्कृति के शत्रुओं की आसुरी प्रभुता से मुक्त करने के लिये है।" यदि पूँजीवादी लोकतन्त्रात्मक साम्राज्यवादी राष्ट्रों पर दृष्टिपात कीजिए तो आप पावेंगे कि वे भी सारी हिंसा और अपनी पशुता तथा आक्रमणशीलता को साधन समझते हैं जगत् को हिंसा और अशान्ति से मुक्त करने का। चर्चिल के शब्दों में "मनुष्य स्वतन्त्र हो, समानता और बन्धुत्व की पताका फहराए, जगत् से अशान्ति और दलन मिट जाय तथा सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना हो"—यही मित्र राष्ट्रों का एकमात्र लक्ष्य है। जगत् को शान्ति की आवश्यकता है इसे सब स्वीकार करते हैं। हिंसा, युद्ध, अन्याय और शोषण मिट जाय तथा स्वतन्त्रता और न्याय की स्थापना हो यही सब का उद्घोषित लक्ष्य है। वे भी इसी लक्ष्य की दुहाई देते हैं, जिनका स्वार्थ आज की व्यवस्था में सन्निविष्ट है और जो स्वयं हिंसा तथा अशान्ति के मूर्तिमान स्वरूप हैं। आज इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये उचित उपायों की खोज का प्रश्न जगत् के सामने सजीव रूप में उठ खड़ा हुआ है। जैसा कि पूर्व की पंक्तियों में कह चुका हूँ, हिंसा और रक्तपात करते हुए मनुष्य ने कभी उन्हें अपना आदर्श स्वीकार नहीं किया, पर आज तो स्थिति कुछ और जटिल हो गयी है। जिस प्रकार मनुष्य की शक्तिवृद्धि हुई है, उसमें हिंसा और विनाश करने की उसकी क्षमता भी अकल्पित रूप से बढ़ गयी है। चाहे किसी लक्ष्य के लिये क्यों न हो, हिंसा का आश्रय ग्रहण करना भयावह हो गया है और यदि उसकी धारा का अवरोधन

नहीं किया जाता तो पृथ्वी मानव से हीन हुई दिखाई देगी। यही कारण है कि जगत् को आज शान्ति और युद्ध से, दलन तथा शोषण से अन्याय तथा पराधीनता से पूर्णतः मुक्त करना मानव-समाज के अस्तित्व की रक्षा के लिये आवश्यक हो गया।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये जगत् की व्यवस्था में परिवर्तन इष्ट समझा जाने लगा है। आज इतिहास की यही माँग है कि समाज की गति के अनुसार उसकी जो नयी आवश्यकता उत्पन्न हो गयी है, उसे पूरा करने के लिये अनुकूल परिवर्तन किया जाय। यूरोप में 'मार्क्सवाद' का जन्म इसी परिवर्तन की पुकार का प्रतीक है। वह ऐसे विश्व-विद्रोह की कल्पना करता है, जिसमें वर्ग-प्रभुता मिट जाय, और जगत् में वर्गहीन समाज की स्थापना हो जाय। वह समझता है कि शोषण या पराधीनता, हिंसा या रक्तपात, भूमण्डल की सारी अव्यवस्था और उत्पीड़न के मूल में आधुनिक जगत् की वह व्यवस्था है, जिसने उत्पादन के सारे साधनों पर पूँजीवादी अनुत्पादक वर्ग की प्रभुता स्थापित कर दी है। इस विश्वविद्रोह के लिये उनकी अपनी पद्धति है और अपनी विशेष प्रक्रिया है। पर परिवर्तन की माँग मार्क्स-वाद के समान विद्रोहिणी विचारधारा तक ही परिमित नहीं है। यदि सावधानी के साथ देखा जाय तो स्वयं पूँजीवादी अथवा जगत् का प्रभुवर्ग भी यह समझने लगा है कि उसे अपनी व्यवस्था में परिवर्तन किए बिना अपने अस्तित्व की रक्षा करना असम्भव हो जायगा।

'फासिटीवाद' या नाजीवाद' भी वर्तमान व्याख्या के प्रति प्रचण्ड विद्रोही ही है, यद्यपि उसकी धारा मूलतः प्रतिगामिनी तथा पाशविक है। 'लोकतन्त्रवादी' पूँजीपति राष्ट्र भी यह अनुभव कर रहे हैं कि उन्हें अपने में परिवर्तन करना ही होगा अन्यथा मिट जाने का खतरा उठाना पड़ेगा। इस भावना का परिचय अमेरिका के रूजवेल्ट के उस प्रयोग में प्रदर्शित है जो 'न्यूडील' के नाम से विख्यात है। पूँजीवादी लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रों में आयोजित अर्थनीति तथा 'राज्याधीन पूँजीवाद'

(स्टेट कैपिटलिज्म) की जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, तथा किसी न किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-संघ की स्थापना करके एक सीमा-तक राष्ट्रीय सरकारों के अक्षुण्ण अधिकार का समर्पण करके भी राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा सहयोग की जो माँग की जाने लगी है, वह उस अपेक्षित परिवर्तन की इच्छा का ही द्योतक है। अवश्य ही यह प्रवृत्ति वर्गप्रभुता तथा आधुनिक अवस्था को बनाए रखकर केवल उसके लिए उठे खतरों को टालने के भाव से ही उत्प्रेरित है। इन सब के सिवा यूरोप के अनेक अन्यवादों का भी उल्लेख किया जा सकता है जो आज के जगत् के रद्दोबदल इष्ट समझते हैं।

फलतः जगत् को बदलने की इच्छा चतुर्दिक् दिखाई देती है। यद्यपि कोई किसी एक दृष्टि से परिवर्तन की इच्छा करता है और कोई किसी दूसरे से। इसी प्रकार परिवर्तन की प्रक्रिया को चरितार्थ करने के लिये सबकी अपनी-अपनी पद्धति है, जो मूलतः और स्वरूपतः परस्पर विषम है। बापू भी मौलिक परिवर्तन का इच्छुक है, पर उसकी दृष्टि और पद्धति उपर्युक्त सबसे भिन्न है। वह परिवर्तन चाहता है इसलिये कि वसुन्धरा की गोद में पालित मानव स्वतः मनुष्य की प्रभुता और उसके उत्पीड़न, उसकी निर्ममता तथा निर्दलन से मुक्त हो। वह परिवर्तन इसलिये भी चाहता है कि धरती संघर्ष तथा संहार की लीला से त्राण पा जाय और मनुष्य उस विकास के पथ पर अग्रसर हो सके जिस पर बढ़ना प्रकृति द्वारा निर्धारित विधान है। नव जगत् की रचना के लिये वह जो आधार उपस्थित करना चाहता है वह अभिनव है और परिवर्तन की प्रक्रिया के लिये जिस पद्धति को लेकर सामने आता है वह भी अपने ढङ्ग की अनोखी है।

गाँधी जिस नये आधार और नई पद्धति को सामने रखता है, उसकी विवेचना करना इन पंक्तियों का लक्ष्य है। वह जगत् का सारा जीवन और मानव-समाज की सारी संस्कृति को अहिंसा के आधार पर स्थापित करने का लक्ष्य उपस्थित करता है और उस लक्ष्य की पूर्ति

के लिये अहिंसात्मक पद्धति का प्रयोग करना चाहता है। गाँधी यह विश्वास नहीं करता कि आधुनिक सांस्कृतिक भवन के किसी खण्ड-विशेष में कुछ सुधार, कुछ परिवर्तन, कुछ मरम्मत कर देने मात्र से मानवता की समस्या हल हो जायगी। वह यह समझता है कि आधुनिक भवन जिस नींव पर खड़ा किया गया है और जिन उपादानों से उसका निर्माण हुआ है, वे मूलतः विषमय और दोषपूर्ण हैं; अतः इधर-उधर के हेर-फेर से काम नहीं चल सकता। आवश्यकता इस बात की है कि नए संसार का निर्माण नए सिरे से किया जाय। वह विश्व की कल्पना भौतिक यन्त्र के रूप में नहीं अपितु नैतिक यन्त्र के रूप में करता है और यह मानता है कि भव प्रपञ्च का सञ्चालन करने के लिये नैतिक विधान स्थापित है। इस स्थिति में गाँधी यह सम्भव नहीं समझता कि असत्य और अशिव, अनैतिक तथा अशुभ, हिंसा तथा पशुता की अर्चना करते हुए आप शुभ तथा आनन्द और नीति का उपभोग कर सकें। नैतिक विधान का स्थूल रूप यही है कि जैसा कीजिएगा वैसा फल भोगने के लिए बाध्य होना होगा।

यदि मानव-समाज पतन का मार्ग ग्रहण करना वांछनीय समझता है, तो फिर अभ्युदय की आशा करना ही वृथा है, यदि वह कल्याण और सुख तथा निःश्रेयस का इच्छुक है तो उसे तदनुकूल उस नैतिक पथ का अवलम्बन करना ही होगा जिसपर चलकर वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। हिंसा और रक्तपात से त्रस्त जगत् का उद्धार करने के लिये यह आवश्यक है कि हिंसा और रक्तपात का विलोप किया जाय; पर स्मरण रखना चाहिए कि जिस संस्कृति, जिस जीवन, जिस समाज और जिस विधान तथा व्यवस्था की स्थापना हिंसा और रक्तपात पर ही की गयी हो, वह सिवा हिंसा और रक्तपात के और सर्जन ही किसका करेगी? विज्ञान के 'भौतिकवाद' और 'यन्त्रवाद' ने जिस 'भोगवाद' का प्रजनन कर दिया है, उसका अनिवार्य परिणाम मनुष्य की वासना का उद्दीपन कर देना हुआ है। कामना की आग में जलने-

वाले मनुष्य के सामने कामना पूर्ति को ही जीवन का एकमात्र आदर्श स्थापित करके और कामनाओं की पूर्ति के लिये अभिनव, उन्नत तथा अत्यधिक उपयोगी साधनों को प्रदान करके विज्ञान ने जिस मनुष्य, जिस जगत् और जिस संस्कृति का निर्माण किया है, वह आज कामना, उसके उपभोग और उसकी परितृप्ति के सिवा दूसरा सत्य ही नहीं देख रही है।

पर वह इस सत्य को नहीं देख रही है कि वासनाओं का परि-शमन विवेक-हीन उन्मत्त भोग से कभी हो ही नहीं सकता। भोग के द्वारा उसकी पूर्ति की चेष्टा मरुस्थल को चुल्लू से पानी उलीच कर सींचने के समान ही व्यर्थ है। वह तो अग्नि है जो केवल भोग से ही होती चलती है। मनुष्य वासना की तृप्ति में संलग्न होता है सुख की इच्छा से, पर अन्त करता है उसके द्वारा दुःख निवारण की चेष्टा करते हुए।

मनुष्य सुखानुरागी होता है; पर वासनापूर्ति को ही सुखानुभूति का साधन स्वीकार कर लेने के कारण आवश्यक हो जाता है कि नयी-नयी वासनाओं का प्रजनन किया जाय, जिसमें उतनी पूर्ति करके सुख की अनुभूति की जा सके। फलतः इच्छाओं को बढ़ाते जाना अनिवार्य हो जाता है जिसके फलस्वरूप यह दावाग्नि चतुर्दिक् व्याप्त हो जाती है।

'कामनावाद' का यह स्वरूप इतना साधारण, स्पष्ट और अनुभव-गम्य है कि इसके सम्बन्ध में विशेष मतभेद की गुंजाइश नहीं है। सीधी सी बात है कि निरङ्कुश और उच्छृङ्खल भोग-प्रवृत्ति मनुष्य को मोहित करने का कारण होती है जो बुद्धि-नाश के साथ-साथ पशुता की ओर उसका प्रत्यावर्तन कर देती है। सुख की कल्पना जब केवल स्वार्थ-साधन और वासनापूर्ति में परिसीमित हो जाय, तो जीवन का हिंसा पर आश्रित हो जाना भी अनिवार्य है। आज हम जगत् में इसी की लीला देखते हैं। मनुष्य मनुष्य के स्वार्थ का टकराना अनि-वार्य है और ज्यों ही यह हुआ कि हिंसा का उद्भव स्वार्थ की पूर्ति के

लिये और फिर हिंसा के लिये प्रतिहिंसा आवश्यक हो जाती है। आज व्यक्ति का ही नहीं प्रत्युत राष्ट्रों का जीवन इसी आधार पर आश्रित है। सारी संस्कृति जो मुख्यतः यान्त्रिक सभ्यता के रूप में मूर्त्त हुई है, हिंसा पर ही अवलम्बित है। इसी कारण गाँधी यह मानता है कि कामनाओं की पूर्ति की प्रवृत्ति का अन्त हिंसा में होना अनिवार्य है और हिंसा से आपन्न जीवन तथा जगत् पाशविक हुए बिना बाकी नहीं रह सकता है। गाँधी इस सारी स्थिति और मनोदशा का परिवर्तन चाहता है। हिंसा की प्रवृत्ति का समूल उन्मूलन कदाचित् सम्भव न हो पर गाँधी की दृष्टि में इतना स्पष्ट है कि जीवन में अहिंसा भी उसी प्रकार निसर्गतः आसीन है, जिस प्रकार हिंसा की प्रवृत्ति। उसकी दृष्टि में यह भी स्पष्ट है कि मनुष्य की मनुष्यता क्रमशः हिंसा की सीमा को सङ्कुचित करती हुई और अहिंसक भावना को विकसित करती हुई आगे बढ़ी है। मानव-जीवन का आदर्श पूर्ण अहिंसा की प्राप्ति में ही है; क्योंकि मनुष्य की पूर्णता विराट् से तदात्म्य की संसिद्धि में है; जब वह विश्व के कण-कण में किसी एक ही वास्तविक सत्ता के प्रतिबिम्ब का दर्शन करने लगता है। इस तर्क में कोई बल नहीं है कि विशुद्ध आदर्श की उपलब्धि पूर्णता में कभी सम्भव नहीं होती। जीवन का धर्म केवल इतना ही है कि वह आदर्श की ओर बढ़ता चले। उस दिशा की ओर प्रत्येक पग बढ़ने में ही उसकी सार्थकता है! गाँधी की दृष्टि में लक्ष्य ही सत्य है, अतः वह कहता है कि "अहिंसा सत्य है और सत्य ही अहिंसा है"।

प्रश्न किया जा सकता है कि गाँधी की अहिंसा का तात्पर्य क्या है, स्वरूप क्या है, जिसे वे जगत् की व्यवस्था तथा संस्कृति का आधार बनाना चाहते हैं। साधारण दृष्टि से अहिंसा का अर्थ जीव-हिंसा से विरति में ही समझा जाता है। पर बापू की अहिंसा की कल्पना अत्यन्त व्यापक है। उसकी अहिंसा का अर्थ जीवहिंसा से विरति में ही समाप्त नहीं होता। वह अहिंसा का उच्चारण करता है शब्द प्रतीक

के रूप में जिसमें जीवन और जगत् के प्रति उसका सारा दृष्टि-कोण तथा दर्शन भरा हुआ है। उसकी अहिंसा न सामान्य शब्द है और न अपने साधारण अर्थमात्र में परिमित है। गाँधी की अहिंसा-कल्पना में अवैर और अद्वेष की परम साधना भी है। अवैर की साधना का अर्थ अहं के ममत्व का अधिकाधिक विसर्जन है। अवैर वस्तुतः मानव की एक मनोदशा है जो अहं के ममत्व के साथ-साथ चल ही नहीं सकती। जिस सीमा तक मनुष्य अहं का संकोच करने में समर्थ होगा, उसी सीमा तक वैर-वृत्ति का परिशमन कर सकेगा। स्वार्थ का स्रोत तो अहं में ही है। उसी से वे समस्त प्रवृत्तियाँ फूलती-फलती हैं जो मनुष्य को अपने ही सुख और अपनी ही प्रभुता की स्थापना के लिये अग्रसर करती हैं। अहं की उपासना में रत मानव स्वभावतः अपनी प्रवृत्तियों की पूर्ति के लिये बल का प्रयोग करेगा, क्योंकि बिना उसके न उनकी उपलब्धि संभव है और न उपलब्ध विभूति की रक्षा ही सम्भव है। फलतः अपने स्वार्थ के लिये, अहं की तृप्ति के लिये जिस वैर-भाव का सर्जन होता है, वह बल का आश्रय ग्रहण करके निर्दलन और उत्पीड़न का कारण हो जाता है। बापू की अहिंसा में इसी कारण अहं की सीमा का अधिक से अधिक विसर्जन भी निहित है। यह प्रवृत्ति मानव-जीवन के लिये विजातीय नहीं है। अहं के क्रमिक लय पर ही परिवार, परिवार से समाज, और समाज से राष्ट्रों की रचना होती रही है। मनुष्य अपनेपन की, अपने स्वार्थ की और अपने 'मैं' की भावना को इस प्रकार विस्तृत करने में समर्थ होता रहा है कि उसके 'मैं' में उसका परिवार, समाज और देश समाता रहा है। गाँधी की अहिंसा अहं के अधिकाधिक लय की उसी प्रवृत्ति को लेकर आगे बढ़ती है।

पर अहं के लय की ओर मनुष्य का प्रथम पग यही है, तथा उसका व्यावहारिक और प्रत्यक्ष रूप भी यही है कि वह एकमात्र अपने सुखोपभोग और अपने स्वार्थ की कल्पना को यथासम्भव कम

करता चले और दूसरे के सुख, उसकी सुविधा तथा उसके अधिकार का ध्यान अधिकाधिक रखने की चेष्टा करे। कामनाओं के संयम और त्याग से ही पर की चिन्ता सम्भव है। अहिंसा का पूर्णादर्श वही है, जब सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करके मानव राग-द्वेष से विमुक्त हो जाय और अपने को जगत् में लय कर दे। उसी स्थिति में "निर्वैरः सर्वभूतेषु" की अवस्था प्राप्त होती है और वही पूर्ण अहिंसा की अवस्था है। यदि आदर्श की बात छोड़ भी दें तो भी अहिंसा की ओर अभिगमन का प्रथम पग कामनाओं का नियमन और क्रमशः उनका त्याग करते जाना ही है। कामनाएँ तो अहं की प्रबलता और उसके केन्द्रीकरण के ही परिणाम हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि उनके संयम से अहं-ममत्व का संयम होता है और अहं के क्रमिक लय से ही अहिंसक वृत्ति का उदय सम्भव होता है। मानव की स्वार्थ वृत्ति जैसे-जैसे कम होगी वैसे-वैसे उसका परार्थ उद्बुद्ध होगा, उसके 'स्व' की सीमा विस्तृत होती चलेगी और मानव पर के दुःख-सुख और अधिकार-सुविधा का अधिकाधिक विचार और पोषण करता चलेगा। स्पष्ट है कि मानव-वृत्ति के इस उदय के साथ मनुष्य द्वारा मनुष्य का उत्पीड़न, शोषण, शासन, निर्दलन और अधिकारापहरण सम्भव नहीं है। यह सब उपसर्ग हैं अहं पूजा और 'कामनावाद' के। मनुष्य जब अपनी वासना की अग्नि प्रज्वलित करता है, तब उसकी हिंसा-वृत्ति जागरूक होती है। एक ओर दूसरों का निर्दलन होगा और दूसरी ओर भय, त्रास, तथा अपनी रक्षा के लिये अथवा उसी प्रकार अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये उपर्युक्त उपायों का अवलम्बन होगा। एक दिन अवस्था ऐसी उत्पन्न होती है जब व्यक्ति, समूह या वर्ग को अपने स्वार्थों की पूर्ति और रक्षा के लिये हिंसा को स्थायित्व प्रदान करना पड़ता है, उसे अपनी शक्ति को अधिकाधिक बढ़ाते जाना पड़ता है; क्योंकि दूसरे के अपेक्षाकृत अधिक बली हो जाने का खतरा सतत उपस्थित रहता है। इस दुश्चक्र से ग्रसित जीवन, समाज और जगत्

अपने ही द्वेष और अपनी ही हिंसा से त्रस्त होता चलेगा। स्वजाति-शत्रुत्व और अपनी ही दुनिया का अपने हाथों विनाश और अन्त में मनुष्य द्वारा मनुष्य का रक्तपान अनिवार्य हो जाता है। हिंसा ही इस स्थिति में संस्कृति का आधार और उसकी रक्षा का एकमात्र उपाय रह जाती है और वही उसके विनाश का कारण भी होती है।

फलतः गाँधी की अहिंसा का अर्थ एकमात्र जीवहिंसा न करना ही नहीं है, प्रत्युत कामनाओं और वासनाओं का परित्याग करते हुए अपने अहं को जगत् के हित के साथ यथासम्भव लय करते जाना भी है। इस दृष्टिकोण और भाव को लेकर मानव जीवन का पुनर्निर्माण करना, अहिंसा के आधार पर उसकी स्थापना करना है। उसके लिये मनुष्य की आधुनिक सुख सम्बन्धी कल्पना तक को बदल देना पड़ेगा। अपनी पूजा में नहीं, पर दूसरों के सम-अधिकार, हित और स्वार्थ की रक्षा में ही जीवन का सुख मानने की वृत्ति उत्पन्न करनी होगी। यही गाँधी की अहिंसा का स्वरूप है। इसके विपरीत उसकी दृष्टि में हिंसा का अर्थ केवल जीवहिंसा करना नहीं है, वरन् वे सारे भाव और वे दृष्टिकोण, जिनके अनुसार मानव का अहं जागरित हो, कामनाओं की आग जले, अपने स्वार्थ की पूजा में ही जीवन की प्रयोजनता स्वीकार की जाय तथा हिंसा का आश्रय ग्रहण करके इस प्रयोजनता की पूर्ति करना आवश्यक समझा जाय और उसके आधार पर शोषण, शक्ति-पूजा तथा उत्पीड़न को स्थायी कर दिया जाय, हिंसा ही है। इस पृष्ठभूमि में जिस व्यवस्था, समाज और संस्कृति की रचना हुई हो वह बापू की दृष्टि में हिंसा पर ही अवलम्बित है। इसका निराकरण करके गाँधी अहिंसा को नव जगत् की रचना का आधार बनाना मानवता के कल्याण का एकमात्र उपाय समझता है। उक्त वृत्ति के द्वारा मनुष्य का संस्कार करके जिस संस्कृति और व्यवस्था का निर्माण किया जायगा उसमें, उसके मतानुसार हिंसा की आवश्यकता न रहेगी। फलतः हिंसा के साधनों

का क्षय होगा और उत्पीड़न, शोषण तथा दासता, हिंसा, युद्ध एवं रक्तपात का अन्त होगा। उसी स्थिति में मानवता मनुष्य के ही कराल त्रास से मुक्त होती दिखाई देगी।

बापू की पद्धति के केन्द्र में यही अहिंसा सौर मण्डल में स्थित भास्कर की भाँति प्रतिष्ठित है। इसी को लेकर गाँधी की विचार-पद्धति तथा कार्य-पद्धति अग्रसर होती है। 'गाँधीवाद' अहिंसा के क्रमिक विकास की पद्धति है, जो उसी के आधार पर नव जगत् और नव समाज तथा जीवन की रचना के लिये प्रयोग के रूप में प्रस्तुत है। अपनी इस नयी दृष्टि को लेकर गाँधी जगत् के सांस्कृतिक आधार को बदलना चाहता है, जीवन की आधुनिक दशा को उलट देना चाहता है और हिंसा के स्थान पर अहिंसा की प्रतिष्ठा करना चाहता है। वह अहं के 'सुखवाद' और ऐहिक भोगों की लिप्सा के स्थान पर दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य के पालन और प्राणिमात्र के प्रति प्रेम में जीवन के चरम उत्कर्ष तथा जगत् के कल्याण का रहस्य देखता है। इस प्रकार आधुनिक 'पशुवाद' के स्थान पर 'मानववाद' की प्रतिष्ठा करना चाहता है। जब तक यह नहीं होता मनुष्य की विकास-यात्रा कुंठित रहेगी।

तात्पर्य यह कि उपर्युक्त नये आधार पर नयी दुनिया की स्थापना करके उसके संमुख नए मानवीय आदर्शों को प्रतिष्ठित करना गाँधी का लक्ष्य है। पर इस नयी व्यवस्था को जन्म प्रदान करने के लिये ऐसी महती क्रान्ति की आवश्यकता है, जो आज के जगत् को ऊपर से नीचे तक परिवर्तित कर दे। जगत् के लिये आदर्शों की कल्पना करनेवाले सभी महान् व्यक्तियों के लिये अपनी कल्पना को साकाररूप प्रदान करना बिना जगत् का परिवर्तन किए संभव नहीं दिखाई देता। इतिहास के अनेक युगों में महती क्रान्तियों का प्रजनन इसी कारण होता रहा है। गाँधी भी अपनी कल्पना और अपने आदर्शों को सजीव तथा सक्रिय रूप देने के लिये आधुनिक स्थिति, व्यवस्था और वाता-

वरण में उलट-पुलट अपेक्षित समझ रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। पर प्रश्न यह है कि इष्ट परिवर्तन की प्रक्रिया किस प्रकार सम्पादित की जा सकती है?

गाँधी के पास उक्त प्रश्न का अपना विशेष उत्तर है। वह समझता है कि जगत् का स्थायी, मौलिक और सर्वाङ्गीण परिवर्तन उसी स्थिति में सम्भव है, जब स्वयं मनुष्य परिवर्तित कर दिया जाय। मनुष्य ही वह आधारभूत तत्त्व है, जिस पर जगत् की सारी व्यवस्था आश्रित है। मनुष्य का आन्तरिक भाव मुख्य स्रोत है जिससे जीवन की सारी सक्रियता निर्गत होती है। व्यवस्थाएँ तो यंत्रमात्र हैं जो स्वयमेव जड़ हैं। उनमें प्राण-संचार करने वाला मनुष्य ही होता है, जो उनका उपयोग करता है और उसके द्वारा अपने अंतर्लोक को बाहर लाकर स्थापित कर देता है। फलतः यदि भीतर का पशु बोल रहा हो तो बाहर की उत्कृष्ट व्यवस्था भी पाशव ही होकर रहेगी। महान् सिद्धान्तों और उज्वल आदर्शों का उल्लेख करने से अथवा वाग्जाल की रचना करनेमात्र से मानवता की समस्या तबतक नहीं सुलझ सकती जब तक मनुष्य का अन्तर सत्वाभिभूत नहीं होता। आज की दुरवस्था का कारण भी गाँधी जी की दृष्टि में वह अनैतिकता और अमानवता ही है जिसका जन्म मनुष्य के हृदय में ही होता है। यदि इनके लोप से ही जगत् का कल्याण होना संभव है तो मनुष्य के हृदय का परिवर्तन ही अपेक्षित है। शांति, स्वतंत्रता, समता और न्याय की स्थापना भी उसी स्थिति में संभव है, जब मनुष्य की सहज नैतिक प्रवृत्ति जागरित हो। स्पष्ट है कि ये वे नैतिक आदर्श हैं जिनका आधार मनुष्य का अंतर है। जब तक उसका जागरण नहीं होता तब तक न इनकी उपलब्धि हो सकती है और न प्रस्ताव स्वीकार कर देनेमात्र से उनको व्यावहारिक रूप प्रदान किया जा सकता है। यही कारण है कि गाँधी मनुष्य के परिवर्तन में ही जगत् का सार्थक परिवर्तन देखता है। वह यह नहीं स्वीकार करता कि मनुष्य जड़ भूतों का पुतला अथवा

पशु-प्रवृत्तियों द्वारा संचालित यंत्रमात्र है। वह कहता है "मनुष्य न केवल बुद्धि है, न केवल स्थूल पशु-शरीर। वह केवल भाव या आत्मा भी नहीं है। वास्तव में वह इन तीनों से निर्मित पदार्थ है। इन तीनों के उचित सामंजस्य और समन्वय से ही सर्वांश में मानव का निर्माण होना संभव है। मस्तिष्क और शरीर का विकास समभाव से हो जिसके फलस्वरूप आत्मा का जागरण हो। इन तीनों में उचित सामंजस्य की स्थापना के अभाव का जो भयानक परिणाम हो रहा है वह हमारे समुख है"।

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि गाँधी जी मानव-जीवन को निष्प्राण भूताभिभूत पदार्थ के रूप में नहीं देखते। यही कारण है कि जीवन संबन्धी उनकी नैतिक-अनैतिक की कल्पना पङ्किल नहीं, स्वच्छ और सरल है। उनके ही शब्दों में "मानव-हृदय में शुभ और अशुभ, काली तथा उज्वल शक्तियों का सतत संघर्ष चलता रहता है। सत्य और असत्य, भले और बुरे का अस्तित्व बहुधा साथ ही साथ होता है। मनुष्य यदि असत्य की ओर झुकता है, तो वही सत्य की ओर भी झुक सकता है। अपने इस स्वरूप का दर्शन कर लेने के बाद ही मनुष्य आत्मस्थ हो सकता है। और तभी उसकी निर्मित दुनिया सुन्दर हो सकेगी। मनुष्य की इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति और विकास में ही सौन्दर्य है।" तात्पर्य यह है कि मनुष्य के अशुभ से उसकी दुनिया अशुभ हो जाती है और उसके शुभ के जागरण से ही वह शुभ हो सकेगी। यदि जगत् को शुभ के लिये परिवर्तित करना अभीष्ट है, तो आवश्यक है कि मानव-शुभ की सत्ता स्थापित की जाय।

गाँधी की क्रान्ति-कल्पना का यही स्वरूप है। जगत् में घटित समस्त क्रान्तियों से उसकी क्रान्ति-योजना का भेद भी यही है। अब तक दुनिया को बदलने के प्रयोग अनेक बार किए जा चुके हैं। जो प्रयोग हुए हैं, उनमें बलात् बाह्य को पलट देने का ही प्रयास किया जाता रहा है। गाँधी आज नई धारणा उपस्थित करता है। उसकी

दृष्टि में जगत् का परिवर्तन वस्तुतः तब तक हो ही नहीं सकता, जब तक मनुष्य का परिवर्तन नहीं होता। फलतः वे जिस पद्धति के प्रवर्तक और पोषक हैं, उसका मुख्य लक्ष्य द्वन्द्वात्मक जीवन के उस अंश को जागरित कर देना है, जो स्वभावतः सत्य की ओर अभिमुख रहता है। उनकी पद्धति मनुष्य के उस अंग का स्पर्श और पुनरुज्जीवन करना चाहती है, जिसकी प्रतिष्ठा प्रकृति ने मानवान्तर में कर रखी है और जो उसे पशु से भिन्नता प्रदान करती है।

हम जानते हैं कि इस सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण भी उपस्थित किया जा सकता है। कहा जा सकता है कि मनुष्य का परिवर्तन तब तक सम्भव नहीं है जब तक दुनिया न बदल दी जाय। मार्क्सवाद कहता है कि मनुष्य की चेतना परिस्थितियों की छाया के सिवा और कुछ नहीं है। जैसी बाह्य परिस्थिति होगी वैसा ही मनुष्य का जीवन, उसका दृष्टिकोण और उसके आदर्श होंगे। गाँधी जी स्वयं मनुष्य के अन्तर्लोक को ही प्रथम स्थान प्रदान करते हैं; क्योंकि उनका विश्वास है कि उसकी अन्तश्चेतना के अनुरूप ही बाह्यस्वरूप ग्रहण करता है। वे कहते हैं कि "प्रश्नों के दो पहलू होते हैं। एक बाह्य है और दूसरा आंतरिक। मेरे लिये बाह्य का मूल्य केवल उस सीमा तक है जिस सीमातक वह अंतर् को सहायता प्रदान करता है। बाह्य में मनुष्य के अन्तर की अभिव्यक्ति होती है और इसी दृष्टि से मेरे लिये उसका स्थान है।" इन वाक्यों में गाँधी जी का भाव स्पष्ट है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे बाह्य की सम्पूर्ण उपेक्षा करते हैं। वे परिस्थितियों को यद्यपि गौण स्थान प्रदान करते हैं और उस अंतर की ही अभिव्यक्ति मानते हैं तथापि यह स्वीकार करते हैं कि बाह्य का मूल्य है, क्योंकि वह अन्तर के विकास में सहायक होता है इस प्रकार यदि परिस्थितियाँ मानव-हृदय से प्रभावित होती हैं तो मनुष्य का हृदय भी उनसे प्रभावित होता है।

सभ्यता, संस्कृति, समाज की व्यवस्था, मनुष्य का जीवन और

जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण जहाँ उसके अन्तर की ही भावाभिव्यक्ति है, वहीं यह बाह्य भी उसके अन्तर को प्रभावित करता रहता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि पहले परिस्थिति को ही बदलना आवश्यक है, तो भी प्रश्न यही उठता है कि उसमें परिवर्त्तन किया कैसे जाय? मनुष्य की चेतना और शक्ति ही तो उस परिवर्त्तन का साधन होगी। मानव का अन्तःस्थल जब सक्रिय और सचेष्ट हो उठता है और प्रस्तुत परिस्थिति को उलट-पुलट देने के लिये अग्रसर होता है, तभी अपेक्षित परिवर्त्तन की प्रक्रिया चरितार्थ होती है। फिर परिवर्त्तित परिस्थिति समाज के जीवन को प्रभावित करती है और मनुष्य को बदलती चलती है। फलतः मनुष्य पहले है या परिस्थिति, यह विवाद ही भ्रमजनक ज्ञात होता है। यह झगड़ा वैसे ही है जैसे कोई पूछे कि बीज पहले है या वृक्ष? इस प्रश्न का निपटारा न कभी हो सका है और न कभी हो सकता है। हमें यही मानकर आगे बढ़ना होगा कि दोनों साथ-साथ हैं। उनका सम्बन्ध परस्पर न केवल अन्योन्याश्रय है बल्कि अविच्छेद्य भी है। यदि यह सच है कि मनुष्य परिस्थिति की छाया है, तो उससे भी अधिक यह सच है कि परिस्थिति मनुष्य के अन्तर् का प्रतिबिम्ब है। हम यह मान लेने के लिए बाध्य हैं कि दोनों सत्य हैं। यथार्थ में परिवर्त्तन की प्रक्रिया दोनों को साथ लेकर ही परिचालित होती है, क्योंकि जो मनुष्य का परिवर्त्तन करने चलेगा वह परिस्थिति को प्रभावित करेगा और जो परिस्थिति को बदलने के लिये बढ़ेगा वह अनिवार्यतः मनुष्य को प्रभावित करेगा। भेद केवल कहने में है तथा एक की अपेक्षा दूसरे को अधिक प्रामुख्य प्रदान करने में है; यद्यपि परिणाम, वास्तविकता तथा व्यवहार की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता।

ऐसी स्थिति में गाँधी की दृष्टि में जहाँ एक ओर मनुष्य के अन्तर् को उद्दीप्त कर देना वांछनीय है, वहीं आधुनिक अवांछनीय परिस्थिति के

स्थान पर, मनुष्य के शुभांश से संभूत सद्भावों के आधार पर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना भी आवश्यक है, जो जगत् के सांस्कृतिक स्वरूप को ही बदल दे। यही कारण है कि हम गांधीजी की पद्धति को केवल मनुष्य को बदलने की चेष्टा तक ही परिमित होते नहीं देखते। उसकी गति और आगे बढ़ती है और उन समस्त परिस्थितियों का लोप करना चाहती है, जो मानव शुभांश की जागृत्ति में बाधक हैं अथवा उनकी उन्मुखता को कुण्ठित बना रही हैं। बापू कहते हैं कि जो बाह्य मनुष्य के अन्तर् की अनुभूति और विकास में बाधक है, वह न केवल मिथ्या है बल्कि फँसाने वाले जाल के समान है। आज मनुष्य की पशुता जागरित होकर यदि परिस्थिति को प्रभावित कर रही है, तो दुर्भाग्य से परिस्थितियाँ भी ऐसी उत्पन्न हो गयी हैं, जो उसकी पशुता को अधिकाधिक उत्तेजन प्रदान कर रही हैं। ऐसी स्थिति में गाँधी अहिंसा के आधार पर जहाँ एक ओर नव जगत् की रचना मानवता के कल्याण के लिये आवश्यक समझता है, वहीं दूसरी ओर अहिंसक पद्धति के द्वारा न केवल मनुष्य के सत्व को झंकृत कर देने की चेष्टा करता है, प्रत्युत अहिंसक ढंग से ही जगत् की आधुनिक व्यवस्था को उलटकर नई परिस्थिति उत्पन्न कर देने के लिये सचेष्ट है।

गाँधी की पद्धति की यही अभिनवता है। वह क्रान्ति चाहता है पर क्रान्ति ऐसी चाहता है, जो न केवल बाह्य का अपितु अन्तर् का भी; स्वतः मूल और आधार का भी परिवर्त्तन कर दे। इतना ही नहीं, क्रान्ति की प्रक्रिया को चरितार्थ करने की उसकी पद्धति तथा उसके साधन भी जगत् में हुई अब तक की समस्त क्रान्तियों से भिन्न हैं। उसी में गांधी अपने सम्पूर्ण और मौलिक विद्रोह की सफलता तथा सम्पादन की आशा करता है। वह उन विद्रोहों की सार्थकता में विश्वास नहीं करता जो अर्वाचीन जगत् के मूलभूत तत्त्वों को ग्रहण करके केवल बाह्य के आडम्बर में परिवर्त्तन करने के पक्षपाती हैं। यह सच है कि बापू का सन्देश इतिहास के लिये अज्ञात नहीं है।

जीवन के मर्म और जगत् के रहस्यों का पट उघाड़नेवाले महामानवों का अवतरण धरातल पर सदा होता रहा है। सत्य की खोज और पूजा में रत इन मुनियों और महापुरुषों ने साधना के फलस्वरूप जीवन की गुत्थियों को सुलझानेवाले तथ्यों को मनुष्य के सामने समय-समय पर उपस्थित किया है। उनकी अनुभूति ने विश्व की व्यवस्था में जिन सनातन सत्योंका साक्षात्कार किया वे मानव-समाज के लिये उज्ज्वल प्रकाश-स्तम्भ के रूप में स्थित हैं, जिसके आलोक में मनुष्य अपने जीवन की नैया को खेने की चेष्टा करके अभ्युदय की ओर बढ़ा है। बापू उनसे अधिक कुछ कहने का दावा कर ही कैसे सकता है। वह नम्रतापूर्वक केवल इतना ही कहता है "मैं यह दावा नहीं करता कि मैं अपनी पद्धति का जनक हूँ, पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि मैंने उसके स्वरूप का दर्शन कर लिया है। मेरे समान बनिया यदि ऋषि हो सकता है तो कह सकता हूँ कि मैं इस मन्त्र का द्रष्टामात्र हूँ। अपनी अनुभूति के द्वारा मैंने प्रत्यक्ष रूप से उसे उसी प्रकार देखा है जैसे अपने सामने लगे वृक्षों को देख रहा हूँ। भारत का उद्धार इसी पद्धति से होगा—यह मुझे दिखाई दे रहा है और आज देवगण भी मुझे अपने इस विश्वास से विरत नहीं कर सकते।" यह बापू की महत्ता है कि वह अपनी पद्धति के सम्बन्ध में अभिनवता का दावा पेश नहीं करता पर इसमें सन्देह नहीं हो सकता है कि आज की स्थिति से मनुष्य की समस्याओं के हल के लिये वह जिन तथ्यों की प्रतिष्ठा व्यापक रूप से करने पर तुला हुआ है और उन्हें कार्यान्वित करने के लिये जिस नई पद्धति की रूपरेखा चित्रित की है उसकी मिसाल जगत् की क्रान्तियों के इतिहास में नहीं निकलती।

अहिंसा की महिमा की अनुभूति मानव-समाज ने सहस्राब्दियों पूर्व से की है। युग-युग से जीवन की यात्रा में मनुष्य ने किसी न किसी प्रकार उसका आश्रय ग्रहण करने की चेष्टा की है। उसने यह भी अनुभव किया है कि उसके जीवन पर सहज ऐहिक वासनाओं का

गहरा प्रभाव है जिन्हें उच्छृङ्खल नर्तन करने देना उस हिंसा का प्रजनन करने के कारण होने देना है जो समाज को ही ले डूबेगी। फलतः वासनाओं की तृप्ति में भी उसने विवेक-पूर्ण संयम, सामञ्जस्य और संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न सदा किया है। समय-समय पर प्रतिभाशील विभूतियों ने जन्म ग्रहण करके उपर्युक्त नैतिक आदर्शों को न केवल उपस्थित किया है, प्रत्युत जीवन में उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करके समाज को वह उत्प्रेरण प्रदान की है जो शताब्दियों तक मानवता का पथ-प्रदर्शन करती रही है। बुद्ध ने पूर्व को, तो ईसा ने पश्चिम को अहिंसा, अपरिग्रह और नम्रता तथा उत्सर्ग की ही शिक्षा दी थी। भारत का दार्शनिक वायुमण्डल न केवल इस देश को वरन् इसकी भौगोलिक सीमा का अतिक्रमण करके पृथ्वी के विस्तृत भू-भाग के वायुमंडल को उपर्युक्त भावों से पूत करता रहा है। जीवन की समस्याओं का तात्विक विवेचन, अध्ययन और साक्षात्कार करने वाले मुनियों ने इन सत्यों को ग्रहण करने और उनका प्रतिपादन करके संतप्त मानवता को उचित पथ का निर्देश आज से न जाने कितने युग पूर्व ही कर डाला है। उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चल कर व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से मनुष्य ने अपने जीवन का धन्य बनाया है।

साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी जानता है कि जगत् के समस्त धर्मों ने अहिंसा, सत्य और संयम का उपदेश किया है। साक्षर ही नहीं, किन्तु निरक्षर मनुष्य भी समाज की परम्पराओं के अनुसार कुछ संस्कारों से प्रभावित है, जो उसके हृदय में सत्य और अहिंसा आदि के प्रति धार्मिक श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। ऐसी स्थिति में गाँधी आज यदि उन्हीं आदर्शों की पुनरावृत्ति कर रहा है तो निश्चय ही कोई नई बात नहीं कर रहा है। फिर यह पूछना असंगत न होगा कि उसे और उसके उपदेशों को इतना महत्त्व प्रदान करने की क्या आवश्यकता है? उसके सत्य और उसकी अहिंसा के संदेश में भला कौन सा नया तत्त्व है, जिसके फलस्वरूप आधुनिक मानव समाज

को नया प्रकाश मिल सकता है। इन आदर्शों से पूरी तरह परिचित होते हुए तथा उनकी महत्ता को जानते हुए भी मनुष्य आज वहाँ पहुँचा है जहाँ दिखाई पड़ रहा है। बड़े-बड़े ऋषि मुनियों, महात्माओं और अवतारों तथा पैगंबरों और देवदूतों के पवित्र उपदेशों और धर्मग्रन्थों के रहते हुए जगत् की आज वह स्थिति हुई है, जिसका दर्शन हम कर रहे हैं। यदि इन सिद्धान्तों के प्रचार और उपदेश मात्र से सारी समस्या हल होने वाली होती तो क्या अब तक कभी की हल न हो गयी होती? यदि उतने से ही जीवन तथा समाज की स्थापना उन आदर्शों की भित्ति पर करना सम्भव होता तो क्या वह उसी समय न हो गया होता, जब हजारों वर्ष पूर्व बुद्ध या ईसा ने उन्हें मनुष्य के सामने उपस्थित किया था। पर जो अब तक नहीं हुआ, जो मानव की मानस-कल्पना की ही वस्तु रही है, जिसका कोई सम्बन्ध जीवन की यथार्थता से नहीं रहा है, उसे पुनः सामने ला कर गाँधी आज भी समस्याओं का कौन सा हल उपस्थित कर रहा है? कैसे वह मनुष्य के नैसर्गिक स्वरूप को तथा उसके जीवन की धारा को बदल देना चाहता है? मान लिया जाय कि समाज और संस्कृति की प्रतिष्ठा अहिंसा के आधार पर ही करने में जगत् का कल्याण है। अहिंसा की वांच्छनीयता में संभवतः किसी को संदेह भी नहीं हो सकता, पर प्रश्न तो यह है कि इस लक्ष्य की पूर्त्ति क्या कभी संभव है? सदा से मानव क्या अपने सुखों की खोज में ही रत नहीं रहा है और इस प्रकार क्या प्रकृत्या स्वार्थी नहीं है? व्यक्ति का नैतिक विकास तो सम्भव है और यह भी सम्भव है कि वह अपने अहं को विश्व में लय कर दे, पर क्या कभी यह भी संभव है कि सामूहिक रूप से पूरा समाज इस प्रकार विकसित किया जा सके? क्या सामूहिक अहिंसा जागरित कर के समस्त सामाजिक संघटन का संस्थापन उसके आधार पर किया जाना संभव है? इतिहास के किसी युग में क्या कहीं इसका एक भी उदाहरण प्राप्त है? यदि नहीं तो आज यह असंभव कल्पना करने से क्या लाभ है?

ये प्रश्न गम्भीर हैं जिनकी उपेक्षा करना संभव नहीं है। बापू स्वयं उनकी उपेक्षा नहीं करता और न इन आशंकाओं को निर्मूल ही मानता है। यही कारण है कि रेखा खींच कर वह अपनी बातों के नैश्चित्य का दावा नहीं करता। बड़े-बड़े सिद्धान्त प्रवर्तकों या विभिन्न प्रकार के 'वादों' के जनकों की भाँति न तो वह यह कहता है कि उसीकी बात एकमात्र सत्य है और न अपने को कुछ निश्चित वाक्यों के शब्दजाल में बाँधता है। इसके विपरीत वह विनम्रता के साथ अपने क्रिया-कलाप को सत्य के अनुशीलन के लिये प्रयोग का नाम देता है। स्पष्ट है कि प्रयोगावस्था में कोई बात अन्तिम रूप से नहीं कही जा सकती। अन्तिमनिर्णय तो प्रयोग से उद्भूत परिणाम पर निर्भर करता है। विज्ञान की यही पद्धति है। वैज्ञानिक पहले पदार्थ अथवा घटना का सूक्ष्म प्रेक्षण करता है, प्रेक्षण के द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर प्रयोग और अन्त में प्रयोगोद्भूत परिणाम के द्वारा सत्य का उद्घोषण। गाँधी इसी प्रकार अहिंसा के प्रयोग के लिये वैज्ञानिक पद्धति ग्रहण करता है। वह सीधे-सीधे जीवन को उस प्रयोग के लिये अपने प्रेक्षण का आधार बनाता है। जीवन-दर्शन से उसे जो प्रतिभासित होता है उसी को ग्रहण करके प्रयोग-पथ पर आरूढ़ होता है और सत्य तक पहुँचना चाहता है। मनुष्य-समाज कभी पूर्ण अहिंसक हो सकेगा या नहीं, व्यक्ति का नैतिक विकास जिस प्रकार सम्भव है उसी प्रकार समाज का भी है अथवा नहीं, समाज संस्कृति और जीवन की आधुनिक धारा को मोड़कर उसे अहिंसोन्मुख करना व्यावहारिक है अथवा नहीं आदि प्रश्नों का अन्तिम उत्तर तो उस प्रयोग के बाद ही मिल सकता है जिसमें गाँधी आज रत है। मानव-जीवन के दर्शन से उसके सम्मुख कुछ आधारभूत बातें अवश्य स्पष्ट हो गयी हैं, जो उसकी दृष्टि में अहिंसा का प्रयोग करने के लिये समुचित कारण ज्ञात होती हैं।

वे आधार भूत बातें क्या हैं? स्थूल रूप से कह सकते हैं कि

गाँधी यह देखता है कि जीवन में सत्य और अहिंसा निश्चित रूप से प्रतिष्ठित है। दूसरी ओर वह यह भी देखता है कि जीवनके विधान में असत्य और हिंसा का यद्यपि अस्तित्व है तथापि उनकी कोई स्वतंत्र और ऐकान्तिक सत्ता नहीं है। वह देखता है कि असत्य की प्रतिष्ठा अपने आप हो ही नहीं सकती; क्योंकि उसे किसी न किसी सत्य के आधार पर ही खड़ा होना होता है। आकाश-कुसुम असत्य है पर आकाश और कुसुम दोनों सत्य हैं जिनके आधार पर ही असत्य कल्पना-संभव होती है। फलतः असत्य परवश दिखाई देता है, क्योंकि उसे सत्य का सहारा लेकर सत्याभास का रूप ग्रहण करना पड़ता है। वह देखता है कि जीवन में असत्याचरण है, पर उसके लिये भी एक सीमा तक सत्य का आधार ग्रहण करना अनिवार्य होता है। चोर और गिरहकट जगत् का प्रवञ्चन करते हैं, पर अपने गुट में परस्पर का सम्बन्ध यदि सचाई और ईमानदारी पर स्थापित न करें तो एक क्षण भी काम नहीं कर सकते। विचार करके देखिए तो स्पष्ट ज्ञान हो जायगा कि कोई भी कार्य चाहे कितना भी स्वार्थपूर्ण क्यों न हो उसे करनेवाले किसी न किसी रूप में सत्य का आधार ग्रहण करने को बाध्य होते हैं। पर असत्य को अपनी प्रतिष्टा के लिये जहाँ सत्य का सहारा लेना पड़ता है, वहाँ सत्य को असत्य की अथवा किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार हिंसा की भी सफल प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। स्मरण रखने की बात है कि गांधी जी सत्य और अहिंसा को पर्यायवाची समझते हैं। वह देखते हैं कि हिंसात्मक कार्य करते हुए मनुष्य प्रकृत्या अपनी हिंसा का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा करता है और बहुधा किसी न किसी नैतिक कारण को उपस्थित करने का प्रबल प्रयास करता है। इसे यदि छोड़ दें तो भी हम देखते हैं कि हिंसा की सफलता के लिये अथवा हिंसात्मक संघटन की दृढ़ता और शक्ति के लिये एक सीमातक अहिंसा का आधार ही ढूँढ़ा जाता है। किसी देश या राष्ट्र या समूह में हिंसात्मक संघटन

का बल उसके अहिंसात्मक संघटन की शक्ति पर निर्भर करता है। जिस देश के लोग जितने ही अधिक एक सूत्र में आबद्ध होंगे, पारस्परिक स्नेहबन्धन में जितने ही अधिक जकड़े होंगे तथा अहं के ममत्व और स्वार्थ को समुदाय के हित में जिस सीमा तक विसर्जन करने को तत्पर होंगे उतने ही अधिक वे सुव्यवस्थित, सुसंघटित और सुदृढ़ हो सकेंगे। उनकी इस सुव्यवस्था, सुसंघटन और राष्ट्रीय अथवा सामुदायिक दृढ़ता पर ही उनके हिंसात्मक संघटन की शक्ति आश्रित होती है। यह सम्भव नहीं है कि पारस्परिक कलह और विवाद तथा हिंसा और गृह-युद्ध के रहते कोई देश या समूह किसी शत्रु का सामना शस्त्र उठा कर भी कर सके।

क्या इससे यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि हिंसा के लिये भी अहिंसा का आधार लेना अनिवार्य होता है। प्रचण्ड हिंसात्मक सैनिक सघटन भी बिना अहिंसा का आधार ग्रहण किए असम्भव होगा। यद्यपि सेना का संघटन किया जाता है हिंसा के द्वारा, हिंसाका प्रतिरोध करने के लिये, अथवा किसी के मस्तक पर अपनी हिंसात्मकशक्ति की सत्ता स्थापित कर देने लिये, तथापि सैनिक यदि परस्पर एकात्मक न हों, अपने जीवन में नियन्त्रण, बन्धुत्व और पारस्परिक स्नेह का परिचय न दें तो उसका संघटन एक क्षण के लिये भी टिक न सकेगा। कोई भी सेना चाहे कितनी भी बलवती क्यों न हो यदि विशुद्ध हिंसा में ही विश्वास रखती हो तो इसके पूर्व कि शत्रु का सामना कर सके पारस्परिक रक्तपात और युद्ध के द्वारा निश्चय ही अपना सर्वनाश कर डालेगी। इसके सिवा किसी देश की सेना का संघटन उस देश की जनसंख्या का एक अति अकिंचन भाग ही होता है। आवश्यकता पड़ने पर यह सेना युद्धस्थल में संग्राम करती है, पर विचार करके देखिए कि इस हिंसात्मक संग्राम की सफलता के लिये देश का अत्यधिक असैनिक वर्ग क्या अहिंसक आदर्शों का अवलम्बन नहीं करता? असैनिक समाज संग्राम के सफल सञ्चालन के लिये स्वयं कष्ट-सहन करता

विस्मृति और दूसरे का होगा विनाश। इसे सिद्ध करने के लिये अधिक आयास की आवश्यकता नहीं। मानव-जगत् आज उसी ओर उन्मुख होकर अपने अपेक्षित मार्ग से विपथ हो गया है; फलतः धरातल निर्दलित और मानवता त्रस्त है। जिधर देखिए मिथ्यात्व और पशुता, दोहन और उत्पीड़न, स्वार्थ और प्रवञ्चन दिखाई दे रहा है। जीवन को उसके दोनों रूपों में देख कर गाँधी आज उपर्युक्त उन तत्त्वों को ग्रहण करके प्रयोगशील हुआ है जिनके विकास और उद्बोधन से वह अभीष्ट सिद्ध होने की आशा करता है। वह इस आशा को लेकर प्रयोगरत है कि जीवन में सत्य और अहिंसा का उत्तरोत्तर समावेश और उनका क्रमिक विकास सम्भव है, क्योंकि ये स्वतन्त्र रूप से उसमें प्रतिष्ठित हैं जिनका आश्रय ग्रहण किए बिना असत्य और हिंसा भी खड़ी नहीं हो पाती। हिंसा जगत् को जहाँ ले गयी है और आज भी लिए जा रही है वह तो स्पष्ट है, पर अहिंसा के प्रयोग पर निर्णय प्रदान करना और यह देखना कि उसका परिणाम क्या निकलता है भविष्यत् के हाथ में है। आज तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गाँधी ने जिस प्रयोग का आरम्भ किया है उसे करने के लिये उसके संमुख समुचित, आधार और सबल कारण समुपस्थित है और यदि प्रयोग सफल हुआ तो उससे मानवता के कल्याण की आशा की जा सकती है।

जो यह पूछते हैं कि मनुष्य की प्रकृति को क्या परिवर्तित कर देना सम्भव है, क्या मानव को निःस्वार्थी बनाया जा सकता है, क्या व्यक्ति की भाँति समुदाय को अहिंसक बनाना सम्भव है, उन्हें गान्धी द्वारा की गयी जीवन की उपर्युक्त विवेचना से ही उत्तर मिल जायगा। जीवन की ओर भ्रान्तिपूर्ण दृष्टि डालने से ही ये प्रश्न उठ खड़े होते हैं। गाँधी को मनुष्य की प्रकृति में अहिंसा की प्रवृत्ति निसर्गतः दिखाई देती है। यदि हिंसा अन्तर्निहित है, तो अहिंसा भी मूलरूप से प्रतिष्ठित है, जिसका आधार ग्रहण करके ही हिंसा भी जीवित रहती

है। यदि असत्य की ओर उसका झुकाव होता है तो वह सत्य की ओर भी आकृष्ट होता है, जिसका आधार ग्रहण करके ही असत्य खड़ा हो पाता है। यदि मनुष्य स्वार्थ की पूजा में रत होता है तो सामुदायिक हित के लिये उसका त्याग करना भी दिखाई देता है और बहुधा अपने तक को उत्सर्ग कर देता है। फलतः मनुष्य की प्रकृति को परिवर्तित करके उसे कोई नया रूप प्रदान करने या उसे निःस्वार्थी बनाने की न कोई समस्या उठती है और न कोई प्रश्न ही उपस्थित होता है। हम स्पष्टतः देख सकते हैं कि जहाँ एक प्रवृत्ति जागरित होती है और जागरित होती रही है, वहीं दूसरी भी जागरित हो सकती है और जागरित होती रही है; क्योंकि उसी के सहारे मानवता की, मानव संस्कृति की उन्नति, प्रगति और विकास होता रहा है। इस स्थिति में प्रश्न परिवर्तन का नहीं, प्रत्युत जीवन की दूसरी प्रवृत्ति के जागरण और उसके उन्मेषमात्र का है।

व्यक्ति की भाँति समाज का भौतिक विकास सम्भव है या नहीं यह प्रश्न अधिक महत्व नहीं रखता। सिद्धान्ततः व्यक्ति ही वह उपादान है जिससे समाज की रचना होती है। यदि व्यक्ति जागरित हो जाय तो समाज का जागरण अनिवार्य है। ऐसा जागरण क्या इतिहास की वस्तु नहीं है? व्यक्ति ने जिस क्षण परिवार की कल्पना की उसी मुहूर्त में उसने अपने अहं, अपनी लिप्सा का 'पर' के साथ सामंजस्य स्थापित कर लिया। परिवारों ने मिलकर वर्गों को, वर्गों ने समाज को और समाज ने जब देश के राष्ट्रीय जीवन को रूप प्रदान करके उसकी निश्चित रेखा चित्रित की तो क्या व्यक्ति का समूह में और समूह का व्यक्ति में बड़ी सीमा तक मिलन और विलय नहीं हो गया? क्या इसे व्यक्ति के साथ-साथ समाज का नैतिक विकास नहीं कह सकते? प्रत्येक ने जब अपनी स्वतन्त्रता की अक्षुण्णता को सङ्कुचित किया, जब प्रत्येक ने अपने ऊपर सामुदायिक कर्त्तव्य की पूर्ति का बोझ और बन्धन स्वीकार

किया, जब प्रत्येक ने समुदाय के स्वार्थ और हित में अपने स्वार्थ और हित को सीमाबद्ध कर डाला तभी समाज का अथवा राष्ट्र का निर्माण सम्भव हुआ। जब मानव-प्रकृति में यह प्रवृत्ति सहज रूप से विद्यमान है तो व्यक्ति की भाँति समाज के नैतिक विकास की सम्भावना में सन्देह क्यों किया जाय? विशुद्ध अहिंसा के आधार पर अहिंसक समाज और सभ्यता का निर्माण यद्यपि इतिहास के पृष्ठों में नहीं मिलता, पर इसी कारण उसकी सम्भावना को पूर्णतः अस्वीकार कर देना भी उचित, बुद्धि-सम्मत और तर्क-सङ्गत प्रतीत नहीं होता। इतिहास अहिंसक-समाज का उदाहरण भले ही उपस्थित न कर सकता हो, पर वह इतना अवश्य सिद्ध करता है कि मनुष्य ने हिंसात्मक प्रवृत्ति की सीमा को परिसीमित करने तथा उसका संयम करने का प्रयास युग-युग से किया है। अहिंसा की उपादेयता, वांछनीयता, पवित्रता और सत्यता की झलक का अनुभव उसने अति आरम्भिक काल से किया है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य का विकास न हुआ होता। यह सच है कि समय-समय पर उसकी हिंसावृत्ति ने उसे मानवेतर प्राणी से भी निकृष्ट बना डाला है। जब कभी यह वृद्धि को प्राप्त हुई है तो वह स्वजात शत्रुत्व की प्रचण्ड दावाग्नि दहकाकर मनुष्य की विकास-यात्रा कुण्ठित करने में और उसके इतिहास के पृष्ठों को जघन्यता प्रदान करने में समर्थ हुई है। पर यह सब करते हुए भी हिंसा को केवल हिंसा के लिये जीवन के आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित करने से उसने सहस्राब्दियों पूर्व ही मुख मोड़ लिया था। जैसे-जैसे वह विकास की यात्रा में बढ़ता गया वैसे-वैसे अहिंसा के प्रभाव को हिंसा करते हुए भी स्वीकार करता गया है। बहुधा अहिंसक उद्देश्यों के लिये, शान्ति और सुव्यवस्था के नाम पर, समाज के कल्याण और न्याय के नाम पर ही हिंसा की जाती रही है। जीवन में भी मनुष्य संवेदन-शीलता, सहानुभूति और सहायतावृत्ति को अधिकाधिक ग्रहण करके तथा हिंसा पर अधिकाधिक नियन्त्रण स्थापित करने

की चेष्टा करते हुए आगे बढ़ा है और इसीके फलस्वरूप संस्कृतियों को जन्मप्रदान कर सका है।

इतिहास की इस प्रवृत्ति की उपेक्षा करना मानव-समाज के इतिहास की मूलधारा का तिरस्कार करना है। इस प्रवाह के रहते समाज को अहिंसक बनाने का प्रयोग क्या पागलपन कहा जा सकता है? यदि जगत् की सारी सत्ता विकासशील है और यदि मानव-समाज भी उसका अपवाद नहीं है तो समाज का विकसित होना अवश्यम्भावी है। इतिहास यदि मनुष्य के क्रमिक विकास का द्योतक है तो मानना होगा कि आज वह जिस सोपान पर है, उससे उच्चतर स्तरपर कल पहुँचना न केवल सम्भव है, प्रत्युत प्रकृति का विधान है। यदि इतिहास अहिंसक समाज का उदाहरण उपस्थित नहीं करता और यदि बड़े-बड़े मनीषियों तथा पैगम्बरों द्वारा इस दिशा में किए गये प्रयत्नों की सफलता सर्वांश में प्रदर्शित नहीं करता तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि उनका प्रयास ही अनुचित दिशा में था अथवा उसकी सफलता कभी सम्भव है ही नहीं। इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि मानवता की शोभा, सिकन्दर और चङ्गेज खाँ, तैमूर और नैपोलियन, हिटलर या मुसोलिनी के रक्तलिप्सु हृदय अथवा उनके खड्गों की लपलपाती भयावनी जिह्वा में नहीं है; प्रत्युत उन असफल महामानवों में है, जिनकी परम्परा बुद्ध और ईसा में, शङ्कर और गाँधी में, आइनस्टाइन और रवीन्द्र में मूर्त हुई दिखाई देती है। मनुष्यता इन्हीं के रक्त से अभिषिक्त होकर पल्लवित होती रही है और आज इन्हीं पर उसे गर्व होता है। यदि ये सफल नहीं होते तो उसका एकमात्र अर्थ यही है कि विकास-पथ का पथिक काल-विशेष में जिस स्तर पर था या है, उससे उसे बढ़ना था अथवा बढ़ना है और बढ़ते-बढ़ते उस बिन्दु तक पहुँचना है जो उसका निर्धारित लक्ष्य है।

याद रखने की बात है कि जगत् स्थिर नहीं रह सकता क्योंकि

गति उसका धर्म है। यदि प्रगति न होगी तो अधोगति होगी, जिसका अर्थ होगा पथ से प्रत्यावर्तन जो मनुष्य को उसी ओर ले जायेगा जहाँ से वह एक दिन आगे की ओर बढ़ा था। आज जब धरित्री के ऊपर उसके नभच्छत्र की विस्तृत छाया, क्रूर हिंसा की भयावनी कालिमा से ओत-प्रोत होकर मानवता के लिये घोर काल-रात्रि का दृश्य उपस्थित कर रही है, उस समय पथ के शोध में बापू का प्रयोग प्रभातप्रभा के रूप में पूर्व के अन्तरिक्ष पर अभियान करता दिखाई दे रहा है। वह प्रयोग अहिंसा के द्वारा सत्य को आधार बना कर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की समस्याओं को हल करने के लिये हो रहा है, जिसके फलस्वरूप अहिंसा की नींव पर ही जीवन, समाज और भावी जगत् की रचना सम्भव हो सके। बापू के इस महाप्रयोग की विशेषता एक और बात में है। साध्यतक पहुँचने के लिये उपयुक्त साधन के उचित चयन में वह अब तक की उन तमाम प्रयोग-पद्धतियों से भिन्नता रखता है जिनका परिचालन भूत में हो चुका है अथवा आज हो रहा है। गाँधी की विशेषता यह है कि वह साध्य के साथ-साथ साधन पर भी समान रूप से ध्यान देता है। या यों कह सकते हैं कि वह न केवल साधन को प्रमुख स्थान देता है प्रत्युत उसकी दृष्टि में साध्य और साधन परस्पर पर्याय के रूप में हैं, जिनमें किसी प्रकार की भेद-बुद्धि उचित नहीं है। वह यह मानता है कि साध्य चाहे कितना भी पवित्र क्यों न हो, उसकी सम्पूर्ण सिद्धि तभी संभव है जब उसकी उपलब्धि के लिये तदनुकूल उचित और पवित्र साधन का अवलम्बन किया जाय।

वह इस धारणा को ही भ्रान्त समझता है कि साध्य यदि पवित्र है तो साधन चाहे कैसा भी क्यों न हो, ग्राह्य है। वह उन लोगों से सहमत नहीं है जो लक्ष्य की पावनता में ही साधन का औचित्य देखते हैं और यह समझते हैं कि अहिंसा तथा सत्य की प्रतिष्ठा के लिये अथवा शान्ति की स्थापना और न्याय की

रक्षा के लिए हिंसा, अशान्ति और असत्य का आश्रय ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। बापू इस मत को विनाशक और विघातक मानता है। उसका तर्क सीधा, सरल, किन्तु सूक्ष्म है। उन्नति, उत्कर्ष और कल्याण के लिये पतन तथा अकल्याण का मार्ग ग्रहण करके क्या कभी सफलता प्राप्त की जा सकती है? हिंसा के द्वारा जिस अहिंसा और शान्ति की स्थापना हुई दिखाई देती, वह और चाहे जो हो, पर सच्ची शान्ति और सच्ची अहिंसा तो नहीं ही होती। गाँधी कहता है कि हिंसा से मिला स्वराज्य हमें नहीं चाहिए, क्योंकि वह समझता है कि ऐसा स्वराज्य स्वराज्य न होकर पशुबल पर स्थापित राज्य होगा जो व्यापक जन-समाज की स्वतन्त्रता का निर्दलन अनिवार्यतः करेगा और पशुबल के द्वारा प्राप्त अधिकार-सत्ता पशुबलके द्वारा ही अपनी रक्षा करनेमें संलग्न होगी। इसी कारण पाशवभावाछन्न धरणी पर मानवता के प्रकाश-विस्तार के लिये गाँधी मानवीय साधन को ग्रहण करना चाहता है। जगत् से दोहन और दलन तथा अन्याय मिटाने के लिये यदि आवश्यक है कि मनुष्य की हिंसा-प्रवृत्ति और उस पर स्थापित व्यवस्था तथा संस्कृति को परिवर्तित कर दिया जाय और यदि यह सत्य है कि अहिंसा के अधिकाधिक समावेश से ही मानव-समाज का कल्याण सम्भव है, तो स्पष्ट है कि उसकी स्थापना के लिये अहिंसक-साधनों का प्रयोग करना ही एकमात्र उपयुक्त तथा उचित मार्ग हो सकता है। बापू की प्रयोग-पद्धति इसी मौलिक दृष्टि को लेकर परिचालित होती है। जगत् में अब तक जितने प्रयोग हुए हैं अथवा हो रहे हैं, हिंसात्मक ही हैं। शान्ति और न्याय, सत्य और समानता तथा स्वतन्त्रता की स्थापना को यद्यपि लक्ष्य निर्धारित किया गया, पर उसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य अशान्ति और हिंसा का ही मार्ग पकड़ता रहा है। पर आज इतिहास जो बात सिद्ध करता है, वह हिंसात्मक-प्रयोगों की असन्दिग्ध असफलता के सिवा और कुछ नहीं है। शान्ति और सभ्यता तथा न्याय और स्वतन्त्रता के नाम पर मनुष्य ने न जाने कितनी बार

मानव-रक्त का तर्पण किया है; पर क्या उसे कभी सफलता प्राप्त हुई ? एक अन्याय को मिटाने के लिए दूसरे अनेक अन्याय किए गए, मनुष्य-जीवन की पवित्रता की अवहेलना की गयी और सिद्धान्तों के नाम पर पशुता को न जाने कितना उत्तेजन प्रदान किया गया; पर इन सबका परिणाम क्या एक अन्याय को मिटाकर दूसरे की स्थापना में ही व्यक्त नहीं हुआ ? फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने जिस निरंकुश राज-सत्ता का संहार किया और जिस भयानक विघटन का प्रवर्तन किया उसके गर्भ से क्या स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व का प्रजनन हुआ ? इतिहास साक्षी है कि फ्रांसीसी क्रान्ति ने ऐसी "आतङ्कपूर्ण सत्ता" का प्रजनन किया जिसकी कहानी आज भी रोएँ खड़ी कर देती है।

स्वच्छन्द, भ्रष्ट और निकम्मी जारशाही का सत्यानाश सर्वथा अपेक्षित और उचित था, पर बोलशेविक क्रान्ति ने रूस में जिस विधि और विधान का प्रवर्तन किया है तथा जिस पद्धति का परिचालन किया वह वर्गहीन समाजवादी समाज अथवा लेनिन के शब्दों में "स्वतन्त्र, समान तथा शिष्ट" समुदाय की स्थापना करने में समर्थ नहीं हुई। जब हम महान् क्रान्तिकारियों के तथा महती क्रान्तियों के आदरणीय नेताओं पर दृष्टिपात करते हैं तो यह पाते हैं कि डीवेलरा हों या कमालपाशा, लेनिन हों या स्टालिन, इनके हाथ अपने साथियों के रक्त से रञ्जित हैं। क्या हिंसा के द्वारा हिंसा का प्रतिरोध और प्रतिशोध करके मनुष्य ने उत्कृष्टतर हिंसा का सर्जन नहीं कर डाला ? विचार करके देखिए कि हिंसा का निराकरण करने के लिये उग्रतम हिंसा का आश्रय ग्रहण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की जाती रही है। ऐसी स्थिति में कहाँ मिल सकती थी शान्ति और कहाँ स्थापित हो सकता था न्याय ? शस्त्र के बल पर ही वारसेई की सन्धि चरितार्थ हुई और उसी शस्त्र के बल पर विजयी राष्ट्रों ने अपनी स्वार्थपरता की रक्षा की। जर्मनी की, उदार "वीमर रिपब्लिक" के नाम से विख्यात सरकार, जिसका संघटन गत युद्ध के उपरान्त जर्मनी में

हुआ था, वारसेई सन्धि की कतिपय अन्यायमूलकधारा को संशोधित करने की प्रार्थना करते हुए मर मिटी, पर विजय में उन्मत्त हुए राष्ट्रों के कान पर जूँ भी न रेंगी। यदि उन महाशक्तियों ने दूरदर्शिता से काम लिया होता तो कदाचित् जगत् का इतिहास दूसरा हुआ होता। परन्तु शस्त्र-बल से प्रमत्त और हिंसा के पुजारियों के लिये यह सम्भव ही न था। परिणामतः उनकी हिंसा ने हिटलर के रूप में अपनी प्रतिक्रिया को मूर्त्त रूप प्रदान किया और उसी वारसेई सन्धि की अनेक धाराएँ उस समय मिटती दिखाई पड़ीं जब हिटलर ने शस्त्र द्वारा उन्हें मिटा डाला। ये घटनाएँ क्या हिंसा की असफलता पर प्रकाश नहीं डाल रही हैं?

यूरोप के विचारक सम्प्रति अपनी दुनियाँ से त्रस्त हैं और उसके परिवर्त्तन के लिये सचेष्ट हैं, पर क्या कारण है कि उन्हें अब तक सफलता न मिली? उनकी असफलता के अनेक कारणों में एक प्रबल और मुख्य कारण यही है कि अपनी लक्ष्य की सिद्धि के लिये अब तक उचित पथ की प्राप्ति करने में वे समर्थ नहीं हुए। मनुष्य की पशुता का निराकरण तो दूर रहा उसे और अधिक उत्तेजित करके मानवता की स्थापना की आशा करना वह प्रचण्ड प्रवचन है, जिसे सिद्ध करने के लिये किसी तर्क की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। फलतः गाँधी साध्य की अपेक्षा आज साधन पर ही अधिक ध्यान देने की धारणा लेकर सामने उपस्थित हुआ है। वह कहता है कि पथ सही और उचित होगा तो आँखें मूँद कर भी मनुष्य गंतव्य स्थान तक पहुँच जायगा। पर्वत के शिखर तक पहुँचने के लिये यदि आप उपत्यका की ओर अभिमुख होकर बढ़ें तो त्रिकाल में भी अपने स्थान तक न पहुँच सकेंगे। शान्ति और अहिंसा की स्थापना अशान्ति और हिंसा से कदापि सम्भव नहीं है। अहिंसक लक्ष्य की प्राप्ति अहिंसक उपायों के अवलम्बन और अनुगमन से ही सम्भव हो सकती है। फलतः ऐसे समय जब उत्तरोत्तर यह बात प्रकट होती जा रही है कि हिंसा और

पशुता के गर्भ से अहिंसा और मानवता का उद्‌भव नहीं हो सकता और जब यह सिद्ध हो गया है कि हिंसात्मक-प्रयोग सर्वांश में उस लक्ष्य की सिद्धि करने में समर्थ नहीं होते, जिनके लिये उनका प्रयोग किया जाता है, तो किसी दूसरे प्रकार की प्रयोग-पद्धति की आवश्यकता कौन अस्वीकार कर सकता है ?

बापू आज उसी नवीन दिशा का संकेत है जिसने मानवता के संमुख नई प्रणाली और पद्धति उपस्थित की है। हिंसा से उत्पीड़ित मनुष्य के संमुख अब तक दो ही परिपाटियाँ रही हैं। हिंसा का प्रतिरोध या तो हिंसा से करना अथवा बलशील सत्ता के सामने आत्मा समर्पण कर देना। हम देख रहे हैं कि इन दोनों में से किसी के द्वारा समस्या हल न हो सकी। हिंसा का प्रतिरोध हिंसा के द्वारा करने में दो प्रकार के खतरे स्पष्ट हैं। पहला तो यही कि प्रतिरोधी की हिंसा प्रतिरोध्य की हिंसा से यदि बलवती न हुई तो न केवल असफलता निश्चित है वरन् पिस कर मिट जाने की संभावना भी सामने खड़ी रहती है। दूसरा खतरा यह है कि हिंसा का आश्रय ग्रहण करने से एक हिंसा भले ही मिट जाय पर दूसरी का आविर्भाव हो जाता है जिसके फलस्वरूप उस लक्ष्य की सिद्धि वस्तुतः हो नहीं पाती जिसे प्राप्त करने के लिये उसका आश्रय ग्रहण किया जाता है। हिंसा के सामने मस्तक झुका देने की परिपाटी तो उस समय ग्रहण की जाती है जब उसका मुकाबिला करने की हिंसात्मिका शक्ति का अभाव अनुभूत होता है। इस नीति की जघन्यता पर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। वह तो ऐसा घोर पाप है, जो न केवल हिंसक और दलित दोनों के पतन तथा विनाश का कारण होता है, अपितु उस नैतिक आधार का ही विलोप कर देता है जिस पर स्थित होने में ही मानवता की शोभा है। मनुष्य-समाज ने समय-समय पर हिंसा तथा अन्याय के संमुख उपर्युक्त दो में से किसी एक परिपाटी का ही अवलम्बन किया है। आज गाँधी की प्रयोग-पद्धति एक तीसरा प्रकार लेकर उपस्थित

होती है, जो न तो हिंसा का प्रतिरोध हिंसा के द्वारा करती है और न हिंसा के संमुख घुटने टेकती है। वह इन दोनों के विपरीत, जगत् के समस्त पशुबल के विरुद्ध ऐसे प्रचण्ड प्रतिरोध की सजीव प्रतिमा के रूप में अवतरित होती है, जिसका मस्तक झुका देने में विश्व की सारी बलशील सत्ताएँ भी समर्थ नहीं हो सकतीं। वह पद्धति हिंसा को मिटा कर अहिंसा की स्थापना करने की ओर बढ़ती है। विद्रोहिणी होते हुए भी वह रक्तलिप्ता नहीं है और शान्त होते हुए भी निष्क्रिय नहीं है।

अहिंसा का विद्रोहात्मक स्वरूप

अबतक इतिहास के किसी युग में यह नहीं मिलता कि किसी महा-पुरुष ने क्रान्ति की कल्पना ऐसी की हो जिसमें हिंसा का समावेश न रहा हो। गाँधी ही वह महापुरुष है जिसने अहिंसा को शस्त्र का रूप प्रदान करने का महाप्रयास आरम्भ किया है। पूर्व के पृष्ठों में कहा जा चुका है कि वह ऐसी क्रान्ति की अपेक्षा करता है जो वर्तमान जगत् के न केवल समस्त बाह्य आडम्बर और व्यवस्था को बदल दे, प्रत्युत जीवन और संस्कृति की मूलधारा को भी दूसरी दिशा की ओर मोड़ दे। गाँधी वस्तुतः केवल क्रान्ति ही नहीं चाहता अपितु वह उत्क्रान्ति का पूजक है। वह मनुष्य-समाज को विकास के उस सोपान से, जिस पर आज वह स्थित है, खींच कर उच्चतर स्तर पर ले जाने के लिये सचेष्ट है। जगत् से हिंसा और अन्याय का, अनीति और शोषण का, पशुता और अत्याचार का नाम-निशान मिटा कर मुक्त मानवता की अक्षुण्ण सत्ता स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है। ऐसी महती क्रान्ति की सफलता अहिंसा के द्वारा प्राप्त करने की कल्पना संभवतः उपहास्य ज्ञात होती है। मानव-समाज ने अब तक जिन अनुभूत उपायों को उपस्थित किया है, उनसे सर्वथा भिन्न तथा विपरीत उपाय यदि उप-हास्य दिखाई दें तो आश्चर्य क्या है?

पर यही गाँधी की विशेषता है कि आज उसने अहिंसा को नए रूप और नए कलेवर में जगत् के सामने उपस्थित किया है। उसकी अहिंसा का स्वरूप पलायन नहीं, प्रतिरोध है। वह अहिंसा का प्रयोग अनैतिकता के विरुद्ध नैतिकता के, अमानवता के विरुद्ध मानवता के, अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध न्याय तथा निर्भयता के प्रबलतम विद्रोह के रूप में करने के लिये अग्रसर हुआ है। मानव-जीवन के लिये

अहिंसा का आदर्श न तो नया है और न उसकी पवित्रता तथा महत्ता में किसी को सन्देह हो सकता है, पर अहिंसा को इस रूप में सामने लाने की चेष्टा कदाचित् इतिहास की अभिनव घटना है। अहिंसा को जीवन के तत्त्व के रूप में देखनेवाले कतिपय मुनियों और महामानवों से गाँधी इसी कारण भिन्न है। वे अशुभ और अशिव से, अपावन और अनीति से दूर भागने का उपदेश करते थे। उनकी अहिंसा में विशुद्ध निष्क्रियता का समावेश था। पर गाँधी निवृत्ति-मार्गी निष्क्रिय सन्तों के समाज की रचना करना अपना लक्ष्य नहीं समझता।

बापू अहिंसा की कल्पना शक्ति के रूप में करता है। वह उसे वही स्थान प्रदान करना सम्भव समझता है जो हिंसात्मक शक्ति को प्राप्त है। अधिकार और न्याय, औचित्य तथा सत्य की रक्षा और स्थापना के लिये तथा अन्याय और अधिकारापहरण का प्रतिरोध करने के लिये यदि अबतक हिंसा का प्रयोग होता रहा है और उसके द्वारा सर्वांश में नहीं तो अर्धांश या अंशांश में यदि मानव-समाज सफलता प्राप्त करता रहा है, तो गाँधी उसके स्थान पर अहिंसा की प्रतिष्ठा करना वांछ-नीय समझता है; क्योंकि उसकी दृष्टि में अहिंसा उपर्युक्त लक्ष्य की सिद्धि में हिंसा की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, अधिक उपयुक्त, अधिक सार्थक तथा अधिक प्रभावकर और शक्तिमती दिखाई देती है। अहिंसा के सम्बन्ध में गाँधी की इस मौलिक और सूक्ष्म दृष्टि को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में व्यापक भ्रान्ति फैली हुई है, जिसके फलस्वरूप लोग साधारणतः गाँधी के अहिंसा-सिद्धान्त को समझ नहीं पाते। कोई यह समझता है कि गाँधी किसी भी दशा में सशस्त्र प्रतिकार को अनैतिक मानता है अतः उसके त्याग पर जान देता है। कोई यह समझता है कि असहाय के लिये अहिंसा के सिवा दूसरा मार्ग न देखकर गाँधी अहिंसा को ग्रहण करते हैं। किसी की समझ में अहिंसा के अवलम्बन का अर्थ दब्बूपन की प्रवृत्ति है जिसमें खतरा उठाने के साहस का अभाव है। कुछ लोग यह भी समझते हैं

कि गाँधीजी की अहिंसा का अर्थ अन्याय और अत्याचार को अप्रतिरोध-भाव से सहन कर लेना है। गाँधी हिंसा का विरोधी इसलिये नहीं है कि वह उसे सदा, सब काल में, सारी परिस्थितियों में, अनैतिक ही समझता है। ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जब हिंसा करना सहज ही नैतिक और उचित हो सकता है। जीव-हिंसा की आवश्यकता समाज को सदा से पड़ती रही है। यह जरूरी नहीं है कि यह हिंसा केवल हिंसा के लिये ही की जाती रही हो।

बहुधा-जीवन रक्षा के लिये भी जीव-हिंसा आवश्यक हो गयी है। आक्रमणकारियों, गुण्डों, उद्दण्डों, हत्याकारियों और समाज को उत्पीड़ित करनेवाले निरंकुश शासकों से समाज के सामहिक हित की रक्षा करने के लिये, विशुद्ध जनहित और जन-सेवा के भाव से उत्प्रेरित होकर भी जीव-हत्या करनी पड़ी है। मानवता का निर्दलन करनेवाले महत्वाकांक्षी शासकों अथवा आततायी विजेताओं से अपने देश की रक्षा करने के लिये हिंसा में संलग्न होना आवश्यक हो जाता है। क्या इन दुष्टों से निर्बलों की रक्षा में की गई हिंसा अनैतिक कही जा सकती है? इन पंक्तियों के लेखक की धारणा है कि गाँधी स्वयं इसे अनैतिक नहीं समझता। यदि वह अनैतिक समझता तो यह न कहता कि किसी सती का सतीत्व आक्रान्त हो और वह दाँतों या नखों से अथवा अन्य सभी सम्भव उपायों से उसकी रक्षा करे तो वह अहिंसा ही है। अभी हाल में उसने यह कहा है कि निर्बल पोलैण्ड पर सबल जर्मन सेना के चढ़ दौड़ने पर पोलों ने यदि शस्त्र उठाकर अपनी रक्षा करने की चेष्टा की तो वह प्रायः अहिंसा के समान ही था। स्पष्ट है कि गाँधी जी अपने इन वाक्यों के द्वारा जो भाव प्रकट कर रहे हैं, उसका अर्थ केवल इतना ही है कि हिंसा सदा अनैतिक नहीं होती। समय और परिस्थिति के अनुसार हिंसात्मक कार्य भी नैतिक दृष्टि से उतना ही उचित हो जा सकता है जितनी कि अहिंसा।

यदि ऐसा न होता तो अहिंसा की सजीव प्रतिमा स्वयं गाँधीजी पर

अनैतिक हिंसा करने का दोष मढ़ा जा सकता। साबरमती आश्रम के उस बछवे का प्राण-हरण गाँधीजी की प्रेरणा से हुआ जो किसी भयानक रोग से ग्रस्त होने के कारण बुरी तरह पीड़ित था और जिसे रोग-मुक्त करना असम्भव हो गया था। अहमदाबाद में पागल कुत्तों के उपद्रव के बढ़ जाने के कारण गाँधीजी ने उन्हें मरवा डालने की अनुमति दे डाली थी। क्या इन कार्यों के लिये उन पर अनैतिक हिंसा करने का दोष लगाया जा सकता है? मैं समझता हूँ कि गान्धीजी के ये कार्य हिंसात्मक होते हुए भी अनैतिक नहीं थे। नैतिक और अनैतिक का प्रश्न सूक्ष्म है। हिंसा किसी समय उतनी ही नैतिक हो सकती है जितनी की अहिंसा। इसी प्रकार अहिंसा भी किसी समय अनैतिक हो सकती है जिस प्रकार हिंसा। वस्तुतः हिंसा और अहिंसा की अनैतिकता या नैतिकता पर निर्णय प्रदान करने का आधार केवल एक ही हो सकता है और वह यह कि हिंसा या अहिंसा किस प्रयोजन के लिये की जा रही है? स्वार्थ की पूर्ति के लिये, अहंकार की तृप्ति के लिये, वैयक्तिक प्रभुता की प्राप्ति अथवा वासना के तृप्ति के लिये की गई हिंसा जिस प्रकार अनैतिक है उसी प्रकार इन्हीं लक्ष्यों की पूर्ति के लिये को गई अहिंसा भी अनैतिक होगी। क्या कोई आपके मकान पर इसलिये आमरण उपवास कर दे कि आप अपनी सारी सम्पत्ति उसे दे दें तो वह उपवास उसी प्रकार अनैतिक न हो जायगा जिस प्रकार डाकुओं के गिरोह द्वारा आपकी सम्पत्ति लूटने के लिये की गई हिंसा? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। तात्पर्य यह कि हिंसा-अहिंसा की अनैतिकता और नैतिकता का प्रश्न बिल्कुल दूसरा है।

गाँधी हिंसा का त्याग इसलिये नहीं करता कि वह उसे सदा और सर्वथा अनैतिक समझता है। मेरी दृष्टि से वह अहिंसा के अवलम्बन को अपना लक्ष्य बनाता है इस कारण कि उसके मत से जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन किया जाता है, उनकी सिद्धि उसके द्वारा संभव ही नहीं होती। शान्ति, न्याय, स्वतन्त्रता,

जनाधिकार की रक्षा अथवा अन्याय, हिंसा और दलन आदि के लोप के लिये की गई हिंसा नैतिक होते हुए भी अग्राह्य है इसलिये कि उसके द्वरा उपर्युक्त लक्ष्य सिद्ध ही नहीं होते। सिद्ध होना तो दूर रहा हिंसात्मक उपायों के द्वारा जिस वातावरण का सर्जन तथा जिन प्रवृत्तियों का प्रबोधन हो जाता है वे आगे चलकर पुनः हिंसा, अन्याय और दलन की ही सृष्टि करते हैं। यही कारण है कि गाँधी कहता है कि उक्त साध्य की सिद्धि के लिए अहिंसा ही अनुकूल साधन है, अतः वह हिंसा को त्याज्य घोषित करताहै। गाँधीजी कहते हैं "गत तीस वर्षों के कोरे जीवन का अनुभव मुझे यह महती आशा प्रदान करता है कि न केवल भारत किन्तु सारे जगत् का कल्याण और भविष्य अहिंसा के अवलम्बन में ही सुरक्षित है। अहिंसात्मक-पद्धति जिस प्रकार सर्वथा निर्दोष है, उसी प्रकार संसार के शोषित और दलित समाज की समस्त राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिये अति प्रभावकर अमोघास्त्र है। मैंने अपने जीवन के अति आरम्भिक काल से यह समझ लिया है कि अहिंसा केवल सन्त का ही गुण नहीं है जिसका अभ्यास करके व्यक्तिगत, आध्यात्मिक शान्ति तथा मोक्ष का सम्पादन व्यक्तिविशेष कर सकता है। मैंने तो यह समझा है कि अहिंसा व्यापक जन-समाज के जीवन-यापन के लिये शाश्वत विधान है। यदि मानव-समाज मानवताके गौरव के अनुकूल जिन्दगी बसर करना चाहता है और यदि वह उस शान्ति का इच्छुक है, जिसकी ओर मनुष्य युग-युग से धावित है, तो उसे जीवन में अहिंसा को ग्रहण करना ही पड़ेगा।"

इन वाक्यों से साफ हो जाता है कि गाँधी अहिंसा को क्यों और किस रूप में ग्रहण करता है। उसकी अहिंसा महान् लक्ष्य लेकर अग्रसर होती है। जगत् में अहिंसा के आधार पर समाज और संस्कृति का निर्माण उसका लक्ष्य है, क्योंकि अहिंसक जगत् में ही मनुष्य की स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकेगी, उसके शोषण का अन्त होगा और

मानवता उत्पीड़न तथा दलन से मुक्त होकर विकास की ओर अभि-मुख होगी। मानव-समाज का अभ्युत्थान और चिरसुख उसी में निहित है। इस लक्ष्य की सिद्धि का साधन भी अहिंसा ही है और इसी कारण गाँधी साध्य और साधन की एकता पर जोर देता है। जिसने अहिंसा की कल्पना इस रूप में की हो वह उसे अकर्मण्य, विरक्त संन्यासियों की वस्तु कैसे समझ सकता है? अहिंसा का प्रचार करके वह जगत् को वैरागियों का मठ बनाना नहीं चाहता। अहिंसा को उसने साधन बनाया है मानवताके लक्ष्य की संसिद्धि के लिये। उसकी अहिंसा अस्त्र है जिसके द्वारा वह लक्ष्य का भेदन करना चाहता है। यह तभी सम्भव है जब उसकी अहिंसा में शक्ति का समावेश हो। जीवनहीन, जड़ अहिंसा तो गतिहीन होगी। उसके द्वारा लक्ष्य की सिद्धि का प्रश्न ही नहीं रह जाता। इसी कारण पूर्व के पृष्ठों में यह लिखा है कि बापू अहिंसा की कल्पना शक्ति के रूप में करता है। उसकी दृष्टि में अहिंसा असहाय का अस्त्र नहीं है। अहिंसा का अव-लम्बन इसलिये कि हिंसा करने की शक्ति और साधन प्राप्त नहीं है उसे अपेक्षित नहीं है। निर्बल की अहिंसा अहिंसा हो ही नहीं सकती, वह तो कायर की निष्क्रियता है जो उसकी कापुरुषता का ही चरम रूप है। उसी कारण गाँधी यह कहता है कि यदि अहिंसा को शक्ति के रूप में ग्रहण करने की सामर्थ्य न हो तो हिंसा के द्वारा अन्याय का मुका-बिला करना कायरता पूर्ण आत्मसमर्पण की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेय-स्कर है। वे अहिंसा को "शस्त्र का स्थान ग्रहण करने वाला नैतिक अस्त्र" बनाना चाहते हैं। वह उसे उस तेजस्विनी, सप्राण महाशक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं जो जगत् की समस्त पाशवी धारा का सामना शस्त्र की अपेक्षा अधिक सफलता के साथ कर सके। स्मरण रखना चाहिए कि गाँधीजी अहिंसा के द्वारा ऐसी प्रकिक्रिया उत्पन्न करना चाहते हैं जो अहिंसात्मक शक्ति रखनेवालों को भी अपनी पवित्रता, उच्चता और क्षमता के कारण अपनी ओर आकृष्ट कर सके।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि गाँधीजी की अहिंसा का रूप वह नहीं है जो पुराने धर्म-गुरुओं द्वारा उपस्थित किया जाता रहा है। अहिंसा का नाम पुराने ऋषि-मुनि अथवा बुद्ध, ईसा और महावीर स्वामी ले चुके हैं। वैष्णव सन्तों ने भी बार-बार उसका उल्लेख किया है। इन सब की अहिंसा निष्क्रिय और पलायानात्मक रही है। ईसा ने बुराई का प्रतिरोध न करके उसे दूर हट जाने का उपदेश किया है। बुद्ध पाप और बुराई से बचने के लिए कर्मों के सर्वथा त्याग का उपदेश देते हैं। अहिंसा का यही पुराना रूप रहा है। आज जब गाँधी अहिंसा का नाम लेता है तो सम्भवतः उसका वही पुराना रूप लोगों के सम्मुख खड़ा हो जाता है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि अहिंसा शब्द में सहस्राब्दियों की परम्परा का इतिहास और अर्थ भरा हुआ है। उसका अभिषेक मानवसमाज की ऐसी विभूतियों के रक्त और उसके तप से हुआ है जिन पर हमारा इतिहास उचित गर्व करता है। फलतः उसके संस्कार और भार से यदि हम मुक्त न हो सकें तो कोई आश्चर्य नहीं पर वास्तविकता यह है कि गाँधी की अहिंसा बिल्कुल दूसरा स्वर लेकर उपस्थित हुई है। वह यूरोप के उन निर्जीव शान्तिवादियों की अहिंसा नहीं है जो युद्ध के विरोधी होने का दावा तो करते हैं, पर अवसर आने पर चुप हो जाते हैं। उनका 'शान्तिवाद' उनकी जड़ निष्क्रियता के सिवा और कुछ नहीं है। गाँधी की अहिंसा बुराई से भागने वाली नहीं भिड़ने वाली है। वह संघर्षात्मक है जो अशुभ और असत् का प्रबल प्रतिरोध करने पर तुली हुई है। प्रतिरोध की मात्रा यहाँ तक बढ़ती है कि वह प्रचण्ड विद्रोही का रूप धारण करती है और बहुधा स्वतः आक्रमणात्मक हो जाती है। अन्याय और अशुभ को सहनशीलता तो क्या उपेक्षा की दृष्टि से भी देखना वह अनुचित और अनैतिक समझती है। संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि गाँधी की अहिंसा में वे तमाम वृत्तियाँ उपस्थित हैं जो अन्याय का प्रतिरोध करने के लिए हिंसात्मक प्रतिकार या क्रान्ति में मौजूद रहती हैं। वृत्तियों से

हमारा तात्पर्य क्रोध, द्वेष अथवा प्रतिरोध की उन भावनाओं से नहीं है जिनसे ओत-प्रोत हो कर बहुधा हिंसात्मक पद्धति प्रवर्तित होती है। वृत्ति से हमारा तात्पर्य केवल उन भावों से है जो अन्याय अथवा अत्याचार के अटल और अदमनीय प्रतिरोध और प्रतिकार के रूप में प्रकट होते हैं। अन्याय को मिटाने के लिए जीवन को बलि चढ़ा देने के आदर्श पर मर मिटने की और विरोधी की प्रबलतम शक्ति का अखण्ड अवरोध करने की जो भावना हिंसात्मक विद्रोह अथवा संघर्ष में पाई जा सकती है, उन सब का न केवल समावेश किंतु चरम विकास गाँधी की अहिंसा में होता है। साथ ही द्वेष अथवा प्रतिशोध की असद्-वृत्तियों से अपने को यथासंभव मुक्त रखने की चेष्टा उसकी विशेषता है, जिसका अनिवार्य सर्जन हिंसात्मक पद्धति में हो जाता है।

गाँधी की अहिंसा के रूप को न समझ सकने के कारण ही लोग उस पर यह आक्षेप करते सुने जाते हैं कि अत्याचार को चुपचाप बर्दाश्त कर लेने अथवा खड़े-खड़े मार खाने से कुछ नहीं हो सकता। अधिकतर लोगों की तो यह धारणा है कि वह असहाय का एकमात्र व्यावहारिक मार्ग है। गाँधी की कल्पना इन धारणाओं के सर्वथा विरुद्ध है। अन्याय को चुपचाप बर्दाश्त कर लेने की प्रवृत्ति के विरुद्ध ही तो उसका यह विद्रोह है। वह अहिंसा को असहाय का अस्त्र समझ कर नहीं अपितु सबल की चरमशक्ति के रूप में ग्रहण करता है और यह मानता है कि अहिंसात्मक विद्रोह अथवा संघर्ष ग्राह्य है; क्योंकि लक्ष्य की सिद्धि में हिंसात्मक पद्धति की अपेक्षा वह कहीं अधिक प्रभावकर तथा सबल सिद्ध होगा। यदि वह उसे असहाय का अस्त्र समझता तो उसका उपदेश करके भारत के निहत्थे और दब्बू जनसमाज के नैतिक अधः पात का कारण बनता। जिसमें हिंसा करने की बाह्य अथवा आंतरिक, शारीरिक अथवा मानसिक शक्ति न हो उसके लिये अहिंसा का उपदेश निष्प्रयोजन और निरर्थक ही नहीं है प्रत्युत सर्वथा हानिकारक भी है। बापू से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इतनी स्थूल

सी बात भी न समझता। अतः यह स्वीकार करना होगा कि उसने अहिंसक पद्धति का प्रवर्तन इसलिये किया है कि वह भारत के उत्थान के लिये, भारतीय जनसमाज को मनुष्यत्व प्रदान करने के लिये और इस महाराष्ट्र के मस्तक पर नाचती विदेशी निरंकुशता तथा स्वच्छन्दता की समाप्ति के लिये उसे हिंसा से अधिक उपयुक्त और उचित समझता है। वह जानता है कि हिंसा न प्रभावकर सिद्ध होगी और न सफल। वह यह भी जानता है कि हिंसा से समाप्त की गई हिंसा हिंसा का सर्वथा लोप नहीं कर पाती। फलतः न केवल भारत के लिये प्रत्युत जगत के लिए उसने सङ्घर्षशीला अहिंसक पद्धति का प्रजनन किया है, जिसके फलस्वरूप उस हिंसा का समूल उत्पाटन करने का मार्ग दिखाई दे जाय जिससे आक्षितिज वसुन्धरा त्रस्त है। बापू के शब्दों पर ध्यान दीजिए। वह कहता है "समय आ गया है जब हमें अपनी अहिंसा के रूप को समझ लेना चाहिए। काँग्रेस जिस अहिंसा का अवलम्बन करती है वह निर्बल और असहाय की अहिंसा है अथवा सबल और शक्तिमान् की? यदि वह असहाय की अहिंसा है तो समझ लीजिए की उसके द्वारा लक्ष्य की सिद्धि कभी हो नहीं सकती। यही ही नहीं वरन् अधिक दिनों तक वैसी निर्जीव अहिंसा यदि प्रयुक्त होती रहेगी तो हमें स्वराज्य के योग्य न रहने देगी। निर्बल और असहाय तो अहिंसक रहता ही है इसलिए कि सिवा उसके कुछ दूसरा कर ही नहीं सकता। यदि अहिंसा वास्तविक बल के गर्भ से उत्पन्न नहीं होती है और यदि बल का ही प्रतिनिधित्व नहीं करती तो उसके परित्याग में ही कल्याण है।"

गाँधी की अहिंसा के इस रूप को बिना समझे उसके सिद्धान्त को समझना कठिन हो जाता। यह समझना भूल है कि गाँधी संघर्ष से मुख मोड़ता है इसके विपरीत उसका सारा जीवन स्वयं संघर्षात्मक रहा है और उसकी सारी विचारधारा संघर्ष की प्रवृत्ति से ओतप्रोत है। जो मनुष्य जीवन को दो परस्पर विरोधी वृत्तियों में व्यक्त देखता

हो और जो शुभ और अशुभ को सनातन तथा अन्तस्संघर्ष में ही जीवन का परिस्फुरण मानता हो, उसके लिये जीवनका समूचा स्वरूप ही संग्रामात्मक होगा। संघर्ष गति का प्रतीक है और गति में ही जीवन है। फलतः संघर्ष से विरति अथवा निष्क्रियता का अर्थ तो मृत्यु ही हो सकता है। बापू मृत्यु नहीं जीवन का उपासक है, अतः वह संग्राम से पलायन की कल्पना कर ही नहीं सकता। यह सच है कि अहिंसा और संग्राम ऐसे परस्पर विरोधी अर्थ-वाचक शब्द हैं कि जिनका साथ-साथ उल्लेख करना एक विचित्र पहेली की रचना कर देना है। एक ओर गाँधी को जीवन में अहिंसा के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर संघर्ष के। दोनों परस्पर विरोधी हैं फलतः इनमें साम्य कहाँ? पर गाँधी की दृष्टि में इनमें साम्य है और ऐसा साम्य है कि दोनों को एकात्म बना देता है। वह देखता है कि जीवन के मूल में शुभ और अशुभ का चिरंतन संघर्ष अन्तर्निहित है। संघर्ष की सफलता अशुभ पर शुभ की विजय में है और इसी में है जीवन की सार्थकता और सप्रयोजनता। अशुभ पर शुभ की विजय का अर्थ ही तो अहिंसा है। यह दृष्टि ही अहिंसा और संघर्ष में न केवल साध्य-साधन का संबन्ध जोड़ देती है वरन् हिंसा पर अहिंसा की और पशुता पर मानवता की विजय को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य निर्धारित कर देती है। फलतः गाँधी अहिंसा को अपनाता है और उसकी सिद्धि के लिये संघर्षशील होना जीवन का धर्म समझता है। निस्सन्देह लक्ष्य की सिद्धिका उसका साधन भी अहिंसा ही है, अतः अहिंसा को सक्रिय सजीव और प्रतिरोधात्मक रूप ग्रहण करना ही होगा। यदि ऐसा नहीं होगा तो वह कभी हिंसा पर विजय प्राप्त न कर सकेगी। और जब तक अहिंसा की विजय नहीं होती तब तक मानवता की विजय नहीं होती।

अहिंसा को संघर्षात्मक रूप प्रदान करके गाँधी ने जिस पद्धति को जन्म दिया है वही अहिंसात्मक असहयोग के रूप में जगत् के सम्मुख प्रस्तुत है। असहयोग के द्वारा गाँधी अन्याय और अनीति का, अशुभ

और पशुता का, हिंसा और दलन का प्रतिरोध करने का अहिंसात्मक पथ निर्माण करता है। हिंसा, अनीति और पशुता जीवन के किसी क्षेत्र में किसी दिशा की ओर से प्रवर्तित क्यों न हुई हो; व्यक्तिगत हो या सामाजिक, आर्थिक हो या राजनीतिक, सांस्कृतिक हो या नैतिक, जीवन का कोई पहलू क्यों न हो; जहाँ कहीं भी अशुभ और असत् का दर्शन हो वहाँ उसके प्रतिकार और प्रतिरोध के लिये अहिंसात्मक शस्त्र के रूप में असहयोग का अवलम्बन गाँधी की नवीन प्रणाली है जो अपनी व्यापकता और सजीवता के कारण आधुनिक इतिहास के इस युग में महत्वपूर्ण घटना के रूप में घटित हुई है। असहयोग का स्थूल रूप तो यही है कि अशुभ और असद्-वृत्तियों से अथवा हिंसा और अन्याय का प्रजनन करने वाले किसी तंत्र या शक्ति से असहयोग का सर्वथा त्याग कर दिया जाय। साधारण बात है कि जन-समाज के सहयोग पर ही अन्यायी की हिंसा अथवा अन्याय फलता-फूलता है। यह सच है कि यह सहयोग स्वभावतः स्वेच्छापूर्वक नहीं होता। जो सहयोग देता है वह साधारणतः अन्यायी के भय से भीत हो कर ही देता है, पर अनिच्छापूर्वक ही सही उस सहयोग का परिणाम यही होता है कि हिंसा और अन्याय को खुल कर खेलने का मौका मिलता रहता है। यह भी सच है कि कुछ लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर स्वेच्छा से सहयोग-प्रदान करते हैं। इस प्रकार अनिच्छा से हो या स्वेच्छा से, भय के कारण हो अथवा स्वार्थ के वश होकर हो, जन-समाज जो सहयोग प्रदान करता है उसी के फल-स्वरूप अन्याय, हिंसा, असत् और अशुभ जीवित बना रहता है।

फलतः उन वृत्तियों का पथावरोधन करने के लिये पहला कदम सहयोग-त्याग ही है। यही असहयोग का स्थूलरूप है, पर इसके साथ ही उसका सूक्ष्मरूप भी है। हिंसा अथवा अन्याय से असहयोग करने का निश्चय करने के पूर्व इसका सूक्ष्मरूप असहयोगी की मनोदशा में जो परिवर्तन होता है वह वास्तव में सहयोग-त्याग करने के सक्रियरूप से

कहीं अधिक महत्व पूर्ण है। असहयोग की भावना वह मानसिक स्थिति है जो मानसिक क्रान्ति की परिचायिका है। असहयोगी जब असहयोग के लिये अग्रसर होता है तो प्रचलित व्यवस्था के सम्बन्ध में न केवल उसकी धारणाएँ परिवर्तित हुई रहती हैं, न केवल अन्याय अथवा अत्याचार का प्रतिकार करने की भावना सजग हुई रहती है, प्रत्युत वह उस भय और उस स्वार्थ का परित्याग करने के लिये भी कृत-निश्चय होता है जिसके कारण वह अब तक सहयोग प्रदान करता रहा है। यह मनोदशा ही उसे विद्रोह की ओर ले जाती है। विद्रोह हिंसात्मक हो अथवा अहिंसात्मक, विद्रोही के लिये भय और स्वार्थ का परित्याग पहली शर्त है। असहयोग की भावना जीवन को वह तत्व प्रदान करती है जो मनुष्य को भय और स्वर्थ का त्याग करने के लिये उत्प्रेरित करता है तथा उसमें अन्याय और अत्याचार का प्रतिरोध करने की प्रवृत्ति पैदा करता है। असहयोग का यही सूक्ष्म रूप है जो सारे सामाजिक जीवन को सामहिक रूप से आमूल आलोड़ित कर देता है। पर यह न समझिए कि गाँधी की अहिंसात्मक पद्धति का अन्त केवल सहयोग त्याग देनेमात्र में हो जाता है। वास्तव में असहयोग उक्त पद्धति का प्रथम सोपान है जिस पर आरूढ़ होना प्रतिरोध-प्रक्रिया का सूत्रपात करना है। अशुभ वृत्तियों का अवरोधन अथवा अन्यायी शक्तियों के प्रवाह का गतिरोध केवल सहयोग-त्याग से नहीं हो सकता। उसके लिये अहिंसा को प्रचण्ड शक्ति का कलेवर ग्रहण करके अग्रसर होना होगा। गाँधी अपनी योजना में अहिंसा को वही रूप प्रदान करता है जिसका चरम विकास सत्याग्रह में होता है। सत्याग्रह अहिंसक प्रतिरोध का वह स्तर है, जब वह विद्रोह की पताका फहरा कर आगे बढ़ता है। सत्याग्रह में अहिंसक क्रान्ति-धारा का प्रचण्ड गर्जन है जो अशस्त्र अग्रसर होने के लिये सन्नद्ध होता है। और अशस्त्र होते हुए भी विश्व की समस्त पशुबलाश्रित शक्तियों को

ललकारने का दृढ़ संकल्प ले कर बढ़ती है। सत्याग्रह में गाँधी की वही बलवती अहिंसा मूर्तिमती हुई है। सत्याग्रह के बल का स्रोत मानव का अन्तर्जगत् है। मनुष्य के हृदय में निसर्ग द्वारा प्रतिष्ठित अहिंसक शुभ वृत्तियों का निवास है, जो जीवन का भूषण है और जिनके फलस्वरूप मानव मानव हुआ है। सत्याग्रह मनुष्य की उन वृत्तियों के जागरण पर ही अवलम्बित है। सत्य और न्याय की आराधान के लिए त्याग और उत्सर्ग, निर्भयता और बलिदान का अर्घ्य ले कर जीवन जागरित और उत्थित हो, तथा अन्ततः तप और कठोर कर्मपथ पर अग्रसर हो यही सत्याग्रह की साधना है। इसी में उसका बल और ओज है। मनुष्य की महिमामयी आत्मा के अक्षय शक्ति-भंडार की ओजस्वनी धारा जब अहिंसा को ओतप्रोत करती है, तब वह बल-सम्पन्ना हो उठती है। सत्याग्रह किसी स्थूल पार्थिव शस्त्र की सहायता नहीं ढूँढ़ता। उसे आततायी का विरोध करने के लिये अथवा अन्याय और दलन के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये न खड्ग की अपेक्षा है और न खून की। पर जहाँ वह इन हिंसक साधनों का परित्याग करता है वहाँ उस अपार्थिव मानवीय अन्तश्शक्ति का अधिकाधिक आवाहन करता है जो जीवन में प्राण-संचार करती रहती है।

सत्याग्रही अपने पथ पर आरूढ़ होने के लिये भय का सर्वथा परित्याग कर देता है। बिना इसके वह सत्याग्रह का अवलम्बन कर ही नहीं सकता। सत्याग्रही वही हो सकता है जिसे अपने आदर्श की पूजा में न अपने प्राण नाश का भय हो, न विरोध की पशु-शक्ति का और न किसी मदमत्त की उन्मत्त दाम्भिकता और घोर क्रूरता का। अभय, वीरता और लक्ष्य के लिये जीवन को आहुत कर देने की क्षमता और प्रवृत्ति लेकर ही सत्याग्रह की धारा प्रवाहित होती है। असत्य का बलपूर्वक परिपोषण करने के लिये पशुबल का संयोजन करके जो आगे बढ़ा हो, उसकी दृढ़ अवज्ञा की सजीव किन्तु निरस्त्र प्रतिमा बन कर उपस्थित होने का साहस ही तो सत्याग्रह का प्राण है। विचार कीजिए

कि यह तब तक कैसे सम्भव हो सकता है जब तक सत्याग्रह उपर्युक्त आन्तरिक और अलौकिक साधनों का आश्रय ग्रहण न करे। ये ही वृत्तियाँ हैं जो मनुष्य की शक्ति के मूल हैं। शक्ति का प्रयोग चाहे हिंसात्मक ढङ्ग से कीजिए अथवा अहिंसात्मक पद्धति से, पर उसका निवास वस्तुतः इन्हीं वृत्तियों में है। जड़ शस्त्रों में बल का अधिष्ठान नहीं है। शस्त्र-ग्रहण करने मात्र से न तो वीरता का प्रादुर्भाव हो जाता है और न उसके प्रयोग से पौरुष का प्रदर्शन हुआ मानना चाहिए। वीरता, पौरुष, शौर्य आदि अन्तर्वृत्तियाँ हैं, जिनके प्रस्फुरण के बिना शस्त्र लेकर भी शस्त्र का प्रयोग नहीं किया जा सकता। सशस्त्र व्यक्ति में भी यदि इनका अभाव होगा तो वह भी कायरता का ही प्रदर्शन करेगा। फलतः हिंसक शक्ति का सामना चाहे हिंसात्मक प्रणाली से किया जाय अथवा अहिंसात्मक पद्धति से मनुष्य की अन्तर्भूत शक्ति का उद्बोधन दोनों के लिये समान रूप से आवश्यक होता है। अहिंसक पद्धति के लिये तो इन भावनाओं का जागरण हिंसात्मक प्रणाली ग्रहण करने वाले की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्य होता है।

शस्त्र लेकर विरोधी का सामना करने वाला यद्यपि मृत्यु का खतरा उठता है, फिर भी शस्त्र का सहारा लेने में अपनी रक्षा करने की प्रवृत्ति और आशा स्पष्ट है। यदि किसी कारण उसका शस्त्र निकम्मा हो जाय अथवा हाथ से छूट जाय तो सम्भवतः वह पलायन करता ही दिखाई देगा। परन्तु सत्याग्रही के लिये उसका बल बलिदान की प्रवृत्ति में ही है। वीरता की दृष्टि से वह व्यक्ति कही अधिक वीर है जो निर्भय होकर मृत्यु का सामना करता है। अहिंसक पद्धति जहाँ उग्रतर और तीव्रतर हिंसा के सम्मुख विचूर्ण हो जाती है, जहाँ वह विरोधी के प्रति द्वेष और क्रोध लेकर बहुधा अग्रसर होती है और जहाँ पराजय के बाद या तो आत्मसमर्पण करती है या पलायन करने को बाध्य होती है, वहाँ अहिंसक सत्याग्रह की शक्ति अतुलनीय होगी।

विरोधी का शस्त्र और उसका बल सत्याग्रही की वीरता और उसके शौर्य की असीमता को मापने में समर्थ नहीं हो सकता। अहिंसक पद्धति की इसी विशेषता की ओर गाँधी जगत् का ध्यान आकर्षित करता है जब वह कहता है कि "सत्याग्रह आत्मबल है जिसकी तुलना कोई शक्ति कर नहीं सकती। सत्याग्रह शस्त्र की शक्ति से कहीं अधिक उत्कृष्ट और बलवान् है। शस्त्र का प्रयोग करने वाला व्यक्ति उस साहस से परिचित नहीं होता जो सत्याग्रही में निहित होता है। क्या कोई कायर कभी किसी ऐसे कानून की अवज्ञा कर सकता है जिसे वह नापसन्द करता हो? पर एक सत्याग्रही स्पष्टतः घोषित करता है कि वह किसी ऐसे विधान को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है जो उसकी आत्मा के विरुद्ध हो। यदि तोप के मुख पर रख कर उसके चिथड़े भी उड़ा दिए जायँ तो भी उसका मस्तक न झुकेगा। इसी कारण मैं सत्याग्रह को निर्बल का अस्त्र नहीं समझता। विचार कीजिए कि साहस कहाँ दिखाई देता है? तोप के पीछे खड़े होकर दूसरों को उड़ा देने में अथवा हँसते हुए तोप का सामना करने वाले में? सच्चा योद्धा कौन है? जो मृत्यु को आलिंगन करने के लिये तैय्यार रहता है वह अथवा वह जो शस्त्र के पीछे होकर दूसरों की मृत्यु का विधान करता है? मुझ पर विश्वास कीजिए जब मैं कहता हूँ कि जिसमें मर्दानगी और साहस का अभाव होगा वह कभी सत्याग्रही नहीं हो सकता है।'

वस्तुतः बापू का तर्क अखण्डनीय है। जो प्राणों की आहुति डालने के लिये तत्पर हो जाय उसकी पराजय का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आक्रमणकारी आखिरकार शस्त्र का प्रयोग क्यों करता है? उसका एकमात्र लक्ष्य यह होता है कि सब उसकी शक्ति का लोहा मान लें और यदि कोई उसे ललकारने की हिम्मत करे तो उसका मस्तक शस्त्रधारी के चरणों में झुक जाय। शस्त्र-सम्पन्न व्यक्ति के बल की अक्षुण्णता की रक्षा इसी में है और इसी में उसकी विजय। पर जो

मस्तक झुकाना नहीं जानता उसके कट जाने से भी शस्त्रधारी के लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती। सत्याग्रही मस्तक को हथेली पर लेकर बढ़ता है। ऐसा करते हुए वह जीवनोत्सर्ग का मार्ग अवश्य पकड़ता है पर शक्ति और दम्भ के सामने मस्तक झुकाने से अस्वीकार करता है। वह न केवल पशुबल की अवज्ञा करता है वरन् मृत्यु तक को तृणवत् मानता है। उसकी इस अत्तय अवज्ञा में असीम विद्रोह की ज्वाला क्या स्पष्ट दिखाई नहीं देती? उस विद्रोहिणी ज्वाला का परिशमन सत्याग्रही के शीश की उच्छिन्नता से भला कैसे हो सकता है? सत्याग्रह की इसी विशेषता की ओर लक्ष्य करके गाँधी जी कहते हैं कि "सत्याग्रही के लिये पराजय का अस्तित्व ही नहीं है। शासन-सत्ता शस्त्र का प्रयोग करती है, क्योंकि पशुबल का आधार ग्रहण करना उसके स्वभाव में है। वह हुकूमत चलाना चाहती है। पर जन-समाज जहाँ आत्मबल का प्रयोग करना चाहता है वहाँ शासक की हूकूमत उसकी तलवार की नोक के परे नहीं जा पाती क्योंकि सत्याग्रही उसके अन्याय के सम्मुख झुकने से इनकार कर देता है। जो लोग मृत्यु की उपेक्षा कर सकते हैं वे भय से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। जो राष्ट्र मृत्यु की शय्या बनाने के लिये सदा तत्पर रहता है वह महान् है।"

सत्याग्रह की कल्पना में इस प्रकार हम दो प्रवृत्तियों का उदय पाते हैं। सहयोग का त्याग और अटल तथा दृढ़ अवज्ञा। पूर्व के किसी पृष्ठ में कह चुका हूँ कि बुराई करने वाले के लिये उसमें प्रवृत्त रहना तभी तक संभव है जब तक उसे लोगों का सहयोग प्राप्त होता है। अत्याचार करनेवाले शोषकों और अधिपतियों की ऊँची अट्टालिका शोषितों और पराधीनों के सहयोग पर ही आश्रित है। जहाँ सहयोग नहीं है वहाँ आत्म-समर्पण है। आततायी की शक्ति से भयग्रस्त और मोहाभिभूत आक्रान्त जन-समाज जब मस्तक टेके रहता है, तभी किसी का दम्भ और उसकी प्रभुता प्रतिष्ठित रहती है। यह रोब, यह दबदबा और यह प्रतिष्ठा ही सरकारोंका आधार होती है जो व्यापक

रूप से प्रत्येक नर-नारी के हृदय पर छाई रहती है। कोई भी सरकार चाहे वह कितनी बलवती क्यों न हो, केवल पशुशक्ति के सहारे टिकी नहीं रह सकती। उसका आश्रय होता है उसका रोब। शासकवर्ग इस तथ्य से भली भाँति परिचित होता है और यही कारण है कि अपनी प्रतिष्ठा में तनिक भी ठेस का पहुँचना सहन नहीं कर सकता। उस प्रतिष्ठा की रक्षा में वह अपनी सारी शक्ति का उपयोग किया करता है। अब सत्याग्रह के स्वरूप पर दृष्टिपात कीजिए और आप देखेंगे कि सहयोग का त्याग और अवज्ञा किसी की स्थापित प्रतिष्ठा की जड़ हिला देने के लिये अमोघास्त्र है। असहयोग और सत्याग्रह का अवलम्बन करना वास्तव में प्रतिष्ठित तथा प्रभुतासंपन्न सरकार की सारी पशु-शक्ति को चुनौती देना है। सरकार के किसी कानून या किसी आज्ञा के पीछे उसकी सारी शक्ति खड़ी रहती है। ऐसी आज्ञा की अवज्ञा करने का निश्चय जिस क्षण सत्याग्रही करता है, उसी क्षण वह किसी भी सरकार की कारा और कानून को, उसकी पुलिस और फौज को, उसके समस्त अस्त्र और शस्त्र को ललकारता है। क्या यह ललकार सरकारी रोब और दबदबे पर गहरी चोट नहीं पहुँचाती? जिस शक्ति के सहारे सरकारें खड़ी हों यदि उनकी अवहेलना करके कोई उनके सामने डट जाता है तो उनकी जड़ का हिल उठना निश्चित है। इस प्रकार सत्याग्रह शासन-यन्त्र के मौलिक आधार पर करारा आघात है।

उसका यह स्वरूप विशुद्ध विद्रोहात्मक है। विचार तो कीजिए। क्रान्ति क्या इसी को नहीं कहते? क्रान्ति स्थापित व्यवस्था की अवज्ञा का ही नाम है। अवज्ञा सङ्घर्ष का प्रजनन करती है। और विद्रोहियों का शस्त्र उस अवज्ञा का परिपोषण करता है। क्रान्ति यदि सफल होती है तो वर्तमान नष्ट होता है और उध्वस्त के आधार पर अभिवाञ्छित नव व्यवस्था स्थापित होती है। सत्याग्रह भी ठीक इसी क्रिया का संपादन करता है। वह अवज्ञा का पथ लेकर बढ़ता है और प्रचण्ड सङ्घर्ष का उद्भव कर देता है। अवश्य ही वह अहिंसक क्रान्ति का रूप

है, अतः अपनी अवज्ञा के परितोषण के लिये किसी शस्त्र की अपेक्षा नहीं करता। वह परिपुष्ट होता है विशुद्ध उत्सर्ग से। क्रान्ति के महा-यज्ञ में प्रसन्नतापूर्वक जीवन की आहुति डाल देना उसकी पद्धति है। किसी के अस्त्र-शस्त्र, आतंक, बलशक्ति और दमन की परवाह उसे नहीं हो सकती, क्योंकि उसका पथ ही त्यागमय है। परवाह करना तो दूर रहा वह तो अधिकाधिक उनका आवाहन करता है। उसकी विशेषता ही यह है कि दमन का जितना ही अधिक प्रयोग किया जायगा उसकी आग उतनी ही तीव्र भड़कती चलेगी। कष्ट-सहन और आत्मबलि का अधिकाधिक अवसर प्राप्त करके सत्याग्रही सेना जितना ही अधिक स्वात्म-शुद्धि करती है, उतना ही अधिक उसका बल बढ़ता है। दूसरी ओर निहत्थों किन्तु आदर्श के लिये मर मिटनेवालों पर आततायी जितना ही अधिक बल प्रयोग करता है, उतना ही अधिक गिरता जाता है और उसकी नैतिक शक्ति का क्षय होता है।

इस अवसर पर अहिंसा की उपादेयता के सबंध में कतिपय प्रश्न किए जा सकते हैं। पूछा जा सकता है कि आततायी के सामने बिना शस्त्र के डट जाने से अन्यायी का क्या बनता बिगड़ता है? कैसे उसके पथ का अवरोधन किया जा सकता है और कैसे अन्याय पर न्याय की विजय हो सकती है? विना शस्त्र के शस्त्रधारी का मुकाबिला करने की चेष्टा यदि वीरता हो भी तो उसमें बुद्धि का परिचय तो नहीं मिलता। अपना प्राण दे देने से लक्ष्य की सिद्धि कैसे हो जायेगी? ये प्रश्न हैं जो बहुधा अहिंसात्मक सत्याग्रह के सम्बन्ध में उठाए जाते हैं। गाँधी इनका उत्तर देता है। उत्तर देते हुए वह कई बातों का आधार ग्रहण करता है। मनुष्य के स्वभाव की विशेषता, उसकी मानसिक स्थिति, जीवन संबन्धी वह नैतिक विधान जिसमें गाँधी विश्वास रखता है, आदि कई बातों के आधार पर अपने उत्तर का निर्माण करता है। पहले प्रश्न के जवाब में तो वह सीधे-सीधे यह कह देता

कि अहिंसात्मक सत्याग्रह की पद्धति में किसी का कुछ बिगाड़ने की कल्पना ही नहीं हो सकतो, क्योंकि वह भाव ही हिंसात्मक है। किसी का कुछ बिगाड़ने में द्वेष की दुर्गन्धि है और द्वेष से हिंसा का उद्भव होता है। इसी कारण अहिंसक पद्धति में यथा-संभव द्वेष का निराकरण करना अनिवार्य है। पर द्वेष को स्थान न देते हुए भी और अन्यायी का कुछ बिगाड़ने का भाव न रखते हुए भी अहिंसात्मक सत्याग्रह अन्याय का प्रतिरोध करने के लिये ही उत्पन्न हुआ है। उसमें अन्यायी का कुछ बना देने की भावना अवश्य सन्निहित है। सत्याग्रही अन्यायी को अन्याय के पथ से विरत करके उसकी शुद्धि कर देना चाहता है। गाँधी इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये कोरे उपदेश से काम नहीं लेता प्रत्युत सात्त्विक सङ्घर्ष के द्वारा अन्यायी को इस प्रकार परिवर्तित कर देना चाहता है कि वह अनीति के पथ से पृथक् हो जाय। विरोध करते हुए बिना किसी प्रकार की हिंसा के स्वयं कष्ट सहन के द्वारा मनुष्य के उन सात्त्विक भावों के उद्‌बोधन का प्रयास करता है जो स्वभाव से ही सत्य और नीति की ओर अभिमुख रहते हैं। गाँधी जी कहते हैं "मेरी अहिंसा मनुष्य और उसकी व्यवस्था के बीच में दोनों के पृथक्करण के लिये ज्वलंत रेखा खींच देती है। मैं अनैतिक और हानिकारक व्यवस्था का नाश बिना किसी संकोच के कर डालूँगा, पर मनुष्य का नहीं।"

मनुष्य का नाश करने में गाँधी अन्याय का नाश देखता ही नहीं। अन्याय करने की भावना और प्रेरणा मनुष्य की अन्तर्भूत मानसिक स्थिति है जिसे परिवर्तित किए बिना अन्याय का नाश नहीं हो सकता। अन्यायी स्वतः उसी भावना का शिकार है जिसके विलोप के साथ-साथ उसकी शुद्धि अनिवार्य है। यही कारण है कि गाँधी अन्यायी का कुछ बिगाड़ने की भावना को अपनी योजना में स्थान नहीं देता। उसको बनाने की चेष्टा अवश्य करता है जो कष्ट-सहन और त्याग के द्वारा ही संभव प्रतीत होती है। हिंसात्मक दण्ड भी मनुष्य के सुधार

का उपाय माना जाता है, पर धीरे-धीरे यह बात स्पष्ट हो चली है कि वह पद्धति सुधार करने में तो सफल हो नहीं पाती पर प्रतिशोध की भावना का सर्जन अवश्य कर देती है। पूछा जाता है कि न्याय पर अन्याय की विजय स्वयं प्राण दे देने के लिये तय्यार होने से कैसे हो जायेगी और अशस्त्र हो कर शस्त्र का मुकाबला करने में जो खतरा है उसे उठाने में कौन सी बुद्धिमानी है ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व क्या मैं इन्हीं प्रश्नों को उन लोगों के संमुख उपस्थित नहीं कर सकता जो हिंसात्मक पद्धति का अवलम्बन करते हैं ? हिंसा करके क्या अन्याय का पथावरोधन सदा किया जा सका है ? शस्त्र लेकर विद्रोह करने वाले क्या अन्यायी और आततायी का सदा नाश करने में सफल हुए हैं ? एक नहीं दर्जनों ऐसे प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं जब हिंसात्मक विद्रोह अन्यायी और उसके अन्याय को मिटाने में असफल हो कर मिट गया है और फलस्वरूप अन्यायी के अन्याय को तीव्रतर कर गया है।

फिर ऐसे भी प्रमाण एक नहीं अनेक उपस्थित किए जा सकते हैं जब क्रान्तियाँ स्थापित अन्याय को मिटाने में समर्थ होते हुए भी दूसरे अनेक अन्यायों का सर्जन करने का कारण हुई हैं। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि शस्त्र उठाने का अर्थ होगा अन्याय पर न्याय की विजय स्थापित करना ? प्राण दे देने में बुद्धिमानी ढूँढ़ने-वालों से भी क्या यही प्रश्न नहीं किया जा सकता है कि शस्त्र उठाकर शस्त्र का मुकाबिला करने में क्या प्राण देने का खतरा नहीं होता ? उग्रतर हिंसा के सम्मुख निर्बल हिंसा सदा भयावने खतरे में पड़ जाती है। शस्त्र प्रबलतर शस्त्र के सामने सदा विचूर्ण हुआ है। सङ्गटित और अत्यधिक शक्ति-सम्पन्ना सरकारों को अथवा विदेशी आक्रमणकारियों का मुकाबिला करने के लिये, यह जानते हुए भी कि शस्त्र-बल में वे कहीं अधिक हैं, क्रान्तियाँ हुई हैं और निर्बल राष्ट्रों ने प्रतिरोध किया है। ऐसा करने में जानबूझकर प्राणों की आहुति डालनी पड़ी है। क्या

यही प्रश्न उनसे नहीं किया जा सकता कि यह जानते हुए भी कि विरोधी के शस्त्रबल के सम्मुख जब आपकी शक्ति का कोई महत्त्व नहीं था और जब यह जानते थे कि प्रतिरोध का अर्थ होगा प्राणों का नाश तो शस्त्र उठाने में और प्राण देने में कौन-सी बुद्धिमानी थी ? मैं जानता हूँ कि उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर क्या दिया जा सकता है ? कहा जायगा कि क्रान्ति यदि सफल होती है तो अन्याय मिट जाता है और इस आशा को लेकर ही खतरा उठाया जाता है। यह भी कहा जायगा कि अन्यायी अथवा आक्रमणकारी के बल को अपने से कहीं अधिक जानते हुए भी उसका प्रतिरोध करना पड़ता है, प्राणों की बलि चढ़ानी पड़ती है, क्योंकि वही एकमात्र उचित और स्वाभिमान-सम्मत मार्ग होता है। पर यही तर्क अहिंसक सङ्घर्ष के लिए क्यों ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। यदि अहिंसक प्रतिरोध करते हुए प्राण देना मूर्खता हो तो उससे कम मूर्खता अपने से कहीं अधिक बलवान् का सामना क्षीण बल के द्वारा करके प्राण देने में नहीं है। इस आशा से क्रान्ति का प्रतिरोध करना कि सफल होने पर वह अन्याय मिटा सकेगी, अवश्य उचित है पर वह भी प्रतिरोधियों और क्रान्तिकारियों की आशा से ही सम्बन्ध रखती है। बिल्कुल इसी प्रकार की आशा अहिंसक प्रतिरोधी भी करता है। वह भी समझता है कि उसका अहिंसक विद्रोह यदि सफल हुआ तो वह अन्याय मिटाने में समर्थ होगा। स्पष्ट है कि अन्याय का मिटना क्रान्ति की सफलता पर ही निर्भर करता है और इस सफलता की आशा लेकर ही क्रान्तिकारी अग्रसर होता है। कोई कारण नहीं है कि शस्त्र-प्रतिरोध के हिमायती क्रान्तियों के इतिहास में अनेक बार उसकी सफलता देखने के बाद भी यदि उपर्युक्त आशा कर सकते हैं तो अहिंसक विद्रोह से वह आशा क्यों न की जाय, जो अपनी शक्ति और सम्भावना का परिचय पूर्णतः न दे सकने पर भी असफल सिद्ध हुई उद्घोषित नहीं की जा सकती। अबतक उसका पूरा प्रयोग नहीं किया जा सका है, पर जो किया गया है उतने में ही उसकी शक्ति और

सार्थकता का जो प्रमाण मिला है उसके आधार पर उपर्युक्त आशा करना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

इन बातों के सिवा गाँधी के अहिंसक विद्रोह की गतिविधि पर ध्यान दीजिए। शासन-सत्ता के विरुद्ध यदि अदमनीय अवज्ञा का प्रजनन किया जायगा तो उसका परिणाम क्या होगा? यह सम्भव ही नहीं है कि शासनसत्ता अपने अधिकार की छोटी-सी अवज्ञा को भी चुपचाप सहन कर ले। अवज्ञा का आश्रय ग्रहण करते ही आप शासन-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष सङ्घर्ष में आ जाते हैं। जब सङ्घर्ष आरम्भ हो जाता है तो शासकवर्ग के लिये दो में से एक ही मार्ग खुला रह जाता है। पशु-शक्ति अवज्ञा की समाप्ति के लिये या तो सत्याग्रह का उन्मूलन कर देने पर तुल जायगी या उसके सामने घुटने टेक देगी। यदि दो शक्तियाँ भिड़ीं तो एक की पराजय होनी चाहिए और दूसरे की विजय, अथवा समय पाकर दोनों को परस्पर के झगड़े तय करने होंगे। सतत सङ्घर्ष की अवस्था सदा बनी नहीं रहती है। प्रश्न यह है कि सत्याग्रह के सङ्घर्ष का उन्मूलन क्या हिंसात्मक प्रतिरोध के उन्मूलन की अपेक्षा अधिक सरलता के साथ करना सम्भव होता है? गाँधी स्वयं यह कल्पना करता है कि हिंसात्मक प्रतिरोध का उन्मूलन अहिंसात्मक सङ्घर्ष की अपेक्षा अधिक सरलता के साथ करना सम्भव होता है। अपने से सबल हिंसक शक्ति के सम्मुख हिंसात्मक प्रतिरोध का मिट जाना निश्चित होता है। पर सत्याग्रही सङ्घर्ष के सन्बन्ध में गाँधी की धारणा इसके सर्वथा विपरीत है। गाँधी की यह धारणा किसी विक्षिप्त की असङ्गत मानसिक उड़ान नहीं है। उसका आधार मनुष्य-जीवन और उसके स्वभाव की उन रहस्यमय तथा गूढ़ प्रवृत्तियों पर है जिनका दर्शन करने में गाँधी सफल हुआ है। वह अहिंसक सङ्घर्ष का दमन असम्भव समझता है क्योंकि अहिंसक सङ्घर्ष का बल ही उत्सर्ग में है। अशस्त्र-पाणि और हिंसारहित होकर भी अपने प्राणों का मोह परित्याग करके शक्ति और शस्त्र की उपेक्षा करनेवाले को पराजित

कौन कर सकता है ? वह अपने रुधिर से और अपने बलिदान से दो तरफा वार करता है। एक ओर शस्त्र प्रहार करने के लिये उद्यत हुए व्यक्ति के शस्त्र की गति को रोक देता है और दूसरी ओर उत्तरोत्तर उसका नैतिक आधार क्षीण करता जाता है। निहत्थे के रक्त का पान करने के लिये कदाचित् विशेष साहस की आवश्यकता होती है। शस्त्र का प्रदर्शन करनेवाले के विरुद्ध जिस निस्सङ्कोच भाव से कोई शस्त्र का प्रयोग करता है, उसी भाव से वक्षःस्थल खोले हुए शस्त्रहीन व्यक्ति पर प्रहार करना सरल नहीं होता। इतने पर भी यदि प्रहार किया तो सत्याग्रही के बलिदान का बोझ उसके लिये असह्य हो जायगा। प्रकृति ने मनुष्य को ऐसा स्वभाव प्रदान किया है कि वह पशुभाव से आच्छन्न होते हुए भी उससे ऊपर उड़ने की सामर्थ्य रखता है। पाशविक उत्प्रेरणाओं की पाशविक प्रतिक्रिया मानवान्तर् में होती है इसमें सन्देह नहीं, पर जैसे वह होती है वैसे ही मनुष्य की अन्तश्चेतना में मानवी भाव भी स्थित है जो तदनुकूल प्रेरणा पाकर उसी प्रकार प्रतिकृत हो जाता है। गाँधी मनुष्य-स्वभाव की इस विशेषता में विश्वास करता है और उसी को आधार बनाकर अपनी अहिंसक पद्धति की रूप-रेखा चित्रित करता है। उसकी धारणा है कि मनुष्य को, चाहे वह कितना भी पाशव भावाकीर्ण क्यों न हो, यदि मानवीय भावों की उत्प्रेरणा प्रदान की जाय तो एक समय आवेगा जब उसका मानव अनिवार्यतः जागरित होगा। शस्त्रधारी का सामना यदि अशस्त्र होकर, अन्याय का न्याय से, आघात का उत्सर्ग से किया जायगा, तो यह सम्भव ही नहीं है कि अहङ्कार और क्रोध में मत्त आक्रमणकारी भी उससे प्रभावित न हो और उसका सादंश जागरित न हो। यह सम्भव है कि सत्याग्रह के पथ पर आरूढ़ कुछ को, इसके पूर्व कि आक्रमणकारी में उपर्युक्त भाव जागरित किए जा सकें, अपने प्राणों की आहुति डालनी पड़े। पर यह जीवन उत्सर्ग न तो सत्याग्रह की पराजय का कारण होगा और न उसके उन्मूलन का। इसके विपरीत वह उत्सर्ग ही ऐसे वातावरण का

सर्जन करेगा जब आक्रमणकारी का नैतिक बल क्षीण होगा और सत्याग्रही की नैतिक शक्ति बढ़ जायगी।

इसी की ओर संकेत करके बापू कहता है "चर्चिल मुझे कुचल देना चाहते हैं, पर वे यह नहीं जानते कि अहिंसक सत्याग्रही को कुचलना सम्भव नहीं है; क्योंकि अपने भौतिक शरीर को बलि चढ़ाकर वह आत्मा की स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के लिये हर क्षण तैयार रहता है।" न्याय पथ पर आरूढ़ होकर जीवनोत्सर्ग की शिक्षा देनेवाली यह पद्धति इसी कारण अजेय है। जो यह समझता है कि अशस्त्र होकर आततायी के शस्त्र का शिकार होने में व्यर्थ की प्राणहानि है और जो यह समझते हैं कि इस प्रकार मिट जाना ही तो पराजय है वे भूल करते हैं। सत्याग्रह की अभिनव पद्धति का तो यही बल है। जिन्होंने अहिंसा के इस स्वरूप को नहीं देखा है और जिन्होंने जीवन के उस क्षेत्र का पर्यटन नहीं किया है जिसका स्पर्श उक्त अहिंसा करती है, उनके लिये यदि अहिंसक पद्धति की सजीवता तथा शक्ति की कल्पना करना भी कठिन हो तो कोई आश्चर्य नहीं। थोड़ी देर के लिये यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि आततायी का संदेश किसी के प्राण देने से जागरित नहीं हो सकता तो भी उससे सत्याग्रह की शक्ति में कमी नहीं आती। भले ही आततायी का मानव जागृत न हो, पर व्यापक जन-समाज का भाव और उनकी मानवीय शक्ति का उद्बोधन हो ही जायेगा। परिणामतः सत्याग्रह की परिधि बढ़ती चलेगी। आततायी की अवज्ञा और उसका अहिंसक प्रतिरोध उग्रतर होता जायगा और सङ्घर्ष उत्तरोत्तर तीव्र होता चलेगा। जहाँ आज जीवन को आहुत करनेवाले थोड़े से लोग थे वहीं उनका स्थान ग्रहण करनेवाले कल कई गुना अधिक दिखाई देंगे। दमन का वार और उत्सर्ग की शक्ति, दोनों के घर्षण में वह अग्नि पैदा होगी जिसमें आततायी का भस्म हो जाना अनिवार्य है।

मनुष्य प्रकृत्या उत्सर्ग और त्याग में विमोहक आभा और

उज्वल आलोक के दर्शन पाता है। वह सहज ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। भगतसिंह की गोली से सम्भव है सांडर्स की हत्या हुई हो, पर जगत को भगतसिंह के उस कार्य ने ही प्रभावित नहीं किया। उसकी मोहकता तो उन रस्सियों से ही उद्भूत हुई है जिसपर वह झूल गया। सैनिक रणस्थल में अपना पराक्रम दिखलाता है, पर मानव-हृदय को साधारणतः जो बात स्पर्श करती है वह यह नहीं कि उसने कितने शत्रुओं का वध किया वरन् यह है कि वह देश या धर्म के नामपर जीवन का होम कर देने के लिए आगे बढ़ा है। आदर्श के लिये, लक्ष्य के लिये, न्याय और सत्य के लिये, अपने को और अपने सर्वस्व को बलि चढ़ा देने के लिए जो भाव मनुष्य को उत्प्रेरित करता है और उस भाव से होकर वह जो त्याग करता है, उसमें जीवन की अन्तश्चेतना किसी सौन्दर्य की मोहकता की अनुभूति पाती है। यही कारण है कि वह अपने समूचे व्यक्तित्व से उसके द्वारा मुग्ध होता है। हिंसा का अवलम्बन करते हुए जो त्याग किया जाता है वह यदि मनुष्य को प्रभावित कर सकता है, तो क्या अहिंसक पद्धति के बिना किसी पशुता के विशुद्ध उत्सर्ग के पथ का आश्रय लेकर मानव हृदय के उन तारों को झंकृत करना सम्भव नहीं है? गाँधी की धारणा है कि उसका अनिवार्य परिणाम सिवा इसके दूसरा हो ही नहीं सकता। ईसा के समस्त उपदेशों और धार्मिक सिद्धान्तों में वह बल कहाँ है जो उन लोहे की कीलों में है, जिसके द्वारा उन्हें टिकरी में रूँध दिया गया। सिद्धार्थ के जीवन का यह अंश ही क्या सब से अधिक प्रभावशाली नहीं है, जब वे अपने वैभव के साथ-साथ नव जात राहुल और मुग्धा यशोधरा का परित्याग करके चल पड़े थे? बुद्ध की महिमा और ईसा की महाप्राणता उनके उपदेशों में ही परिमित नहीं है। प्रत्युत उनके मूल में वह उत्सर्ग है जिसका उत्कर्ष ही उनके जीवन की उपर्युक्त घटनाओं में प्रदर्शित हुआ है। उसी के फलस्वरूप सहस्त्राब्दियों के बीत जाने पर भी आज बुद्ध या ईसा का साम्राज्य मानव हृदय पर छाया हुआ है।

सत्याग्रह मनुष्य जीवन के उसी अङ्ग का, उसके अन्तर के उसी अंश का स्पर्श करना चाहता है। सत्याग्रह के पथ में सत्याग्रह की आदर्शवादिता, उसकी निर्भयता, उसका बलिदान, उसका कष्ट-सहन, उसका तप जहाँ अन्यायी और शस्त्र पर अपनी शक्ति को अविलम्बित कर रखनेवाले आततायियों को प्रभावित करता है, वहीं व्यापक जन समाज के हृदय को उज्जीवित करके उन्हें पथारूढ़ बनाने का कारण हो जाता है। यदि आततायी प्रभावित न हो तो भी जागरित जन-समाज के प्रचण्ड संघर्ष के फलस्वरूप उसे या तो परिवर्तित होना पड़ेगा अथवा सिर झुकाने के लिये बाध्य होना होगा। भले ही आततायी पशुभावावलिप्त हो पर सत्याग्रही की निष्ठा से उसे जो मानवी प्रेरणा बार-बार मिलेगी उसके त्याग और तप से जिस पूत वातावरण का सर्जन होगा वह न केवल हिंसक के प्रत्युत जन-समाज के उज्ज्वलांश को एक न एक दिन उद्‍बुद्ध कर देगा। वस्तुतः हिंसा की पराजय उसी स्थिति में होगी, अन्याय का भवन धराशायी होगा और अहिंसा के द्वारा स्थापित, अहिंसा के आधार पर नव जीवन और नव जगत् की स्थापना हो सकेगी। इस प्रकार गाँधी जी की अहिंसक क्रान्ति केवल बाह्य व्यवस्थाओं के परिवर्तन की चेष्टा नहीं करती और न केवल आततायी का प्रतिरोधमात्र करके शान्त होना चाहती है वरन् उससे कहीं अधिक गहरे प्रवेश करने का प्रयास करती है। वह मनुष्य-जीवन के मूल में स्थित भावों को बदल देना चाहती है और इस प्रकार उस आधार को ही परिवर्तित करती है जिसकी प्रतिच्छाया ही बाह्य व्यवस्थाओं में अभिव्यक्त होती है। इसी कारण गाँधी जी कहते हैं कि "मैं भाव-परिवर्तन में विश्वास करता हूँ और यह मानता हूँ कि अहिंसा के द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है। मुझे अंग्रेजों से द्वेष नहीं। मैं उनका मित्र हूँ और उनका हित चाहता हूँ। उनके हित और उनके उज्ज्वल हित के लिये ही यह आवश्यक है कि भारत को पराधीन बनाने वाली हिंसा पर स्थापित शैतानी सरकार का अन्त हो। मैं प्राण देकर

भी अंग्रेजों के हृदय परिवर्तन के लिए सचेष्ट रहूँगा।" युद्ध और संघर्ष तथा क्रान्ति की कल्पना को ही नहीं प्रत्युत व्यावहारिक रूप से उन सब को रक्त-पात हिंसा और द्वेष के भौतिक तथा पाशविक स्तर से ऊँचा उठा कर पुनीत और मानवीय नैतिक स्तर पर ले जाना अहिंसक-क्रान्ति-पद्धति की विशेषता है, जो संभवतः विश्व के इतिहास में बेजोड़ है। वर्णद्वेष, जाति और वर्गद्वेष, राष्ट्र और मानव-द्वेष की भयावनी आग में जलती वसुन्धरा के सम्मुख यही एक संदेश और मार्ग है, जो संघर्ष और युद्ध को भी रक्त से सने धरातल से ऊँचा उठा कर पावनता प्रदान करता है। आज इसी अहिंसा, असहयोग और सत्याग्रह की जिस पद्धति का प्रयोग बापू व्यापक और विस्तृत क्षेत्र में कर रहा है वह, न केवल व्यक्तिगत जीवन में अपितु सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्र में भी, सत्य और असहयोग की अहिंसात्मक पद्धति का आश्रय ले कर प्रश्नों के हल करने के उपाय और प्रयोग के रूप में जगत् के सामने है। आचार्य कृपलानी के शब्दों में कह सकते हैं कि "सत्य और अहिंसा को समस्त संघटित और सामूहिक जीवन के मूल में आधार के रूप में स्थित अनुभव करके गाँधी उसका प्रयोग राजनीति में कर रहा है। उस राजनीतिक क्षेत्र में प्रयोग कर रहा है जिसके सम्बन्ध में यह समझा जाता है कि वहाँ धूर्तता और पशु-बल ही अधिक उपयुक्त तथा सफल साधन है।" कहा जा सकता है कि राजनीतिक क्षेत्र में ऐसे सिद्धान्तों और ऐसी नीति का, जो अबतक उस दिशा में अप्रयुक्त रही हो, प्रयोग करना काल्पनिकता का ही परिचय देना है। पर गाँधी उन कोरे काल्पनिक सिद्धान्तवादियों में नहीं है जो यथार्थता की उपेक्षा करके केवल 'आदर्शवाद' को ग्रहण करते हैं और अपने सिद्धान्त की पवित्रता सोच-सोच कर संतुष्ट रहने में ही रस लेते हैं। वह उन सिद्धान्तवादियों में भी नहीं है जो अपने आदर्श को व्यावहारिक रूप देने का काम केवल देवताओं के भरोसे छोड़ देना चाहते हैं।

वह 'आदर्शवादी' है, पर आदर्श को व्यवहार में लाकर यथार्थ बनाना असम्भव नहीं समझता। वह स्वप्नाकाश में विचरण करते हुए भी ठोस और स्थूल धरती की मर्यादाओं से न अपरिचित है, न उसकी उपेक्षा करता है। विरोध, संघर्ष और विद्रोह के इतिहास में उसकी अहिंसक पद्धति नवीन धारा है। उस पद्धति की सुविचारित योजना उपस्थित करने में जहाँ वह सफल हुआ है वहीं उसका व्यावहारिक रूप बनाने में समर्थ भी हुआ है। उसकी दृष्टि में यदि आदर्श सत्य है तो उस सत्य की ओर सत्य मार्ग से जीवन का अभिगमन भी निश्चित होना ही चाहिए। इसी में जीवन की सार्थकता और आदर्श की दर्शनीयता है। यदि ऐसा नहीं होता और जीवन की धारा आदर्शाभिमुख हो ही नहीं सकती तो गाँधी की दृष्टि में उस आदर्श का कोई मूल्य ही नहीं है। यही कारण है कि आदर्श और व्यवहार में, साध्य और साधन में गाँधी भेद नहीं करता। वह मानता है कि जो आदर्श ऐसा हो जिसकी ओर जीवन गतिशील हो ही नहीं सकता, वह आदर्श ही मिथ्या है और उसके साथ-साथ जीवन भी वैसा ही है। इस दृष्टि को लेकर बापू सत्य और अहिंसा को आदर्श के रूप में ग्रहण करके उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करता है।

फलतः ऐसा व्यक्ति जिसमें 'आदर्शवाद' और 'यथार्थवाद' का समुचित समन्वय हुआ हो और जिसके जीवन की विशेषता मन और शरीर, विचार और क्रिया की एकात्मता में प्रदर्शित हुई हो, वह अपने आदर्श को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हुए बाह्य परिस्थितियों तथा जीवन की जटिलताओं के प्रति आँखें नहीं मूँद सकता। गाँधी भली भाँति जानता है कि राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में सत्य और अहिंसा का प्रयोग अपनी विशेष कठिनाइयों से परिपूर्ण है। आज के जगत् में उन वर्गों का अस्तित्व और उनकी ही प्रभुता है, जो हिंसा के द्वारा हिंसा के आधार पर प्रतिष्ठित समाज और व्यवस्था से लाभ उठा रहे हैं। स्वभावतः ऐसे लोगों का स्वार्थ उस हिंसा में ही स्थिर

तथा निहित है। अतः जो उसके सहारे वैभव और प्रभुता, भोग और रस का आस्वादन आज के जगत् में कर रहे हैं, वे कब और क्यों उसका परिवर्तन सहन कर सकेंगे ? जो है उसे बनाए रखना ही उनका एक-मात्र लक्ष्य, उनकी एकमात्र नीति और उनका एकमात्र प्रयास होगा।

ऐसी स्थिति में आधुनिक व्यवस्था के विरोधियों का समूल उन्मूलन करने के लिये समस्त उपलब्ध हिंसात्मक शक्तियों का आश्रय ग्रहण करने में वे कभी न चूकेंगे। अपने अस्तित्व को खतरे में देख कर उसकी रक्षा करने के लिये नये-नये साधनों का संग्रह करते जायेंगे। संस्कृति, न्याय और मानवता आदि पुनीत शब्दों के आवरण में अपना रूप छिपाने की भरपूर चेष्टा की जायगी। यदि आवश्यकता होगी तो भयावना आघात और दमन प्रवर्तित कर दिया जायगा। ऐसे लोगों से यह आशा करना कि वे केवल औचित्य और आदर्श के नाम पर कोरे उपदेश के सहारे अपनी दुनिया को उत्सर्ग कर देंगे, आत्म-प्रवंचन के सिवा कुछ नहीं है। गाँधी यद्यपि मानव-जीवन के शुभांश में विश्वास करता है, पर उस विश्वास का यह अर्थ नहीं है कि वह शुभ की सुपुप्त स्थिति की संभावना स्वीकार नहीं करता। वह यद्यपि विरोधी के हृदय-परिवर्तन की इच्छा रखता है, पर यह विश्वास नहीं करता कि वह परि-वर्तन आप से आप घटित हो जायगा। शुभ यदि धूमिल हो गया है, यदि उस पर अशुभ की प्रभुता छा गयी है, तो शुभ के जागरण के लिये, गाँधी, अशुभ से संघर्ष अनिवार्यतः अपेक्षित और आवश्यक समझता है।

यही कारण है कि उसकी अहिंसा संघर्षात्मक रूप ग्रहण करके अवतरित होती है। इस संघर्ष का बोझ भी किसी न किसी को उठाना होगा और गाँधी अपनी योजना में इस भार को वहन करने के लिये योग्य तथा उचित वर्ग को खोज निकालता है। संघर्ष उन्हीं को करना होगा जो आज की दुनिया द्वारा दलित, पीड़ित और सताए हुए हैं। जिनके वक्षःस्थल पर अन्याय और अत्याचार का नर्तन हो

रहा है, जो धरती पर गिरे हुए लोट रहे हैं, उन्हीं से यह आशा की जा सकती है और उन्हीं का यह कर्तव्य होगा कि वे उठें और अपनी दुनिया को बदल दें। गाँधी इसी वर्ग का आवाहन करता है। उपनिषदों की वीरवाणी पुकार-पुकार कर कहती है "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।" असहाय, निरुपाय, निर्दलित और आबद्ध जनवर्ग को उठने-जागने और लक्ष्य प्राप्त किए बिना शान्त न होने के लिये मानवता का नैतिकभाव सदा आवाहन करता रहता है। बापू स्वयं इस युग में उस चिरन्तन भाव की पुकार है, वह ध्वनि है जो तमोभिभूत मोह-विभ्रान्त मानव को निर्भय होकर अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए आमन्त्रित करती है।

गाँधी उन लोगों का आवाहन भी उपर्युक्त संघर्ष में सम्मिलित होने के लिये करता है जिनका नैतिक भाव सहज ही जागरित है और जो अन्याय तथा अनीति का प्रतिरोध करना जीवन का धर्म समझते हैं। संघर्ष के लिए उत्थित जन-वर्ग को सत्य और अहिंसा का आधार प्रदान करके गाँधी धर्म-युद्ध का व्यूहन करता है और इस प्रकार अशुभ से युद्ध-योजना की रचना करता है। फलतः यह समझना भूल है कि राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा के प्रयोग की पद्धति उपस्थित करने की कल्पनामात्र करके बापू विशुद्ध काल्पनिक विचारक का अभिनय कर रहा है। वह अहिंसक संघर्ष के द्वारा ऐसी क्रान्ति चाहता है जो उस नई दुनिया का निर्माण करे जो हिंसा से अनाक्रान्त हो और जहाँ मानव स्वतन्त्र हो सके। अशुभ से संघर्ष करने के लिये वह दलितों को उठाता है पर उठाता है इस प्रकार कि वे शुभ को लेकर उत्थित हों। अहिंसक क्रान्ति की अपनी विशेषता होती है। जिस युद्ध में अशस्त्र होकर जगत् की सारी पशुता का सामना निर्भयता पूर्वक करना हो, जिसमें विरोधी के प्रति भी यथासम्भव प्रतिशोध या द्वेष के भाव को उद्बुद्ध न होने देना हो और जिसमें स्वयं कष्ट-सहन करके उत्सर्ग के पथ की यात्रा करनी हो,

जिसमें बलिदान ही बल हो उस पद्धति का अवलम्बन करने वाले सैनिक में विशेष-शक्ति और गुणों की आवश्यकता स्पष्ट है।

यही कारण है कि अहिंसक रणयोजना में उसके प्रवर्तक द्वारा सत्याग्रही सैनिक के मनोबल और चरित्रबल पर अत्यधिक जोर डाला गया है। सभी प्रकार की क्रान्तियों की भाँति गाँधी की अहिंसक क्रान्ति की कल्पना में भी क्रान्ति का सूत्रपात पहले मानव के अन्तर् में होना आवश्यक है। यह समझना भूल है कि क्रान्ति केवल बाह्य कारणों के फलस्वरूप बाह्य में ही घट जाती है। यह सत्य है कि जब परिस्थितियाँ असह्य हो उठती हैं तो उनके परिणाम स्वरूप बहुधा क्रान्ति हो जाती है, पर यह सत्य नहीं है कि परिस्थितियाँ जबतक असहनीय नहीं होतीं तबतक क्रान्ति होती ही नहीं। क्रान्तियों के इतिहास का अध्ययन कीजिए और आप देखेंगे कि अति विकट और असहनीय स्थिति के रहते हुए भी क्रान्ति नहीं हुई और ऐसे समय जब परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत उन्नत हो गयी थीं वे घट गयीं। यह बात सिद्ध करती है कि क्रान्तियों का कारण केवल भौतिक नहीं हुआ करता और न केवल ये विशुद्ध भौतिक घटनामात्र हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि क्रान्ति केवल वही वर्ग करता है जो स्थापित व्यवस्था से त्रस्त तथा निर्दलित होता है। इसके विपरीत हम यह पाते हैं कि क्रान्ति का नेतृत्व करने वाला वर्ग बहुधा वह रहा है जो स्थापित व्यवस्था से परिपालित था, जिसका स्वार्थ उसी में सन्निहित था और जिसके हितों की रक्षा के लिये ही उक्त व्यवस्था परिचालित थी।

ऐसे ही वर्गों में से क्रान्तिकारी निकले हैं जिन्होंने अपनी ही व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की पताका फहराई है। जो लोग वस्तुतः उत्पीड़ित थे, जिनके अधिकार और हित का निर्दलन होता रहा है तथा जिनकी रक्षा के लिए क्रान्तियाँ की गयीं, वे या तो सोते रह गए या नेताओं का अनुगमन करने में ही तुष्ट रहे। इस स्थान पर क्रान्तियों

के इतिहास की विवेचना करना मेरा लक्ष्य नहीं है, पर निर्विवाद रूप से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि असह्य बाह्य परिस्थितियों के सिवा अनेक अमूर्त और अदृश्य कारणों के फलस्वरूप ही क्रान्तियाँ होती रही हैं। आज भी ऐसा ही होता है और भविष्यत् में भी ऐसा ही होता रहेगा। यह होते हुए भी एक बात समानरूप से जो सर्वत्र मिलती है, और चाहे जहाँ, जब, जिस युग में भी क्रान्तियाँ हुई दिखाई देती हैं, वह यह है कि क्रान्ति का सूत्रपात पहले मनुष्य के मानसिक क्षेत्र में, उसकी कल्पना और उसके विचारों में ही होता है, जो व्यावहारिक रूप ग्रहण करके, काल पाकर, महती सक्रियता और प्रचण्ड उलट-पुलट में मूर्त होता है।

भौतिक परिस्थिति असह्य हो या न हो पर समाज और जीवन-सम्बन्धी कल्पना जब बदल जाती है, जब प्रचलित धारणाओं और परम्पराओं के औचित्य के सम्बन्ध में विचार बदल जाता है, जब अधिकारों और कर्तव्यों की नई व्याख्या हृदय में होने लगती है और जब उन बातों का मूल्य, जिन्हें जीवन में हम मूल्यवान् समझते हैं बदल जाता है तब जनवर्ग का मानस विक्षुब्ध हो जाता है। नए विचारों के आधार पर उद्भूत नई कल्पना से पूर्णतः विपरीत स्थिति पाकर मनुष्य के अन्तर् का विचलित हो उठना स्वाभाविक है। मन की यह क्रान्ति ही वास्तव में विद्रोह का प्रजनन करती है; क्योंकि "क्या है और क्या होना चाहिए" सम्बन्धी धारणा और विचार मन में ही उपजते हैं जो क्रान्ति के अग्रदूत तथा प्रवर्तक होते हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि जीवन के मूल्य का अङ्कन करने वाले प्रचलित नैतिक आदर्शों का परिवर्तन और नए आदर्शों की हृदय में स्थापना से ही क्रान्तियाँ होती हैं।

क्रान्ति-विज्ञान के इस मौलिक तथ्य से गाँधी परिचित है। यही कारण है कि उसकी पद्धति में मनुष्य की मानसिक क्रान्ति को ही

प्रमुख पद प्रदान किया है। जो त्रस्त और विताड़ित तथा पददलित हैं, उनके हृदय को पुनरुज्जीवित करने और विद्रोही बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उनके मानसिक क्षेत्र में क्रान्ति कर दी जाय। जीवन का मूल्य आँकने वाले नए आदर्शों की कल्पना को जागरित करना ही उसका एकमात्र उपाय है। गाँधी उनके नैतिक भाव को उद्बुद्ध करके इस लक्ष्य की पूर्ति करना चाहता है। नैतिक भाव के जागरण से ही जन-समाज प्रचलित निर्दलन और अन्याय-मूलक व्यवस्था को अनैतिक समझेगा। उसी अवस्था में उसके लिये यह अनुभव करना सम्भव होगा कि अन्याय करने वाले की अपेक्षा वह अधिक पापी और पतित है जो चुपचाप अन्याय के सम्मुख शिर झुका देता है अथवा अन्यायी को सहयोग प्रदान करता है। अन्याय के अस्तित्व का उत्तरदायित्व जितना आततायी पर है, उससे अधिक उन पर है जो उसे सहन कर लेते हैं और बिना प्रतिरोध के उस धारा को अबाध प्रवाहित होने देते हैं।

स्पष्ट है कि नैतिक भाव का जागरण तथा तदनुकूल आचरण करने की क्षमता उन्हीं में हो सकती है जिनकी आत्मा बलवती हो और जिनके चरित्र का विकास हो चुका हो। पशुबलाश्रित शक्तियों का विरोध करने के लिये जिन्हें उठना है, उनमें उन समस्त मानवीय गुणों का उदय होना नितान्त आवश्यक है जिनसे जीवन शोभित होता है। जन-समाज जब सङ्गठित और बलशील हो, जब व्यक्तिगत जीवन भेद-भाव, भय, स्वार्थ तथा तुच्छ हितों के सम्पादन की इच्छा से दूर हो चुका हो, तभी वह सुदृढ़ रूप से सङ्गठित होकर शक्ति-लाभ कर सकता है। अशुभ और कलुष शक्तियों से असहयोग करने की क्षमता साधारण बात नहीं है और न प्रचण्ड पशु-शक्ति के सम्मुख जीवन को हथेली पर रखकर खड़ा हो जाना ही सरल है। सत्य और न्याय के लिये स्वेच्छापूर्वक कष्ट का आलिङ्गन करने को अग्रसर होना मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास का ही द्योतक है। सत्याग्रही यदि

उपर्युक्त पथ का यात्री है तो निस्सन्देह उसमें चरित्रबल की अनिवार्य आवश्यकता है।

पुरुषार्थ, साहस, वीरता, निर्भयता, बलिदान, तप और स्वावलम्बन, नियन्त्रण और सङ्गटन आदि प्रवृत्तियों के उदय पर गाँधी इसी लिये जोर देता है। वह अहिंसक प्रतिरोधी के लिये यह आवश्यक समझता है कि उसमें आदर्श-पूजा और श्रद्धा तथा विश्वास का प्रकाश फैले। जब तक यह न होगा तब तक अशुभ और अमानवीय भावों के विरुद्ध, केवल इसलिये नहीं कि अन्याय और अत्याचार द्वारा हम सताए हुए हैं बल्कि इसलिये भी कि अन्याय का आधार हिंसा है और वह स्वयं अनैतिक है, प्रतिरोध करने के लिये उठ खड़ा होना सम्भव न होगा। चरित्र का विकास और चरित्र का बल उन सबके लिये आवश्यक होता ही है जो अत्याचार के विरुद्ध उठने की हिम्मत करते हैं। न्याय के लिये ही नहीं वरन् स्वार्थ के लिये भी जब शस्त्र उठाया जाता है तब शस्त्र उठानेवाले के हृदय में साहस, वीरता, नियन्त्रण, निर्भयता आदि गुणों का उदय एक सीमा तक आवश्यक होता ही है। सैनिकों की शिक्षा-दीक्षा का हेतु उनमें उपर्युक्त भावों का जागरण करना ही होता है—फिर अहिंसात्मक सङ्घर्ष के लिये तो अहिंसक सैनिक में उनकी आवश्यकता अपेक्षाकृत कहीं अधिक होना अनिवार्य है।

जिस सङ्घर्ष में आत्मबल ही मुख्य हो, जिसमें हिंसा का सामना प्रतिहिंसा-शून्य होकर करने की योजना हो और जिसमें प्रतिरोध प्रतिशोधहीन होकर करने में ही सफलता की आशा की जाती हो उसमें लिप्त सैनिक में अक्षुण्ण निर्भयता, अदम्य साहस तथा आदर्श के प्रति अविचल श्रद्धा और विश्वास की कितनी आवश्यकता है इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। इसी कारण हम यह देखते हैं कि अहिंसक युद्ध की योजना में चरित्र की शुद्धि और विकास को आवश्यक और प्रमुख अंश माना गया है। चरित्र के विकास

बिना न वह मानसिक क्रान्ति सम्भव है जिसकी सृष्टि गाँधी करना चाहता है, और न तदनुकूल आचरण करने की क्षमता ही प्राप्त हो सकती है कि जिसके द्वारा वह जगत् को परिवर्त्तित करना चाहता है। फलतः गाँधीजी व्यक्तिगत चरित्र की ओर अधिकाधिक ध्यान देने की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं। हम बार-बार यह सुनते हैं कि आत्म-समीक्षा करो। दूसरों की अपेक्षा अपनी ओर देखो, अपने दोषों का परिहार करो और अपने चरित्र का विकास करो। अपनी आत्मा का अवलम्बन करो, अपने बल का भरोसा करो और आत्म-शुद्धि के द्वारा उस बल का सञ्चय करो जिसका आश्रय ग्रहण करके ही अहिंसक सङ्घर्ष का सूत्रपात किया जा सकता है।

स्मरण रखना चाहिए कि असहयोग तथा अप्रतिहत अवज्ञा के रूप में अहिंसक सङ्घर्ष को व्यापक विद्रोह में परिवर्त्तित कर देना बापू की कल्पना है, जिसके द्वारा वह उन समस्त वर्गों, शक्तियों, व्यवस्थाओं और विधानों तथा विचारों को भी ललकारना चाहता है जो हिंसा तथा स्वार्थ पर, कामना तथा भोग पर, अन्याय तथा अनीति पर स्थापित हैं। उसकी अहिंसा से जो अध्यात्म-साधन करना चाहते हैं वे प्रसन्नतापूर्वक वैसा कर सकते हैं और उनके लिये स्थान भी है, पर गाँधी की अहिंसा ऐहिक जगत् की समस्याओं के सुलझाने के लिये आज की अनीति-मूलक व्यवस्थाओं को परिवर्त्तित करने के लिये, निर्दलितों और शोषितों के पुनरुज्जीवन के लिये और मानवता पर आए सांस्कृतिक सङ्कट को टालने के लिये सजीव साधन के रूप में प्रस्तुत है। उस साधन को ग्रहण करने वाले में पात्रता की आवश्यकता होगी ही। सैनिक में आत्मा और चरित्र का वह बल हो जो उसे अपने ऊपर अधिकार स्थापित करने की क्षमता प्रदान करे। आत्म-शासित मानव ही अपनी वसुन्धरा को मानवीय और पुनीत बना सकेगा।

यही है गाँधी की शैली जिसका प्रयोग वह व्यापक राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में कर रहा है। अपनी नवीनता और अभिनवता

के कारण वह लोगों की समझ में न आती हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। मनुष्य का स्वभाव शंकाशील होता ही है। इसके सिवा अपने परम्परागत धारणाओं के बन्धन से मुक्त होना भी बहुधा सरल नहीं हुआ करता। जिस प्रणाली को लेकर बापू सामने आया है वह आधुनिक जगत् की विचारधाराओं के सर्वथा प्रतिकूल है अतः उसे कंठगत करने में कठिनाई का अनुभव होता ही है। जहाँ यह समझा जाता हो कि राजनीति में धूर्तता. पाखंड और पशु-शक्ति का ही बोल-बाला है और उसी का सहारा लेकर सफल होने में राजनीतिज्ञता है, वहाँ बापू के नैतिक प्रयोग को भली भाँति समझ लेना दुष्कर हो जाता है। यूरोप के लिये तो उसे समझना और भी कठिन हो जाता है क्योंकि बापू में जिन भावों का उदय हुआ है वे वही हैं जो सहस्राब्दियों के सांस्कृतिक इतिहास में पूर्व के मानस-क्षितिज पर उदय होते, उत्तरोत्तर आरोहण करते और परिपुष्ट होते गए हैं। यूरोप की धारा अबतक परिपक्व स्थिरगति को प्राप्त नहीं कर सकती है। उसकी अल्प-वयस्क शिशु-संस्कृति गत पाँच-छ शताब्दियों में कतिपय पलटा खाने के बाद जिस दिशा की ओर चल पड़ी उधर दुर्भाग्य से ऐसे विचारों के अंकुरित होने के लिए उर्वर क्षेत्र था ही नहीं।

फिर भला यूरोप के विद्वान् तथा नायक पत्रकार और राजनीतिज्ञ यदि उसे समझने में असफल हों, उसके पथ के संबन्ध में नितान्त भ्रम में रहें और उसकी पद्धति का गलत स्वरूप समझें तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। यूरोप की बात तो जाने दीजिए, इस देश के ऐसे लोग भी जिनके व्यक्तित्व के बाह्याभ्यंतर पर यूरोप छा गया है और जो भारतीय कलेवर रखते हुए भी यूरोप से उद्भूत ध्वनि, धारणा तथा संस्कार से प्रभावित और ओत-प्रोत हैं, भ्रम में पड़ जाते हैं। ऐसे लोग बहुधा अपना भ्रान्त मस्तिष्क लेकर गाँधी की पद्धति पर दृष्टिपात करते हैं और उसकी व्याख्या करते हुए उसके वास्तविक रूप को नहीं, प्रत्युत अपने भ्रान्त अन्तःकरण की विकृत छाया को ही अभिव्यक्त कर देते हैं।

अहिंसकक्रान्ति का रचनात्मक पहलू

सभी क्रान्तियों के सदा दो अङ्ग हुआ करते हैं। उसका एक स्वरूप ध्वंसात्मक होता है जो वर्तमान का सर्वथा उन्मूलन और नाश करने के लिये अग्रसर होता है। क्रांति का जब यह स्वरूप प्रकट होता है तब वह रक्त का परिधान पहन कर प्रचण्ड हाहाकार करती आगे बढ़ती है, और जो सामने पड़ता है उसे उखाढ़ फेकती हुई चतुर्दिक् विनाश का दृश्य उपस्थित कर देती है। पर क्रान्ति का यही एक स्वरूप नहीं है। उसका दूसरा अङ्ग भी है जो रचनात्मक होता है। विनष्ट वर्तमान के शव पर नव का निर्माण करना भी इसका काम होता है। बिना इन दोनों अङ्गों की पूर्ति के कोई क्रांति सर्वांश में सफल नहीं कही जा सकती। सफलता तो दूर रही यदि क्रान्ति तोड़-फोड़ करने के बाद नव की रचना न कर सके तो फिर वह पूर्णतः असफल कही जाती है। इसी कारण क्रान्ति के दूसरे अङ्ग को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक मानना पड़ता है। एक पथ है और दूसरा है लक्ष्य। क्रांति रक्तवर्णा होती है, जब वर्तमान असह्य हो जाता है, जब प्रचलित धारणाओं, कल्पनाओं और विचारों में मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं, जब वर्तमान का मूल्य समाज की दृष्टि में बदल जाता है और जब नवोद्भूत कल्पना और विचार तथा स्थापित व्यवस्था के बीच गहरी खाई उत्पन्न हो जाती है तब क्रान्ति का सूत्रपात अपेक्षित हो जाता है। नवोत्पन्न मानसिक कल्पना को मूर्त रूप प्रदान करने के लिये समाज में गहरी विकलता और उग्र उत्कण्ठा उत्पन्न हो जाती है, पर यह तब तक संभव नहीं होता जब तक बने-बनाए ढाँचे को मिटा न दिया जाय। जो वर्तमान के अधिकारी होते हैं वे परिवर्तन की भावना का प्रतिरोध करने पर तुल जाते

हैं। फलतः भविष्य और वर्तमान का संघर्ष अनिवार्य हो जाता है और यही क्रान्ति की वेगवती तथा विनाशिनी धारा के रूप में प्रकट होता है। परन्तु इस धारा का प्रवाह न लक्ष्यहीन होता है और न निष्प्रयोजन। क्रान्ति यदि विनाश का पथावलम्बन करती है तो उसका लक्ष्य भी रचनात्मक ही होना चाहिए और यदि वह लक्ष्य की पूर्ति न कर सके तो उसकी सफलता भी नहीं कही जा सकती। अतः यदि क्रान्ति का प्रवर्तन हो तो यह आवश्यक और वाञ्छनीय है कि वह अपने दोनों रूपों में अभिव्यक्त हो।

गाँधी की अहिंसक क्रान्ति भी अपने इन दोनों रूपों में ही जगत् के सामने प्रस्तुत है। उसके एक अंग की विवेचना पूर्व के पृष्ठों में की जा चुकी है, पर उसके दूसरे अंग पर भी दृष्टिपात किए बिना उसकी समीक्षा पूरी न होगी। अहिंसक क्रांति सङ्घर्षात्मक और आक्रमणात्मक सत्याग्रह के रूप में जहाँ एक ओर आज की व्यवस्था को उलटने-पलटने का प्रयास करती है वहीं दूसरी ओर नए समाज की रचना करने के लिये भी सचेष्ट है। वह ऐसे समाज की रचना करना चाहती है जिसमें उसे मानवता का अभ्युदय, श्रेय और उत्कर्ष दिखाई देता है। पूर्व के पृष्ठों में बताया जा चुका है कि गाँधी की दृष्टि ढूँढ़ती है कि मानवता पर आए सङ्कट का और उसकी आधुनिक दुर्दशा, पीड़ा तथा अपकर्ष का मूल कारण क्या है? वह मानता है कि मनुष्य का पशु न केवल जागरित है अपितु अधिकारारूढ़ है; अतः मनुष्य अपने नैतिक और अहिंसक पथ से विरत हो गया है, जिसके फलस्वरूप उसकी सारी व्यवस्था और संस्कृति हिंसा तथा अनीति पर स्थापित हो गई है। मनुष्य को आज अपने इसी रूप और व्यवस्था के प्रति विद्रोह करना है; हिंसा पर जो स्थापित है उसे मिटाना है और इस प्रकार मिटाना है कि वह अपने सारे आधार के साथ मिट जाय। जो मिट जाय उसके स्थान पर ऐसी नई व्यवस्था की स्थापना भी करनी है जिसकी मूलवृत्ति अहिंसा हो। फलतः अहिंसक क्रान्ति की कल्पना जहाँ सत्या-

ग्रह तथा असहयोग के रूप में संघर्षात्मक होकर अवतरित होती है वहीं गाँधीजी का आर्थिक रचनात्मक कार्यक्रम उस विधायक कल्पना का प्रतीक है जिसे सजीव, मूर्त्त और व्यावहारिक रूप देकर वह अहिंसक समाज की स्थापना का स्वप्न देखता है। जैसे विद्रोह और सङ्घर्ष के क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग सत्याग्रह के रूप में सामने आता है वैसे ही नए समाज की रचना अहिंसा के आधार पर करने का प्रयोग रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा किया जा रहा है। उस कार्यक्रम के पीछे मूल-भावना क्या है इसकी विवेचना आगे की जायगी, पर यहाँ उसकी एक विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट कर देना आवश्यक ज्ञात होता है। गांधीजी की सारी शैली की विशेषता यह है कि वह संघर्ष और विनाश तथा संघटन और निर्माण की दोनों प्रक्रियाओं को साथ-साथ लेकर चलती है। जगत् में अबतक जहाँ कहीं भी क्रान्ति हुई है, वहाँ पहले विनाश की प्रक्रिया चरितार्थ की गयी और उसकी पूर्ति के अनन्तर निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। क्रान्ति के इस स्वरूप में जो दोष है वह सहज ही दृश्य है, जिसे इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करते ही आप देख सकते हैं।

क्रान्तियों का अध्ययन कीजिए तो आप देखेंगे कि विद्रोह जब एक बार भड़कता है तो इधर-उधर आँखें मूँद कर तोड़-फोड़ करता है, पर जब विनाश की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है तो बहुधा उसके बाद क्रान्ति की धारा रुकती हुई, रुक कर पङ्किल होती हुई और अन्ततः सूखती हुई दिखाई देती है। स्थापित वर्तमान को मिटाने का कार्य तो वह बहुधा सम्पादित कर देती है, पर नवीन की स्थापना का लक्ष्य अक्सर अधर में ही लटकता रह जाता है। यह भी देखने में आता है कि बहुधा क्रान्ति के गर्भ से ही ऐसी शक्तियों का प्रजनन हो जाता है. जो उसके सारे किए-कराए को मटियामेट करके स्वयं उसी को उदरस्थ कर जाती हैं। इतिहास में थोड़े-बहुत ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहां क्रान्ति ने विनाश के बाद निर्माण-क्रिया का सूत्र अपने हाथों

में लिया है और रचनात्मक पथ पर बेग से बढ़ चली। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण रूस की बोल्शेविक क्रान्ति है, जिसने स्थापित-व्यवस्था को समूल छिन्न-भिन्न करके अधिकार-सत्ता अपने हाथों में ली और तब से निरन्तर नव-समाज की रचना के कार्य में संलग्न है। रूसी क्रान्तिकारियों के पास सौभाग्य से लेनिन के समान कर्मठ नेता था, स्टालिन के सदृस अनुयायी था, मार्क्स द्वारा प्रवर्तित समाजवादी आदर्श था और नेता तथा आदर्श से अनुप्राणित तथा उत्प्रेरित वह भावाना थी जिसने रूसी क्रान्तिकारियों को पथावलम्बी बना दिया।

ऐसे और भी कतिपय उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं। पर इन उदाहरणों में भी दो बातें मुख्यरूप से स्पष्ट दिखाई देती है। पहली तो यह कि क्रान्ति के विधायक रूप का दर्शन तबतक होता ही नहीं जबतक क्रान्तिकारी-वर्ग शासन-सत्ता पर अपना अधिकार स्थापित नहीं कर लेता। दूसरी बात यह है कि भयावनी हिंसा, रक्तपात और बलिदान के बाद सफल हुई क्रान्ति के अधिकारारूढ़ होने पर भी वर्षों का समय अपना पैर जमाने में लग जाता है। कभी कभी तो इसमें इतना समय लग जाता है कि वह आरम्भिक भावना, प्रेरणा, आदर्श-वादिता और प्रवृत्ति शेष नहीं रह जाती जिसे ग्रहण करके क्रान्ति प्रवर्तित हुई रहती है। यदि सौभाग्य से वे बातें बची रह गईं तो भी नव-निर्माण के कार्य को पूरा करने के लिये उसे पुनः रुद्ररूप धारण करके रक्त-सरिता से ही पार होना पड़ता है। हम यह देखते हैं कि जिनके हाथों में अधिकार-सत्ता आती है वे क्रान्ति की रक्षा के नाम पर, भावी सन्तति के सुख और कल्याण के नाम पर जिस नई व्यवस्था और अवस्था को स्थापित करना चाहते हैं, उसे स्थापित करने के पूर्व बीभत्स शोणिताभिषेक से अभिषिक्त होने के लिये बाध्य होते हैं। भावी सन्तति के सुख के लिये वे वर्तमान सप्राण मनुष्य का निर्दलन करते देखे जाते हैं। रूस में स्टालिन ने, चीन में च्याङ्ग ने, तुर्की में कमाल ने, जर्मनी में हिटलर ने, इटली में मुसोलिनी ने जो किया वह

यही था। जो विरोधी थे वे तो क्रान्ति के नाम पर मारे ही गए पर वे सहयोगी भी खड्ग को समर्पित कर दिए गए जो क्रान्तिचक्र के प्रवर्त्तक समझे जाते थे। संहार की इस लीला की उपेक्षा नहीं की जा सकती और न क्रान्ति के इस रूप को दृष्टिपथ से ओझल ही किया जा सकता है। जब हम क्रान्तियों के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो ये दोनों बातें सामने आ जाती हैं।

फलतः मनुष्य के सम्मुख क्या एक महान् नैतिक प्रश्न नहीं उठ खड़ा होता? प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी अव्यक्त और अमूर्त मानसिक कल्पना के नाम पर मानव-रक्त का तर्पण करना उचित और वांछनीय हो सकता है? इतिहास साक्षी है इस बात का कि कल्पनाएँ कभी स्थायी नहीं हुआ करती हैं। धारणाओं, विश्वासों, और आदर्शों का स्वरूप बदलता रहा है तथा समाज और व्यक्ति के जीवन में उनका मूल्य चढ़ता और गिरता रहा है। हम देखते हैं कि आज जिस कल्पना में समाज अपने जीवन के आदर्श की पूर्ति देखता है, जिन बातों को नितान्त सत्य समझता है और जिन में सदा के लिये अपने मुक्ति का मार्ग निहित अनुभव करता है वे भी कल तिरस्कृत होती हैं, उनका महत्त्व और मूल्य नष्ट हो जाता है और जीवन दूसरी धारणाओं का मूल्य स्थापित करने लगता है। कोई नहीं कह सकता कि जिसे हम आज उचित समझते हैं, जिस कल्पित विधान, व्यवस्था और योजना में समाज की आवश्यकता और उसके आदर्श की पूर्ति देखते हैं वह त्रिकाल के लिये मान्य रहेगी। संभव है कल मनुष्य के सुख के लक्ष्य की और आदर्श की कल्पना ही बदल जाय। संभव है जिस कल्पना के लिये आप संहार की भयावनी आग लगाते हैं वह व्यावहारिक ही न हो। संभव है जिस व्यवस्था को स्थापित करके आप अपने लक्ष्य तक पहुंचने की आशा करते हों, उसके द्वारा वहाँ तक पहुँचना संभव ही न हो। आखिरकार आप की कल्पना आपका मानस-चित्र ही तो है। जबतक वह प्रयुक्त नहीं होती, अव्यक्त से

व्यक्त नहीं होती, साकार रूप ग्रहण करके सामने नहीं आती तब तक उसकी वांछनीयता, उपयुक्तता तथा औचित्य के संबन्ध में निर्णय प्रदान करना कैसे सम्भव है ? सम्भव है वह सचमुच वांछनीय हो, पर उसी प्रकार यह भी संभव है कि वह बिल्कुल अवांछनीय, अनुपयुक्त तथा अनुचित सिद्ध हो। मनुष्य की बुद्धि और शक्ति परिमित है, जिसका स्वभाव ही भूल करना है। जीवन और जगत् की समस्याओं को सर्वांश में देखना मनुष्य के लिये सरलता से संभव नहीं हुआ करता। उसके दृष्टिकोण पर और उसके देखने की पद्धति तथा शक्ति पर न जाने कितनी बाह्य और आन्तरिक परिस्थितियों तथा उपसर्गों का प्रभाव होता रहता है। ऐसी दशा में किसी अव्यक्त कल्पना के लिये तबतक, जबतक वह साकार न हो गयी हो, प्रयोग के बाद अपनी उपयुक्तता सिद्ध न कर चुकी हो, लोक-कल्याण और जीवन के इष्ट आदर्श की पूर्ति के सम्बन्ध में अपनी सक्षमता प्रमाणित न कर चुकी हो और समाज के हित के लिये अपने विरोधियों तथा पथावरोधियों का लोप आवश्यक और अपेक्षित प्रमाणित न कर चुकी हो, उन्मत्त होकर मानव-रक्त को पान करना और मनुष्य के प्राणों की पवित्रता भूलकर उसे अपनी सनक के घाट उतार देना कहाँ तक उचित है ? यह नैतिक प्रश्न स्वभावतः सामने उठ खड़ा होता है जिसका उत्तर उन्हें देना होगा जो क्रान्ति के विनाशक तथा रचनात्मक दोनों स्वरूपों को रक्तावगाहन कराने के लिये शस्त्र उठाने का साहस करते हैं। स्पष्ट है कि हिंसात्मक क्रान्तियों में उपर्युक्त सारी स्थिति अव्यक्त कल्पना के साकार रूप ग्रहण करने के पूर्व ही आती है। जहाँ उचित यह है कि साकार रूप प्रदान करने के बाद उसका प्रयोग होने दिया जाय और प्रयोग के फलस्वरूप पहुँचे परिणाम के प्रकाश में यदि आवश्यक हो तो शस्त्र का प्रयोग किया जाय वहाँ हिंसात्मक क्रान्ति प्रयोग और परिणाम के पूर्व ही शोणित का रोमांचक प्रवाह लिए आती है और प्रयोग के बाद किसी परिणाम पर पहुँचाने के पूर्व

नर्तन समाप्त कर जाती है। पूछा जा सकता है कि क्या किसी भी वर्ग, समूह अथवा व्यक्ति को यह अधिकार प्रदान किया जा सकता है अथवा क्या उन्हें यह नैतिक अधिकार प्राप्त है कि वे अपनी धारणा और कल्पना की उपयुक्तता तथा औचित्य सिद्ध किए बिना केवल अपनी मानसिक कल्पना के वशीभूत होकर महाकाल का प्रलयङ्कर ताण्डव कर सके ?

भावी सन्तति की उन्नति तथा सुख के नाम पर की गयी किसी अभूत कल्पना के लिए वर्तमान सन्तति का जड़मूल से विनाश करने की चेष्टा करना और उसके सुखों की बलि चढ़ा देना उचित भी है अथवा नहीं यह प्रश्न भी विचारणीय है ! अभिप्राय यह है कि हिंसात्मक पद्धति पहले शासन यन्त्र पर, शक्ति और अधिकार की सत्ता पर बलपूर्वक अपना अधिकार स्थापित करती है और फिर शासन-शक्ति को साधन बनाती है नई व्यवस्था की स्थापना के लिए। एक साधन होता है और दूसरा साध्य। जिस नयी व्यवस्था की स्थापना के लिये शक्ति और अधिकार सत्ता का उपयोग किया जाने लगता है उसका अस्तित्त्व तबतक केवल क्रान्तिकारियों के मानस में उनकी कल्पना के रूप में ही रहता है। वह तबतक अप्रयुक्त रहती है, उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता वांछनीयता और अवांछनीयता का स्पष्टीकरण नहीं हुआ रहता, क्योंकि स्थूल व्यवहारिक रूप में वह सामने आई ही नहीं रहती। यही कारण है कि क्रान्ति के रचनात्मक कार्य को तबतक स्थगित रखना पड़ता है जबतक अधिकार-सत्ता पर क्रान्ति की प्रभुता स्थापित नहीं हो जाती। उन्नत और मानवीय नैतिक भावाभिभूत गाँधी की क्रान्ति-शैली में हमें न केवल दूसरी विशेषता दिखाई देती है वरन् उपर्युक्त दोनों का सर्वथा परिहार हुआ भी दृष्टिगोचर होता है। अपनी धारणा और कल्पना को लौकिक तथा मूर्त्त रूप देकर उसे व्यावहारिक बनाना वह भी [illegible] है, पर उसके लिये मानव हृदय को विदीर्ण करके उसका खून [illegible] अवश्यकता

उसे नहीं है। वह भी वर्त्तमान का लोप चाहता है; पर इसके लिये मानवता की छाती पर भयावनी क्रीड़ा का आवाहन नहीं करता। वह वर्तमान से लड़ता है, पर उसको पद्धति में किसी का रक्तपान करने की आवश्यकता नहीं है प्रत्युत अपना रक्तदान अवश्य किया जा सकता है। नव समाज की रचना करने के लिये अपनी कल्पना को व्यक्त रूप प्रदान करने का प्रयोग वह भी करता है, पर दूसरों की भाँति न तो प्रयोग के पूर्व ही परिणाम के सम्बन्ध में निर्णय प्रदान करता है और न प्रयोग-काल में खड्ग और खून से उसका मूल्य चुकाता है। फलतः कल्पित, अस्पष्ट और अव्यक्त धारणाओं का व्यावहारिक रूप देकर उसकी भलाई-बुराई का निर्णय हो जाने के पूर्व ही किसी व्यक्ति या समुदाय के आवेश की तृप्तिमात्र के लिये मानव-प्राण की पवित्रता की उपेक्षा करके उसकी बलि चढ़ा देने के दोष से गाँधी की क्रान्तिशैली सर्वथा मुक्त है। क्रान्ति के रचनात्मक कार्य वह भविष्यत् के लिये छोड़ भी नहीं रखता। गाँधी की क्रान्ति-शैली की इस विशेषता पर समुचित ध्यान देना आवश्यक है। हिंसक क्रान्ति अधिकार-सत्ता और अधिकार-शक्ति को साधन बनाती है अपने रचनात्मक कार्य के लिये। उसके लिए अधिकार और शक्ति का प्रयोग किए बिना नवसमाज की रचना सम्भव नहीं हुआ करती। पर गाँधी अधिकार सत्ता की प्राप्ति तक के लिये अपने रचनात्मक कार्य को स्थगित नहीं करता। उसकी अहिंसक कल्पना और पद्धति में इस प्रकार शक्ति और अधिकार का उपयोग किया जाना ही अवांछनीय है। उसका सारा प्रगोग, सारा विचार और सारा प्रयत्न ही उस परिपाटी का विरोधी है।

शक्ति और अधिकार का उपयोग उसी स्थिति में किया जाना संभव है जब उसका अस्तित्व केन्द्रीभूत रूप में रहे। जब अधिकार और शक्ति केन्द्रित रहेगी तो उसका आश्रय हिंसा तथा दलन हो सकता है। फलतः शक्ति और अधिकार का केन्द्रित रूप जबतक रहेगा तबतक उसका

उपयोग कभी कोई और कभी कोई करता रहेगा। और जबतक यह होता रहेगा तबतक जन-समाज की स्वतन्त्रता असम्भव बनी रहेगी। केन्द्रित शक्ति और अधिकार की रक्षा के लिये यह आवश्यक होता है कि वे जनाधिकार का अपहरण और जन-स्वतन्त्रता का निर्दलन करते रहें। फिर ऐसे समाज की रचना कैसे हो सकती है जिसमें हिंसा और निर्दलन शोषण तथा पराधीनता, वर्ग प्रभुता तथा वर्ग-स्वार्थ का लोप हो सके? स्मरण रखना चाहिए कि गाँधी जिस नए समाज की रचना का स्वप्न देखता है, उसे वह ऐसा बनाना चाहता है जिनमें उपर्युक्त उपसर्गों का अभाव हो और जिसमें जन-समाज को वास्तविक स्वतन्त्रता और अधिकार प्राप्त हो सके। यह तभी सम्भव है जब नए समाज की रचना का आधार अहिंसा हो। बापू की दृष्टि में उसका उपाय तो यही है कि शक्ति और अधिकार के वर्तमान रूप का विघटन हो जाय। जबतक यह न होगा तबतक मानवता मुक्त न होगी। फलतः गाँधी के लिये शक्ति और अधिकार के वर्तमान रूप का विघटन ही लक्ष्य है। उसका रचनात्मक कार्यक्रम अथवा सङ्घर्षात्मक कार्य-पद्धति दोनों ही इसी लक्ष्य को सामने लेकर सञ्चालित हैं। दोनों साधन हैं जिनके द्वारा वह उपर्युक्त साध्य की सिद्धि करना चाहती है। वह शक्ति और अधिकार से लड़ता है इसीलिये, वर्तमान को विघटित करना चाहता है और इसीलिए नये समाज की रचना भी करता है, ऐसी जिसमें शक्ति और अधिकार का केन्द्रित रूप रह ही न सके। ऐसी स्थिति में शक्ति और अधिकार को ही साधन बनाकर नई रचना करने की पद्धति वह अपना ही कैसे सकता है। उसकी तो सारी पद्धति ही साङ्गोपाङ्ग एक ऐसे महान् प्रयोग के रूप में प्रस्तुत है, जिसमें शस्त्र और अधिकार का बहिष्कार करके शस्त्र और अधिकार के विघटन की चेष्टा की गयी है।

गाँधी जी की सामाजिक कल्पना केन्द्रवाद के सम्पूर्ण विसर्जन और विघटन में समाप्त होती है, क्योंकि उनकी दृष्टि में मानव की

सर्वथा मुक्ति उसके बिना सम्भव नहीं दिखाई देती। इसी कारण वे समाज का सङ्गठन ऐसा चाहते हैं और उसे स्वरूप भी ऐसा प्रदान करना चाहते हैं कि सामाजिक भवन के निम्नतम सोपान पर विशाल जन-वर्ग स्वतन्त्रता का अधिक से अधिक उपयोग कर सके। यह उसी स्थिति में सम्भव है जब जन-वर्ग अपने जीवन-सञ्चालन के लिये आवश्यक व्यवस्था, योजना और पदार्थों की उपलब्धि में यथा-सम्भव स्वावलम्बी हो। उसकी स्थिति ऐसी हो कि उसके जीवन में सामाजिक भवन के शिखर पर स्थित शासनतन्त्र को हस्तक्षेप करने का अवसर कम से कम मिले। इस प्रकार जड़ से स्वतन्त्रता अङ्कुरित हो, वह क्रमशः ऊर्ध्वाभिमुखी होकर विकसित होती चले और ऐसी स्थिति उत्पन्न करती जाय कि केन्द्रित तन्त्र अधिकाधिक निष्क्रिय होता चला जाय। गाँधी जी मानते हैं कि मूल जब स्वतन्त्र और सुव्यवस्थित होगा तभी समाज के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वाभाविक विकास हो सकेगा। उसके सभी दल की कल्पना उसी स्थिति में साकार रूप ग्रहण कर सकती है। यही कारण है कि गाँधीजी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण के अभिलाषी हैं। शक्ति और अधिकार का विकेन्द्रीकरण हो, स्वार्थ और हित का विकेन्द्रीकरण हो, पूँजी और उत्पादन के साधनों का विकेन्द्रीकरण हो। विकेन्द्रीकरण हो इसलिये कि शोषण और दलन का अन्त हो, समाज का प्रत्येक वर्ग ऐसी स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके जिसमें जीवन का सञ्चालन करने के लिये किसी का मुखा-पेक्षी न रह जाय और न किसी वर्ग-विशेष का हित किसी दूसरे वर्ग के विकास में और उसके हित में बाधक हो सके। गाँधी मानता है कि आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना सामाजिक स्वतन्त्रता का उदय होना सम्भव नहीं है। यह आर्थिक स्वतन्त्रता उसी समय सम्भव है जब जन-समाज जीवनयापन के लिये परावलम्बी न रह जाय, जब उसे नितान्त आवश्यक पदार्थों के लिये किसी भिन्न सत्ता पर आश्रित रहना न पड़े और जब उत्पादन के साधन तथा उसकी व्यवस्था के सञ्चालन का अधिकार

उसी के हाथ में रहे। जबतक यह नहीं होता तबतक आर्थिक स्वतंत्रता भी नहीं होती और मनुष्य जबतक अर्थ की दृष्टि से पराधीन है तब तक उसकी सामाजिक और राजनीतिक परतन्त्रता भी अनिवार्य है।

उत्पादन की आधुनिक यान्त्रिक प्रणाली में जन-समाज की यह आर्थिक स्वतंत्रता लुप्त हो गयी है। यही कारण है कि लोकतंत्र लोकतंत्र की संज्ञा पाकर भी लोकस्वातंत्र्य का साधक न बन सका। आर्थिक पराधीनता में पड़े जनवर्ग की स्वतंत्रता की कल्पना ही आकाश कुसुम की भाँति निर्मूल है। गांधी इसी कारण लोक की आर्थिक स्वाधीनता के आधार पर समाज-रचना का प्रवर्तक है। उसकी दृष्टि में आर्थिक स्वतंत्रता का एकमात्र अर्थ यही हो सकता है कि जनता जीवनोपाय के लिए मौलिक पदार्थों की प्राप्ति में, अर्थात् भोजन, वस्त्र और आश्रय के संबंध में, यथासंभव आत्मतुष्ट और स्वावलम्बी हो। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए गांधीजी जो उपाय बताते हैं वह यही है कि यांत्रिक पद्धति से होने वाली केन्द्रीभूत उत्पादन पद्धति का विकेन्द्रीकरण इस प्रकार कर दिया जाय कि उत्पादन के साधन विकेन्द्रित हो जायँ और केन्द्रीकरण की जो प्रवृत्ति चतुर्दिक व्याप्त हो रही है और जो सारे अनर्थों की जड़ हो गयी है, अवरुद्ध हो जाय।

चर्खा गाँधीजी की इसी विचारधारा की साकार प्रतिमा और सांकेतिक प्रतीक है। वह आधुनिक यन्त्रवाद के विपर्यय के रूप में जगत् के सम्मुख प्रस्तुत हुआ है, जिसके द्वारा गाँधीजी अपनी कल्पना को व्यक्त कर रहे हैं। वह उत्पादन की नई शैली का सूचक चिन्ह है, जिसके अवलम्बन से बापू मानव-समाज की न केवल वर्तमान पीड़ा के निराकरण की आशा करता है प्रत्युत उसके द्वारा भावी समाज की रचना का कार्य सम्पादित करना चाहता है। चर्खा वास्तव में उत्पादन-क्रिया के विकेन्द्रीकरण की नीति का प्रतिनिधित्व कर रहा है जिस पर गाँधीजी की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कल्पना

आश्रित है। चर्खे को लेकर वे विकेन्द्रित उत्पादन-प्रणाली का ही प्रयोग आरंभ करते हैं पूँजीवाद जिस मौलिक कारण का परिणाम है उसका मौलिक परिहार इस प्रयोग की सफलता पर ही निर्भर करता है। यदि प्रयोग सफल हो तो उसका परिणाम क्या होगा इसकी कल्पना कर लेना कठिन नहीं है। पाठक विचारपूर्वक देखें कि यदि कल-कारखानों के द्वारा होने वाली उत्पादन की क्रिया का स्थान कुटीर-उद्योग की विकेन्द्रित प्रणाली ग्रहण कर ले तो आज उत्पादन के साधनों पर जो अनुत्पादक वर्ग की प्रभुता स्थापित हो गयी है, उसे समाप्त कर देना अति सरल हो जायगा। उस दशा में उत्पादन के साधनों पर उसका अधिकार स्थापन सरल हो जायगा जो वस्तुतः उत्पादक है। कुटीर-उद्योगों की विशेषता यह है कि उनके द्वारा अत्यधिक उत्पादन उस केन्द्रीभूत रूप में सम्भव न होगा, जिसके द्वारा व्यावसायिक पूँजीवाद का पोषण और परिवर्धन होता रहता है।

सम्पत्ति का वितरण यदि श्रम के अनुपात में होने लगे तो उस स्थिति का अन्त हो जायगा जिसके एक ओर धन की महिमा और ऐश्वर्य की पताका फहराती दिखाई देती है और दूसरी ओर अभाव का बीभत्स नर्तन होता रहता है। आज आर्थिक असमानता का जो विष समाज को जर्जर किए दे रहा है और जो दिन-दिन बढ़ता तथा विकराल होता जा रहा है, तब अवरुद्ध होता दृष्टिगोचर होगा जब हस्तकौशल और ग्रामोद्योग में कल-कारखानों की भाँति आवश्यकता से कहीं अधिक उत्पादन संभव न होगा और जब उत्पन्न पदार्थ बहु-संख्यक उत्पादकों की वितरित संपत्ति के रूप में रहेंगे। जब पूँजी शोषण का कारण न बनी रह सकेगी तब यदि वह पूँजीपतियों के उपभोग का साधन बनी भी रह जाय तो भी समाज की दुर्दशा का आधार और स्रोत न हो सकेगी। पूँजी यदि शोषण का साधन न बन कर केवल उपभोग की वस्तु बनी रह जाय तो उसका उत्तरोत्तर छीजते जाना अनिवार्य है। निष्क्रिय पड़ी पूँजी क्रमशः पूँजीपति के भोग के

द्वारा वितरित ही होती जायेगी। उसके सिवा सरकारी कानून क्षीणता की ओर पूँजी की इस गति को अधिक तीव्र कर दे सकेंगे, क्योंकि वैधानिक विधि से उसका बड़ा अंश सार्वजनिक कोष में जन-हिताय पहुँचाया जा सकेगा। विकेन्द्रित उत्पादन की प्रणाली में आर्थिक असमानता को दूर करने की क्षमता बहुत बड़ी सीमा तक दिखाई देती है। उग्र वर्ग-भेद की परिधि को क्रमशः संकुचित करने में भी वह समर्थ ज्ञात होती है।

केन्द्रित तंत्र-सत्ता की जड़ तो उसी समय हिल जायगी जब उस वर्ग के हाथ से उत्पादन के साधनों का स्वामित्व और उत्पादन की प्रक्रिया के सञ्चालन का अधिकार निकल जायगा जो सम्प्रति यंत्रवाद और पूँजीवाद के कारण उनका अधिकारी बना हुआ है। उत्पादन-प्रणाली और उसके साधनों के विकेन्द्रीकरण से यदि पूँजीवादी हित का लोप होगा तो शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण की आवश्यकता भी कम हो जायगी और प्रबुद्ध तथा आत्मावलम्बी जन-समाज क्रमशः अपने अधिकार और स्वत्व पर आरूढ़ होता चलेगा। बापू के कल्पनानुसार विकेन्द्रित उत्पादन की प्रणाली में न सुदूर के बाजारों की लालसा उत्पन्न होगी और न भूप्रदेश माल खपाने के लिए अपेक्षित होंगे। इस प्रकार साम्राज्यवाद के उदय के कतिपय कारणों में एक इस अति प्रमुख कारण का तिरोभाव स्वभावतः हो जायगा, जो आक्रमण-शीलता और हिंसा की आवश्यकता तथा उग्रता का बहुत कुछ लोप करने का कारण होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुव्यवस्था और सहयोग के लिए विकेन्द्रित उत्पादन की पद्धति और उसके आधार पर स्थापित अर्थ नीति के सिवा कोई दूसरा मार्ग दिखाई नहीं देता। अत्यधिक उत्पादन, चाहे वह स्वतंत्र प्रतिद्वन्द्विता के सिद्धांत के अनुसार व्यक्तिगत रूप से होता हो अथवा अधिनायकवादी देशों की भाँति सरकार द्वारा नियंत्रित हो, विदेशी बाजारों की खोज के लिए जगत् के औद्योगिक राष्ट्रों को स्व-

भावतः और अनिवार्यतः अग्रसर करेगा ही। यह अवस्था जब तक रहेगी तब तक भयावने नर-संहार और रक्तपात के मार्ग का अवरोध न होगा। दुनिया का गत दो शताब्दियों का इतिहास और मानव-समाज का अनुभव इसी सत्य को सिद्ध कर रहा है। गत महायुद्ध हो अथवा वर्तमान महासमर दोनों का मौलिक कारण यही था कि पदार्थों के उत्पादन की प्रक्रिया इस लिए नहीं होती थी कि उससे मनुष्य की आवश्यकताएँ पूर्ण हों बल्कि इस लिए होती थी कि उसके द्वारा मुनाफा कमाया जाय और सारे जगत् का यथासंभव शोषण किया जा सके।

गाँधीजी ऐसी अर्थ नीति के संचालन के पक्षपाती हैं जिसमें उत्पादन केवल आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से संभव हो, जिसमें जगत् के राष्ट्र आत्मतुष्ट तो हो सकें, पर अपने उत्पन्न पदार्थों की अकल्पित राशि को बेचने के लिए जगत् के बाजारों पर छापा मारने की आवश्यकता समझें। आज तो न केवल उत्पादन की क्रिया और उसके साधनों का दुरुपयोग हो रहा है प्रत्युत मनुष्य के श्रम की महत्ता और पवित्रता नष्ट की जा रही है। कल-कारखानों में लगाया गया मनुष्य का श्रम ऐसी धारा पकड़ता है, जो मनुष्य को भी यंत्र बना देता है और उसकी उस नैसर्गिक कलामयी अन्तःप्रवृत्ति तथा प्रतिमा को लुप्त कर देता है जिसका अधिकारी प्रकृति ने उसे बनाया है। मनुष्य के श्रम का उपयोग भी इसलिए नहीं होता कि उसके द्वारा मनुष्य-समाज की सहायता की जा सके, जीवन के लिए उसकी नितान्त आवश्यकताओं को पूर्ण करके उसे अभाव के कष्ट से मुक्त किया जा सके, अपितु उसका उपयोग इस लक्ष्य को लेकर हो रहा है कि अधिक से अधिक मनुष्य का दोहन करना संभव हो। न केवल व्यापक जन-समाज दोहित होता है वरन् वह श्रमिक जिसके श्रम से अश्रमिक लाभ उठाता है, स्वयं दलित और दोहित होता है। विज्ञान की सहायता पाकर मनुष्य कोयला, लोहा, पानी और विद्युत्

की जड़ शक्तियों का दुरुपयोग आँख मूँद कर अपने लोभ की पिपासा को शान्त करने में तो कर ही रहा है, साथ-साथ मनुष्य की चेतन-शक्ति का भी भयानक दुरुपयोग किया जाय यह क्या मनुष्यता का ही अपमान नहीं है ? आज तो मानव-श्रम का घृणित निरादर भी हो रहा है। जड़-शक्तियों से काम लेने में अन्धा हुआ मनुष्य चेतन-मनुष्य के श्रम की उपेक्षा करता है। और उसे बेकार बनाता जा रहा है। इस अनर्थकारी अवस्था का अन्त तो होना ही चाहिए। गाँधी आज श्रम का दूसरा मूल्यांकन करने के लिए अग्रसर हुआ है। वह मनुष्य के श्रम की महत्ता और पवित्रता को प्रतिष्ठित करना चाहता है। श्रम करना आदरणीय हो और साधन हो मनुष्य की स्वतंत्रता और मुक्ति का। वरन् श्रम का उपयोग इस लिए न हो पावे कि मनुष्य मनुष्य का दोहन करके मनुष्यता का कलंक बने, वरन् श्रम हो इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन-संचालन के लिए आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति में परमुखापेक्षण और परावलंबन की असह्य स्थिति का शिकार न हो कर आत्मतुष्ट हो सके। इस स्थिति को लाने के लिए ही यह आवश्यक है कि समाज में ऐसी अर्थनीति हो और ऐसा हो उसका आर्थिक संघटन जिसका आधार शोषण पर नहीं स्वतन्त्रता पर हो। यही एकमात्र मार्ग है जिसके द्वारा वह वर्ग जो आज मुँह के बल पड़ा धरा-चुम्बन कर रहा है, उत्थित किया जा सकेगा। श्रम की इस मौलिक कल्पना को मानव-समाज के आर्थिक संघटन का आधार बनाना गाँधी की दृष्टि में आवश्यक है। आधुनिक यन्त्रवाद इस कल्पना के अभाव का ही प्रतीक है जिसने उन परिस्थितियों का प्रजनन किया है जो समाज को क्षत-विक्षत कर रही हैं। गाँधी की विकेन्द्रित उत्पादन की प्रणाली और उत्पादन के साधनों के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त का आधार वास्तव में यही दृष्टि और भावना है।

अवश्य ही विकेन्द्रीकरण की इस विचाधारा का अर्थ यह होता है

कि गाँधीजी उत्पादन की आधुनिक यान्त्रिक प्रणाली के परित्याग की राय दे रहे हैं। कहा जा सकता है कि वे उसके सर्वथा विरोधी हैं। यह सच है कि बापू इस प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह करते हैं पर उनके विरोध के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। उनका विरोध यन्त्र से उतना नहीं है जितना आधुनिक 'यन्त्रवाद' से है। इन दोनों में गांधी जी महान् अन्तर देखते हैं और जहाँ पहले को एक सीमातक ग्रहण कर लेने के लिए राजी भी हो जाते हैं वहाँ दूसरे के सम्पूर्ण विलोप से कम में सन्तुष्ट नहीं होते। उनकी दृष्टि में यन्त्र का अस्तित्व मनुष्य के लिए है जिसका उपयोग मनुष्य के सुख और कल्याण के साधन के रूप में ही हो सकता है। जबतक इस दृष्टि से केवल साधन के रूप में यन्त्र का उपयोग किया जाता हो तबतक आवश्यकतानुसार एक सीमा-तक उचित सामंजस्य की स्थापना कर के यन्त्र का उपयोग करना वाँछनीय हो सकता है। पर जब यन्त्र स्वयं ही साध्य हो जाय, जब स्वतः मनुष्य उसके लिए साधन बना दिया जाय और जब वह लोभ और लहू पर, शोषण और स्वार्थ पर, दलन और दासता पर प्रतिष्ठित हो जाय तब वह यन्त्रवाद का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उस समय उसके पीछे एक निश्चित विचार-धारा प्रवाहित होने लगती है, जो हिंसा और आक्रमणकारिता का प्रजनन करती है।

उस समय वर्गहित और वर्गप्रभुता के दो तटों के बीच से यह धारा बहती दिखाई देती है जिससे मानवता अभिशप्त होने लगती है। गाँधी वस्तुतः इस यन्त्रवाद का ही विरोधी है। गाँधीजी के शब्दों में ही उनके विचार पर दृष्टिपात कीजिए। वे कहते हैं "मैं यन्त्र का यंत्र के रूप में विरोधी नहीं हूँ। मैं भला ऐसा विरोध कैसे कर सकता हूँ, जब यह जानता हूँ कि मनुष्य का शरीर भी एक अति जटिल किन्तु कोमल यन्त्र के सिवा कुछ नहीं है। चर्खा भी तो एक प्रकार का यन्त्र ही है। फलतः मेरा विरोध यन्त्र से नहीं पर उस उन्माद से है जो यन्त्रों के लिए उत्पन्न हो गया है। आज तो कहा यह जाता है कि

यन्त्रों के द्वारा मनुष्य का श्रम बचाया जाता है पर श्रम बचाने की झक इतनी बढ़ जाती है तथा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है कि लाखों मनुष्य बेकार होते जा रहे हैं और भूखों मरने के लिए असहाय छोड़ दिए जाते हैं।"

"मैं चाहता हूँ कि मनुष्य के समय और श्रम की रक्षा की जाय। पर उसके साथ ही यह भी चाहता हूँ कि समाज के एक छोटे से वर्ग के समय और श्रम की ही रक्षा न की जाय प्रत्युत व्यापक जन-समाज उससे सुरक्षित हो। मैं यह भी चाहता हूँ कि धन और सम्पत्ति का संकलन केवल मुट्ठी भर लोगों के हाथों में न हो वरन् दूसरे सभी उसके हिस्सेदार बन सकें। आज तो स्थिति यह है कि यंत्र उन थोड़े से लोगों का सहायक है जो करोड़ों की छाती पर जम कर बैठे हुए हैं। यन्त्रों के पीछे जो उत्प्रेरणा है वह श्रम बचाने के लिए उदार-भावना नहीं किन्तु लोभ की भयावनी वासना है। 'यन्त्रवाद' के इसी स्वरूप के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति से युद्ध करने के लिए मैं बद्ध परिकर हूँ।"

उपर्युक्त वाक्यों में गाँधीजी की दृष्टि स्पष्ट है। 'पूँजीवाद' यन्त्रवाद का ही विकसित रूप तथा परिणाम है। यदि उसका विलोप करना है तो यन्त्रवाद का विलोप करना होगा जिसका एकमात्र उपाय उत्पादन के साधनों को विकेन्द्रित कर देना है। इसी से उत्पादन की प्रणाली विकेन्द्रित हो जायेगी और नयी शैली ग्रहण करेगी। चर्खा में यही विचार-धारा प्रतिष्ठित है। जिसके द्वारा गाँधी समाज का आधार ही बदल कर ऐसी रचना करना चाहता है, जिसमें अहिंसा का समावेश होता हो और मनुष्य की पराधीनता और दोहन का अन्त होता हो। आज जगत् को निष्पक्ष हो कर बापू की इस पद्धति पर विचार करना होगा। यह देखना होगा कि पूँजीवाद के विघटन के लिए और मनुष्य-समाज की वर्तमान दुरवस्था को दूर करने के लिए जो भी उपाय उपस्थित किए जा रहे हैं उनकी अपेक्षा बापू की पद्धति अधिक मौलिक, प्रभावकर और अधिक उपयुक्त है अथवा नहीं। विशेष कर

ऐसे समय जब कल-कारखानों से संभूत सभ्यता आकाश से अग्नि वर्षा करके उन्हीं कल-कारखानों को नष्ट कर रही है, जब महान् औद्योगिक देशों के औद्योगिक केन्द्र उध्वस्त करके धूल में मिलाए जा रहे हों और जब ये कल-कारखाने विनाश में अस्त्र-शस्त्र प्रस्तुत करने के कारण हो रहे हों तब क्या यह अपेक्षित नहीं है कि मनुष्य एक बार उलट कर पीछे दृष्टि डाले और देखे कि उसने अपनी मूढ़ता से अपने को कहाँ पहुँचा दिया है। उसने जो स्थिति पैदा कर दी है क्या उससे मुख मोड़ने का समय नहीं आया और क्या गाँधी इस जटिल भूल-भुलैया से निकलने का मार्ग उपस्थित नहीं कर रहा है?

विकेन्द्रीकरण-समस्या का हल

आज के जगत् में वह युग आया है जब भावी विश्व की व्यवस्था का निर्माण करने के लिए चतुर्दिक योजनाओं को उपस्थित करने की धूम मची हुई है। जगत् किसी न किसी प्रकार के नये आयोजन की आवश्यकता का अनुभव कर रहा है। ऐसे समय में गाँधीजी की विकेन्द्रीकरण की विचारधारा जगत् के सामने प्रस्तुत हुई है। एक समय था जब उनके विचार उपहास्य समझे जाते थे। चर्खा और ग्रामोद्योग की उनकी योजना ऐसी पुरानी और दकियानूस बात समझी जाती थी जो आज की स्थिति में असंस्कृत और मध्ययुगीय ज्ञात होती थी। पर आज उस स्थिति में परिवर्तन हो चला है। योजनाओं के इस युग में विकेन्द्रीकरण की विचारधारा के लिए सर्वथा स्थान न होने की बात नहीं रही। महान् औद्योगिक देशों के विचारक और अर्थशास्त्री भी उसकी तरफ दृष्टिपात करने के लिए बाध्य होने लगे हैं। अमेरिका के हेनरीफोर्ड ऐसे उद्योगपति और महान् पूँजीपति भी अपनी योजना में विकेन्द्रित उत्पादन की प्रणाली को स्थान देने को बाध्य होने लगे हैं। उनके मत से "ऐसे पदार्थों का निर्माण, जिसका उपयोग सारे देश में सर्वत्र प्रायः सब के द्वारा होता हो, सारे देश में विकेन्द्रित रूप से उत्पन्न किए जाय ताकि जनता की क्रयशक्ति का वितरण अधिक समरूप से हो सके।"

इसी प्रकार ग्रेटब्रिटेन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर 'कोल' लिखते हैं कि "ग्रामोद्योग के रूप में वस्त्र-व्यवसाय को उन्नत करने का जो प्रयत्न गाँधी कर रहे हैं। उसे झक समझना अथवा अतीत के पुनरुद्धार के लिये उत्सुक प्रयास मानना मूर्खता होगी। वह सजीव और व्यावहारिक उपाय है ग्रामीण जनता की गरीबी को दूर करने तथा उसके

जीवन-स्तर को उन्नत बनाने का इङ्गलैंड और अमेरिका के अनेक विचारकों के ऐसे मत यहाँ उद्धृत किए जा सकते हैं जिसमें स्पष्टतः यह भावना प्रदर्शित है कि आधुनिक जगत् की समस्याओं को हल करने के लिए विकेन्द्रित अर्थनीति अपनाने के सिवा कदाचित् कोई दूसरी गति नहीं है। 'काउन्ट कैलेरगी' अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "टोटेलिटेरियन स्टेट अगेन्स्ट मैन" में लिखते हैं कि "युद्ध और हिंसा से विक्षत हुई वसुन्धरा के सारे कष्टों के परिहार का अन्तिम और एकमात्र उपाय कादाचित् विकेन्द्रित सहयोगमूलक ग्रामीण सभ्यता के सिवा दूसरा नहीं।' ध्यानपूर्वक यूरोप और अमेरिका पर दृष्टिपात कीजिए तो यह दिखाई पड़ेगा कि विकेन्द्रित और सहकार सिद्धान्त पर स्थापित आर्थिक संघटनों की ओर उन देशों का ध्यान धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ बढ़ता चला जा रहा है।

चीन में तो औद्योगिक सहयोग-समितियों के द्वारा विकेन्द्रित उत्पादन-पद्धति ने जो सफलता पाई है और जो क्षमता प्रदर्शित की है वह आज जगत् के लिए आश्चर्यजनक हो गई है। जापानी आक्रमण के बाद चीन आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति में असमर्थ होने लगा था। उसे युद्ध के लिए सैनिक सामग्री चाहिए थी, अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता थी और सबसे अधिक देश की जनता के जीवन की रक्षा के लिए नितान्त रूप से अपेक्षित पदार्थों को प्राप्त करने का प्रश्न था। चीन में यूरोप का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ चुका था और वहाँ कल-कारखानों से उत्पत्ति होने भी लगी थी। पर जापानी आक्रमण के बाद ये कल-कारखाने बहुत कुछ आकाशीय बम-वर्षा से नष्ट हो गये और बहुत से शत्रुओं के हाथ में पड़ गए। वर्षों तक चीन को बाहरी दुनिया से रत्ती भर भी सामान नहीं मिलता था। इंगलैण्ड और अमेरिका जो उसकी सहायता कर सकते थे, जापानी आक्रमण का विरोध करते हुए भी जापान को प्रसन्न करने के लिए चीन को सामान देने से अस्वीकार कर रहे थे।

बर्मा रोड तक बन्द कर दी गयी थी, फिर सामान भेजना दूर रहा। ऐसी स्थिति से चीन भयावने संकट में पड़ गया। उसके सामने भारी समस्या थी। जापानी आततायियों से वह अपनी रक्षा करे तो कैसे करे। चीनी देश-भक्तों का ध्यान सहसा अतीत के अपने उन मृतक-प्राय उद्योगों की ओर गया जो किसी जमाने में गाँव-गाँव की झोपड़ियों में फैले हुए थे। इन्हीं व्यवसायों के द्वारा शताब्दियों तक चीनी राष्ट्र न केवल अपने देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था वरन् दुनिया के सुदूर प्रदेशों के लिए उन्हीं कुटियों में बने माल का निर्यात भी करता था। चीन ने देखा कि वही मरणोन्मुखी पद्धति उसके जीवन की रक्षा करने का एकमात्र उपाय हो सकती है। अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा और आक्रमणकारी का विरोध करने का दृढ़ संकल्प लेकर चीनी देशभक्त उक्त व्यवसाय के पुनरुज्जीवन के महान् कार्य में संलग्न हो गए। वहाँ के अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक, विचारक और चतुर तथा प्रवीण शिल्पी उसके लिए उचित योजना बनाने और उसे सजीव कर देने में जुट पड़े।

परिणामतः कुछ वर्षों में ही विशाल चीनी भू-प्रदेश में ग्रामोद्योग की सहयोग-समितियों के रूप में उत्पादक की महती प्रक्रिया का जाल सा बिछ गया। उसी का फल यह है कि विदेशों से सहायता न पाते हुए भी चीन ने वह अजेय शक्ति प्राप्त की जिसके सम्मुख प्रचण्ड बलशील जापानी साम्राज्यवादियों का सैनिक बल पंगु सिद्ध हो गया। चीन के उद्योग सुदूर भावों की टूटी-फूटी झोपड़ियों में चलते रहते हैं, जिन पर न बमवर्षा का असर होता है और न जिनके शत्रु के हाथों में पड़ने का खतरा है। जब कभी शत्रु सन्निकट दिखाई देता है तो कुटीर, व्यवसाय में लगे उत्पादक अपने थोड़े से औजार और कल-पुर्जों की गठरी बाँध कर वहाँ से डोल जाते हैं और पुनः किसी दूसरे स्थान पर छोटी-मोटी झोपड़ी डाल कर अपना काम शुरू कर देते हैं। चीन के इस महाप्रयोग ने दुनिया की आँखें खोल दी हैं। जहाँ विशाल कल-

कारखानों और बड़े उद्योगों की हड्डियाँ युद्धकाल में चूर हो गयीं, जहाँ ये कल-कारखाने शत्रु के हाथ में पड़ कर उन्हीं देशों के लिए संघातक सिद्ध हुए, जिनकी वे सम्पत्ति थे, वहाँ जगत् से किसी प्रकार की सहायता न पाकर भी चीन जापान की रणवाहिनी के दुर्दान्त दन्तों को तोड़ने में समर्थ हुआ।

आज विकेन्द्रित उत्पादन पद्धति और ग्रामोद्योग की इतनी शक्ति, इतनी समर्थता और इतनी क्षमता का प्रदर्शन ज्वलन्त रूप में हो चुका है तो फिर उसकी उपादेयता उपयुक्तता तथा वांछनीयता में सन्देह करने का साहस किसे हो सकता है? इतना ही नहीं वरन् जब विचार और सिद्धान्त की दृष्टि से भी 'यान्त्रिक उद्योगवाद' के गढ़ यूरोप के विद्वान् यह अनुभव करने लगे हैं कि जगत् की समस्या का हल कदाचित् विकेन्द्रित ग्राम्य अर्थनीति और संस्कृति में ही है, तब भला गाँधीजी के विचारों का उपहास करने की धृष्टता दिखाना कहाँ संभव रह गया है? लैंसलाट होगबेन और प्रोफेसर हक्सले ऐसे प्रसिद्ध विद्वान् और ग्रंथकार जब यह कहने लगे हैं कि "मानव-समाज की रक्षा के लिए तथा वैज्ञानिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी जन-संकुल नगरों से मुख मोड़कर ग्रामीण अर्थनीति और सभ्यता को अपनाने के सिवा कदाचित् दूसरी गति नहीं है" तो उस समय गाँधीजी की दूरदर्शिता, यथार्थवादिता तथा व्यावहारिकता में संदेह करने और उन्हें काल्पनिक, अतीत-पूजक कहकर हँसी उड़ाने का दुराग्रह करने में कौन बुद्धिशील और निष्पक्ष व्यक्ति संलग्न होगा? जिस बात को आज का विद्वत्समाज अनुभव करने लगा है, जिसकी उपयुक्तता आज सिद्ध होने लगी है उसकी ओर जगत् का ध्यान बीसों वर्ष पूर्व आकृष्ट करने वाले गाँधीजी ही हैं।

पर गाँधीजी के विचारों के सम्बन्ध में कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें विशेष रूप से समझ लेना आवश्यक है। यद्यपि यूरोप और अमेरिका में विकेंद्रित उत्पादन पद्धति और अर्थनीति की ओर रूझान प्रकट हो

चला है और यद्यपि चीन में उस पद्धति की शक्ति तथा सफलता का प्रदर्शन भी हो चुका है और यद्यपि ये बातें गाँधीजी के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त की साधारणता तथा प्रौढ़ता को सिद्ध करती हैं तथापि वह जो कुछ कहते हैं और कहने के पीछे उनकी जो दृष्टि है वह उपर्युक्त विचारों को तथा प्रयोगों से कहीं अधिक दूर जाती है। दूसरे लोग जो विकेन्द्रीकरण की बात करते हैं वे अति संकुचित दृष्टि लेकर ही करते हैं। कोई यह समझ कर विकेन्द्रित उत्पादन प्रणाली का समर्थन करता है कि उससे बेकारी की समस्या कुछ दूर तक हल हो जायगी तो कोई यह समझ कर उसका पक्ष ग्रहण करता है कि गरीब किसानों को प्रति दिन अपना काम करते हुए भी दो पैसे अधिक मिल जायेंगे जिससे उनके जीवन का स्तर नाममात्र को ही सही, पर कुछ न कुछ ऊँचा हो जायगा।

यूरोप के महान् कल-कारखानों में देश की जन-संख्या का एक अति छोटा-सा भाग ही लग पाता है। साथ ही आजकल 'रैशेनलाइजेशन' के नाम से थोड़े से श्रम में उत्पादन अधिक से अधिक करने की उत्सुकता में यन्त्रों में तरह-तरह के सुधार करके उनकी उत्पत्ति-शक्ति कई गुना बढ़ा देने की जो शैतानी प्रवृत्ति और उन्माद छा गया है उससे बेकारों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती ही चली गई है। यह स्थिति स्वयं पूँजीवादी अर्थनीति के लिए भयावह हो गई है। इससे बचने के लिए उद्योगपति लोग विकेन्द्रित उत्पादन प्रणाली को भी छोटा-सा और गौण स्थान प्रदान करने की बात सोचने लगे हैं, जिसमें वे बेकारी की समस्या को कुछ दूर तक हल करके उस खतरे से अपनी रक्षा कर सकें जो उन्हें निगल जाने के लिए मुँह बाए सामने खड़ी है।

चीन ने भी जो महाप्रयोग किया वह इसीलिए किया कि उसके पास अपनी रक्षा के लिए सिवा ग्राम-उद्योगों के दूसरा कोई साधन उपलब्ध नहीं था। न बाहर से सहायता मिल सकती थी न इतनी पूँजी थी कि नये कल-कारखाने खोल सकता और न उनकी स्थापना

के लिए आवश्यक सामान बाहर से आना संभव था। यह मानते हुए भी कि उपर्युक्त समस्याओं का उत्पादन की विकेन्द्रित पद्धति और ग्राम-उद्योगों के द्वारा हल हो जाना छोटी बात नहीं है और इतना भी उसके महत्त्व को सिद्ध कर देने के लिए काफी है, यह कहना पड़ता है कि गाँधीजी उसे केवल तात्कालिक प्रश्नों को एक सीमातक सुलझा देनेवाला गौण साधनमात्र नहीं समझते। विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त के पीछे उनकी महती विचारधारा प्रवाहित है। उसमें भावी विश्व की व्यवस्था और नव-समाज की रचना के सम्बन्ध में उनकी विशाल कल्पना समाविष्ट है। वह उनके दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि-कोण का परिणाम है, जिसे आधार बनाकर वे नई संस्कृति को जन्म प्रदान करना चाहते हैं। वे विकेन्द्रीकरण के आधार पर सारी अर्थनीति, राजनीति और समाजनीति की रचना करना चाहते हैं। वे आधुनिक केन्द्रित व्यवस्था को समूल हटाकर उसके स्थान पर विकेन्द्रित पद्धति करना चाहते हैं।

स्पष्ट है कि उनके लिए विकेन्द्रीकरण किसी तात्कालिक समस्या के हल का गौण साधन नहीं किन्तु मानव-समाज के भावी संघटन की सुदृढ़ बुनियाद है। वे उसी के द्वारा उस सच्चे लोकतन्त्र का उद्भव संभव समझते हैं, जिसमें मनुष्य वास्तविक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकेगा और धरती शोषण तथा निर्दलन से मुक्त हो सकेगी। वे समझते हैं कि यदि मानव-समाज की प्रतिष्ठा अहिंसा के आधार पर करनी है तो आज उसका उपाय विकेन्द्रीकरण के सिवा दूसरा नहीं है। वे यह मानते हैं कि मनुष्य युग-युग से हिंसक प्रवृत्ति का दमन और अहिंसा का समावेश करने की चेष्टा करता आया है और इसी चेष्टा में उसके विकास की गति प्रदर्शित है। वे सारे इतिहास को इसी दृष्टि से देखते हैं। बर्बर अवस्था में पड़ा हुआ मानव समाज की रचना करने के लिए अग्रसर हुआ इसलिए कि निसर्गतः उसकी अहिंसक वृत्ति अपनी ही हिंसक वृत्ति का दमन करने की ओर प्रकृत्या अभिमुख हुई। किसी न किसी रूप में आरम्भ से लेकर आजतक शासनतन्त्र की आवश्यकता और रचना

मनुष्य करता आया है, पर उसमें भी उसका लक्ष्य यही था कि वह यथासम्भव जीवन में हिंसा का दमन कर सके और न्याय तथा नीति, सहयोग और सुरक्षा का उदय कर सके।

संस्कृतियों का जन्म भी मनुष्य के इसी प्रयास का परिणाम रहा है। मनुष्य की यह चेष्टा आज भी जारी है। यही उसकी गति है और यही है उसका निर्धारित पथ। इसी में उसका विकास और उसकी प्रगति है। यह सच है कि जिन व्यवस्थाओं को उसने जन्म दिया इसलिए कि अहिंसा की ओर अग्रसर करने में सहायक हो वे ही समय-समय पर हिंसा का प्रवर्तन करने का कारण हुई हैं। मनुष्य के जीवन के मूल में स्थित स्वार्थ और हिंसा की प्रवृत्ति उसे पथ से भ्रष्ट करती रही है। फलतः व्यवस्थाएँ, विधान और संस्थाएँ दुरुपयुक्त होती रही हैं। उदाहरणार्थ शासन-सत्ता को ही ले लीजिए। समाज ने यदि शासक के हाथ में शक्ति और अधिकार उड़ेल दिया तो ऐसा इसलिए किया कि वह सामाजिक जीवन में अव्यवस्था, हिंसा तथा मत्सन्याय को रोक कर सहयोग, सुव्यवस्था तथा सुरक्षा का साधक हो, पर शासन सत्ताएँ प्रायः सदा अपने हित में समाज के अधिकारों का अपहरण करके और हिंसा के द्वारा मनुष्य का दलन करके अभिशाप का रूप ग्रहण करती रही हैं। समय-समय पर समाज को हिंसा की इस गति को रोकने की चेष्टा करनी पड़ी है।

पूर्व के पृष्ठों में कह चुका हूँ कि स्वयं लोकतन्त्र का उदय मनुष्य की उस अहिंसक वृत्ति का ही सूचक था, जो उदीयमान हुआ था इसलिए कि तत्कालीन केन्द्रीभूत निरंकुश शासन-सत्ता की शक्ति और अधिकार का विकेन्द्रीकरण करके जन-समाज स्वतन्त्र किया जाय। पर उस धारा का अवरोधन किस प्रकार हुआ और किस प्रकार भयावने केन्द्रीकरण ने जन्म लेकर मनुष्य को आज की स्थिति में पहुँचाया है इसे गत पृष्ठों में बता चुके हैं। गाँधीजी के विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त उसी प्रयास का सूचक है, जो मनुष्य सदा करता रहा है और आज

भी आधुनिक स्थिति से मुक्त होने के लिए कर रहा है। आधुनिक मनुष्य जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मार्ग ढूँढ़ने की चेष्टा करते हुए भी उचित मार्ग नहीं पा रहा है, उसके लिए गाँधीजी विकेन्द्रीकरण के रूप में एक पथ उपस्थित कर रहे हैं। उनके लिए यह पथ है जिसका अवलम्बन करके मनुष्य-समाज अपनी उस विकास की यात्रा पर अग्रसर हो सकेगा जो मनुष्य के पथ भ्रष्ट होने के कारण अवरुद्ध हो गयी है।

ऐसी स्थिति में गाँधीजी का विकेन्द्रीकरण न केवल बेकारी को हल करने का उपाय है और न केवल पूँजी के अभाव में कल-कारखानों की स्थापना न कर सकने के कारण उत्पादन की ऐसी पद्धति जिसे बाध्य होकर ग्रहण करना पड़ रहा हो। बेकारी की समस्या तो अधिनायकवादी देशों ने केन्द्रित उत्पादन की पद्धति को रखते हुए भी बहुत दूर तक हल करने में सफलता पाई है। उत्पादन को नियन्त्रित कर के और 'रैशनैलाइजेशन' (कम से कम श्रम में अधिक से अधिक उत्पत्ति करने के लिए यन्त्रों में सुधार की पद्धति) को धीरे-धीरे हटाकर अथवा अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए नये-नये कारखाने खोलकर 'टोटैलेटेरियन' सरकारों ने बेकारी की समस्या को बहुत दूर तक हल कर डाला है पर गाँधीजी का लक्ष्य केवल बेकारी हल करना नहीं है। उनका आदर्श यह है कि रोटी के साथ-साथ स्वतन्त्रता भी प्रत्येक मनुष्य को उसी प्रकार प्राप्त हो जिस प्रकार प्रकृति ने उसे वायु, जल तथा प्रकाश प्रदान किया है। मनुष्य के लिए ऐसी कोई भी व्यवस्था उसके सर्वांगीण अभ्युदय का साधक नहीं हो सकती जो उपर्युक्त दोनों बातों को प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुरक्षित रख सके।

अधिनायकवादी देशों ने यदि बेकारी दूर कर के रोटी सुरक्षित कर दी तो मनुष्य की स्वतंत्रता छीन ली। पूँजीवादी लोकतंत्रता प्रदान करने का ढोंग रचा तो उसकी रोटी सुरक्षित न कर सके, जिसके फलस्वरूप मिली हुई स्वतंत्रता भी निरर्थक हो गई। गाँधीजी विकन्द्री-

करण के द्वारा ऐसे समाज की रचना का स्वप्न देखते हैं, जिसमें प्रत्येक की रोटी भी सुरक्षित हो और स्वतन्त्रता भी। किसी केन्द्रीभूत व्यवस्था में यह स्थिति सम्भव हो ही नहीं सकती; क्योंकि केन्द्रित सत्ता सदा जनाधिकार का अपहरण करने की ओर ही उन्मुख होगी। वह अपनी रक्षा के लिए केन्द्रीभूत शस्त्र-बल का अवलम्बन करने के लिए बाध्य है और शस्त्रशक्ति केन्द्रित होने के बाद अनिवार्यतः निर्दलन और हिंसा का प्रवर्त्तन करेगी। यही कारण है कि गाँधीजी विकेन्द्रीकरण करने के पक्षपाती हैं, जिसमें केन्द्रीभूत शक्ति-सत्ता न रह सके और न जब स्वातंत्र्य का निर्दलन हो सके। पर इस प्रकार का विकेन्द्रीकरण उसी अवस्था में हो सकता है जब जनवर्ग आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो।

फलतः गाँधीजी स्वावलम्बन के आधार पर उत्पादन की प्रणाली का विकेन्द्रीकरण करने की योजना उपस्थित करते हैं। मनुष्य यदि आत्मतुष्ट होगा, जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक और मौलिक सामग्रियों की उपलब्धि में किसी बाह्य सत्ता का परवश न होकर स्वावलम्बी होगा, तभी आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो सकेगा। मूल से जिस स्वतंत्रता का विकास होगा और मूल में ही जब अधिकार और शक्ति का निवास होगा तो दीप-शिखा की भांति ऊर्ध्वाभिमुख होकर वह शक्ति और अधिकार ऊपर जाते-जाते बिन्दु में ही समाप्त हो जायेगी। ऐसी ही व्यवस्था में मनुष्य सुखी और स्वतंत्र हो सकेगा। ऐसी ही व्यवस्था हिंसा के बजाय सहयोग मूलक हो सकेगी। उत्पादन की विकेन्द्रित प्रणाली न केवल जन-स्वातन्त्र्य का सर्जन करेगी प्रत्युत साम्राज्यों, दुनिया के बाजारों और भूप्रदेशों की तृष्णा मिटाकर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों की सम्भावना भी लुप्त कर देगी। गाँधीजी के विकेन्द्रीकरण का यही मौलिक लक्ष्य है। इसके आधार पर जिस समाज की रचना होगी उसका प्रकृत और व्यावहारिक रूप कैसा बनेगा तथा सङ्गटन, व्यवस्थाओं और विधान का यथार्थ रूप कैसा होगा यह बताना प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय नहीं है। उसकी योजना बनानी होगी स्थिति,

स्थान और काल के अनुसार, पर मूलभूत सिद्धान्तों की चर्चा मात्र-कर दी गयी है।

विकेन्द्रीकरण, जिस लक्ष्य को सामने रखकर गाँधीजी करना चाहते हैं, उसकी ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया गया है। विकेन्द्रीकरण करते हुए भी गाँधीजी समाज को विशुद्ध व्यक्तिवाद की ओर ले जाना नहीं चाहते, क्योंकि वे व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रयोजन यही मानते हैं कि वह समाज के हित में अपने को उत्सर्ग कर दे। स्वावलम्बन को विकेन्द्रित उत्पादन की पद्धति का आधार बनाते हुए भी वे सामाजिक इकाइयों (सोशल यूनिट्स) को परस्पर पृथक् करना नहीं चाहते क्योंकि वह मानते हैं कि समाज का आधार सहयोग-मूलक होना चाहिए। इन सीमाओं को लेकर विकेन्द्रीकरण के आधार पर रचना करना उद्देश्य है, जिसकी ओर भारत का और भारत के द्वारा सारे जगत् का ध्यान आज बापू आकर्षित कर रहा है। इसी पद्धति से वह यह आशा करते हैं कि हिंसा, वर्ग प्रभुता तथा 'कामनावाद' पर प्रतिष्ठित समाज का आधार बदलेगा और मनुष्य द्वारा जो मनुष्य का उत्पीड़न हो रहा है उसका अस्त होगा।

गाँधीजी के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में बहुत से प्रश्न उठाए जा सकते हैं और बहुत सी आपत्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं। किसी भी विचार को आप ऐसा नहीं पा सकते जिस पर आपत्ति न की जा सकती हो, फिर गाँधीजी का सिद्धान्त भी उसका अपवाद नहीं हो सकता। पर संक्षेप में उपस्थित किए जानेवाले कुछ प्रमुख प्रश्नों को लेकर विचार कर लेना अनुचित न होगा। कहा जा सकता है कि मनुष्य ने युग-युग की यात्रा करते हुए आज उन्नति के जिस स्तर को प्राप्त किया वह-उस वैज्ञानिक संस्कृति के रूप में प्रकट है जिसने मनुष्य को इतना ऐश्वर्य, इतनी शक्ति और इतनी महत्ता प्रदान की है। सहस्राब्दियों तक चूल्हा-चक्की और बैलगाड़ी के चक्कर में पड़े हुए मनुष्य ने बुद्धि के बल से प्रकृति की शक्तियों पर विजय प्राप्त किया और उत्पादन

के साधनों का आविर्भाव करने में समर्थ हुआ जिनके द्वारा अपने अभाव का निराकरण करके अपनी सारी इच्छाओं को पूर्ण करना सम्भव दिखाई देने लगा। आज क्या इन सब को तिलांजलि देकर पुनः उसी युग में जाना उचित होगा जहाँ से मनुष्य किसी समय चला था? क्या मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति उत्पादन की विकेन्द्रित प्रणाली से करना सम्भव होगा? उत्पादन की मात्रा यदि घट जायगी तो कैसे उतने पदार्थ प्राप्त हो सकेंगे जितने मानव-समाज के अभाव की पूर्ति करने के लिये आवश्यक होंगे? मोटर, वायुयान, रेलवे, विद्युत् आदि बड़ी-बड़ी चीजों का उत्पादन बिना महान् यन्त्रों के कैसे सम्भव हो सकेगा।

मनुष्य के श्रम को बचाने में यन्त्रों ने जो काम किया है, वह उत्पादन की नई पद्धति में कैसे सम्भव होगा? क्या मनुष्य के श्रम को बचा कर उसकी शक्ति को दूसरी ओर लगाना और उसे अवकाश प्रदान करना उचित नहीं है? क्या केन्द्रित उत्पादन की प्रणाली रखकर भी उन दोषों का परिहार नहीं किया जा सकता जिनके कारण गाँधीजी उसे त्याज्य समझते हैं? क्या रूस ने ऐसा ही प्रयोग करके यह नहीं दिखा दिया कि यांत्रिक उत्पादन की पद्धति रखकर भी पूँजीवाद, वर्ग-प्रभुता और जन समाज के दोहन का अंत किया जा सकता है? यदि थोड़ी देर के लिये यह मान लिया जाय कि विकेन्द्रीकरण को अपनाना ही वांछनीय है तो यह प्रश्न उठता है कि आज की दुनिया में क्या यह सम्भव भी है? जिन वर्गों के हाथ में उत्पादन के साधन हैं, जो शासन यंत्र पर आरूढ़ होकर सारी शक्ति और अधिकार को केंद्रित किये हुए हैं, जो आधुनिक यंत्रवाद से पालित और पोषित हैं, वे कभी ऐसा करने क्यों देंगे? कैसे यंत्रों का परिहार किया जायगा? कौन इसके स्थान पर विकेंद्रित पद्धति को स्थापित करने का भार उठावेगा?

मुख्यतः ये ही प्रश्न हैं, जो विकेंद्रीकरण की पद्धति पर विचार

करते समय स्वभावतः उठते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर में गाँधीजी का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। अलग-अलग नहीं किंतु सामूहिक रूप से गाँधीजी की दृष्टि के अनुसार उपर्युक्त प्रश्नों की विवेचना करने की चेष्टा की जायगी। यह सत्य है कि गाँधीजी जिस उपाय का निर्धारण कर रहे हैं वह उन तमाम परिस्थितियों और भावों तथा व्यवस्थाओं के विरुद्ध है, जिन्हें आज वैज्ञानिक संस्कृति का नाम प्रदान किया गया है। इसी संस्कृति को लेकर उसकी तुलना में गाँधी जी की पद्धति और कल्पना को पश्चाद्-गामिनी बताया जाता है। पर उसके पहले इस बात की विवेचना की जाय कि गाँधी जो की पद्धति प्रत्या-वर्तनी है या नहीं, यह समझ लेना आवश्यक है कि संस्कृति कहते किसे हैं। संस्कृति का अर्थ यदि विशाल अट्टालिकाओं से परिपूरित नगरों से हो, यदि धूम्रोत्क्षेपण करनेवाली कल-कारखानों की नभचुम्बिनी चिमनियों से हो अथवा यदि उसका अर्थ एकमात्र भौतिक सुख के साधनों से हो तो अवश्य गाँधी की कल्पना उस संस्कृति के विरुद्ध है। परंतु संस्कृति का अर्थ यदि विकास की उस धारा से हो जिसमें बहता हुआ मनुष्य मानवता की ओर बढ़ता गया हो तो आज इस बात का निर्णय करना होगा कि जिसे लोग आधुनिक सभ्यता कहते हैं क्या वह संस्कृति की संज्ञा पाने योग्य भी है?

प्रकृति ने मनुष्य को न केवल शरीर बनाया है, न केवल बुद्धि और न केवल आत्मा। वह केवल जड़ भी नहीं है, न केवल पशु है और न केवल देव। वह बहिर्मुखी इन्द्रियों की पुकार मात्र भी नही है और न केवल हृदय की भावना का व्यक्त रूप। उसमें न केवल ज्ञान ही है, न विशुद्ध इच्छामात्र और न केवल कर्म-शीलता। मनुष्य जटिल प्राणी है, जिसमें तीनों का समावेश है। इस त्रिवेणी के पावन संगम की सितासितमयी धारा के स्पर्श से ही मानव हुआ है। उसके जीवन की यह त्रिधारा मिल कर जब समान रूप से प्रवाहित हुई तो उसने मानव-संस्कृति का रूप धारण किया।

जीवन का यह अविरल प्रवाह अपने शारीरिक, और आध्यात्मिक क्षेत्रों का अभिषेक करता रहा है। संस्कृति वास्तव में इस प्रवाह की गति का ही नाम है। समय-समय पर इस धारा ने जो गति ग्रहण की, जो मार्ग पकड़ा वही तत्कालीन संस्कृति के रूप में उदीयमान होती रही है।

इस प्रवाह में बहते हुए मनुष्य ने जड़ता प्रदर्शित की है, पशुता से आच्छन्न होता रहा है, पर साथ-साथ जीवन के उन्नततम, उच्चतम और पवित्रतम विधान की झलक भी पाता रहा है। यही कारण है कि अपनी समस्त पशुता को मस्तक पर लादे हुए भी वह अपने पशु का संस्कार करता गया है। संस्कार और संतुलन की इस प्रक्रिया में मनुष्य पदे-पदे सफल न हुआ होता तो कदाचित् अपनी पशुता के कारण ही धरती से लुप्त हो गया होता। फलतः हम यह पाते हैं कि संस्कृति का आधारभूत और उज्वल अंश वही रहा है जो मनुष्य के पशु का संस्कार करता रहा है। जिस क्षण यह अंश सूखता नजर आता है उसी क्षण मनुष्य का प्रत्यावर्तन पशु की ओर होता है। फिर संस्कृति संस्कृति नहीं रह जाती। मनुष्य का यह पश्चाद्-गमन उसके सारे ऐश्वर्य और वैभव को व्यर्थ कर देता है, क्योंकि उनके रहते हुए भी उसकी मनुष्यता नष्ट होती दिखाई देती है।

आज के जगत् पर दृष्टिपात कीजिये और बताइये कि क्या मनुष्य मनुष्य से ही त्रस्त, उत्पीड़ित और बिताड़ित नहीं है? मनुष्य के ज्ञान विज्ञान की उपयोगिता क्या रह गयी यदि उसने उसे मनुष्य होने की शिक्षा न दी? आज मनुष्य-समाज क्या मनुष्य से ही आक्रान्त और भयभीत नहीं हो गया है? भले ही समाज का एक वर्ग वैभव और प्रभुता का अधिकारी होकर फूला न समाता हो पर मनुष्य का मनुष्य से अथवा व्यक्ति का समाज से कैसा सम्बन्ध हो गया है? क्या अपने सुख और विलास के अनुराग में अन्धे हो कर जगत् को अपनी ही तृप्ति का साधन समझना पशु प्रवृत्ति का ही द्योतक नहीं है? जिसे

आप सभ्यता कहते हैं वह संयमहीन, अविवेकपूर्ण और असन्तुलित भौतिक भोगों का उपभोग मानव जीवन के चरम साध्य के रूप में क्या उपस्थित नहीं कर रही है? द्वेष, हिंसा और दलन पर प्रतिष्ठित सामाजिक जीवन क्या संस्कृत मानवीय समाज कहलाने योग्य है? आखिर इस संस्कृति ने मनुष्य को प्रदान क्या किया? शोषण के साधन संहार की सामग्रियाँ, हिंसा की प्रवृत्ति को सफलता पूर्वक चरितार्थ करने के उपकरण के सिवा और क्या दिया? जो पशु का संस्कार न करके प्रत्युत उसे और उत्तेजित करे वह क्या संस्कृति कहलाने योग्य भी है?

आज भौतिक सभ्यता की छाया में आश्रय-प्राप्त विज्ञान उपर्युक्त घृणित स्थिति को बनाए रखने का साधन हो रहा है। मनुष्य की पशुता का परिहार करना तो दूर रहा वह उसे उत्तेजित करने का कारण हो गया है। इस संस्कृति में सभ्यता देखना विशुद्ध भ्रान्ति और कोरे दुराग्रह के सिवा कुछ नहीं है। वास्तव में सभ्यता और मानवता का पुरोगमन इस स्थिति की समाप्ति में ही संभव है। गाँधी जी आज जिस पथ का अनुशीलन कर रहे हैं, व सभ्यता से मुख मोड़ने के लिये नहीं प्रत्युत वास्तविक मानवीय संस्कृति के उदय के लिये कर रहे हैं। वह ऐसी संस्कृति के लिये यत्नशील हैं जो मनुष्य के पशु का संस्कार करती हो। आज ही तथोक्त सभ्यता के रूप में उद्भूत बर्बरता का पथावरोधन करना ही उनका लक्ष्य है। वे कहते हैं मैं आधुनिक सभ्यता का दृढ़ विरोधी हूँ। अपनी दृष्टि यूरोप पर डालिये और देखिये कि आज वह भूप्रदेश किस प्रकार इस सभ्यता के नीचे पड़ा कराह रहा है। मैं जो बीज आज बोने जा रहा हूँ उसका परिणाम मानव के पाशवीकरण के रोकने में मूर्त होगा। मैं मनुष्य स्वभाव को पाशवाभिभूति होने देना नहीं चाहता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मनुष्य यदि पशु हो जायगा तो अपने साथ-साथ सारी मानव जाति को ले डूबेगा। जो लोग शत्रु पर विजय प्राप्त करने के प्रयत्न में

अथवा दुर्बल राष्ट्रों और निर्बल मनुष्यों का दोहन करने में पाशवाबच्छिन्न हो जाते हैं, वे मानवता के पतन के कारण होते हैं। मनुष्य स्वभाव के इस पतन और उसकी इस भ्रष्टता को मैं सहन नहीं कर सकता। फलतः मनुष्य हृदय के पशु को उभाड़ देने से अधिक कुत्सित कार्य मेरी दृष्टि में दूसरा नहीं हो सकता।"

विचार करके देखिए कि जिसे आप आज की सभ्यता कहते हैं वह क्या यही कुत्सित कार्य नहीं कर रही है? भले ही आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान पर आप गर्व करें। प्रत्येक मनुष्य मानव-समाज की बुद्धि और सूझ की सफलता पर गर्व करेगा पर उस क्षण उस विज्ञान की क्या सार्थकता रह जाती है जब पशु बना मनुष्य उसका उपयोग पाशविक प्रकार से करने लगे? विज्ञान के रूप में मिला वरदान क्या अभिशाप नहीं हो जायेगा? गाँधी वैज्ञानिक ज्ञान का विरोधी नहीं है और न उससे उद्भूत यंत्रों का शत्रु है, परन्तु वह शत्रु है उस दुरुपयोग का जो विज्ञान और यंत्र को लेकर मनुष्य कर रहा है। गाँधी जी इसी सत्य की ओर संकेत करते हैं जब वे कहते हैं कि "वैज्ञानिक सत्य और आविष्कार लोभ की पूर्ति का साधन हो गया है। इस स्थिति का कुंठन सर्वथा आवश्यक है मेरी दृष्टि में मनुष्य का हित ही मुख्य स्थान रखता है। यंत्र का उपयोग मनुष्यों के अंगों को निष्क्रिय बना देने में अथवा लोभ की पूर्ति के साधन रूप में नहीं होना चाहिए। यंत्र लाभ कमाने के लिए उपयुक्त न होकर मनुष्य के कल्याण के लिए उपयुक्त हों और लोभ की प्रकृति का स्थान प्रेम ग्रहण करे तभी उनकी सार्थकता है। धन के लिए जो उन्माद छा गया है उसका लोप होना ही चाहिए।"

कौन कह सकता है कि गाँधीजी वैज्ञानिक ज्ञान अथवा यंत्र के विरोधी हैं? वे विरोधी हैं उस भाव के जो उनका परिचालन कर रहा है, वे विरोधी हैं उस स्थिति के जिसमें विज्ञान और यंत्र पशुता को उत्तेजित करने में कारण हो रहे हैं। वे चाहते हैं कि विज्ञान यदि रहे तो मनुष्य-

मात्र के कल्याण की कामना और साधना लेकर रहें। यदि यंत्र रहे तो उसके पीछे न लोभ की प्रवृत्ति हो और न वह शोषण का साधक हो। वह थोड़े से लोगों के श्रम को बचाने के लिए उपयुक्त न होकर सब के श्रम को बचाने में समर्थ हो। वर्ग-विशेष के ऐश्वर्य का आधार न होकर प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ति का, उसे काम देने की, उसके जीविकोपार्जन का और श्रम से उपार्जित संपत्ति पर उसकी प्रभुता का आधार हो। यदि यह संभव न हो तो उस विज्ञान और उस यंत्र के परित्याग में ही कल्याण है। वह सभ्यता और संस्कृति का सूचक नहीं वरन् बर्बरता का स्रोत हो जायगा, क्योंकि मनुष्य द्वारा मनुष्य पर हिंसा कराने का कारण बन जायेगा।

आज यही हो रहा है अतएव गाँधी उसका विरोध कर रहा है। जबतक यह स्थिति बनी है तबतक मनुष्य के शुभ्र संस्कार जागृत न होंगे और उनके स्फुरण के अभाव में मनुष्य मानवीय भी न हो सकेगा। गाँधी जी कहते हैं "मुझे भय है कि यंत्रवाद मानवता के लिए अभिशाप होने जा रहा है। किसी राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का दोहन सदा नहीं चल सकता। यंत्रवाद एकमात्र इसी बात पर अवलम्बित है कि किसी राष्ट्र में दूसरे राष्ट्र का शोषण करने की कितनी शक्ति है।" यह शोषण ही तो अनैतिक और पाशविक है अतएव बापू की दृष्टि में "जो अर्थनीति व्यक्ति अथवा राष्ट्र में नैतिक हित और सुख पर आघात करे वह अमानुषी और पापपूर्ण है।" गाँधीजी का चर्खा उसे मिटाने के प्रयास का प्रतीक है। उसके आधार पर वे जिस अर्थनीति और आर्थिक संघटन की रचना करना चाहते हैं उसका स्पष्टीकरण उनके ही शब्दों में देखिए।"

वे कहते हैं "मेरे मत से भारत ही नहीं किन्तु जगत् का आर्थिक विधान ऐसा होना चाहिए कि उसके अधीन कोई भी व्यक्ति ऐसा न हो जो अन्न और वस्त्र के अभाव से पीड़ित हो। प्रत्येक व्यक्ति को जीवनोपाय की इतनी सामग्री अवश्य उपलब्ध होनी चाहिए कि

वह कम से कम जीवन की नितान्त आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके। इस आदर्श की प्राप्ति तभी हो सकती है जब आवश्यक मौलिक साम-ग्रियों के उत्पादन के साधन जनवर्ग के अधिकार में हों। ये साधन प्रत्येक व्यक्ति को उसी प्रकार प्राप्त हों जिस प्रकार जलवायु सब को समान रूप से प्राप्त होता है। इन साधनों को शोषण का साधन बनने देना कदापि उचित नहीं है। उन पर किसी देश या राष्ट्र का एकाधिकार स्थापित होना अन्याय मूलक है। इस सरल और साधरण सिद्धान्त की उपेक्षा की गई है जिसका भयंकर परिणाम हम आज जगत् में देख रहे हैं। भारत ही नहीं बल्कि सारा संसार उसी से परि-पीड़ित है। यही महाविकार है जिसका परिहार करने के लिये खादी आन्दोलन का जन्म हुआ है।

"सारी अर्थनीति और सारे विज्ञान को चर्खे के लक्ष्य की पूर्ति का साधन होने दीजिये। चर्खे को किसी कोने में मत फेक दीजिये। हमारे कार्यक्रम रूपी सौर मण्डल का सूर्य चर्खा ही है। सम्भव है लोग इसे मेरी भूल ही बतावें, पर जब तक मुझे यह विश्वास नहीं हो जाता कि मैं भूल कर रहा हूँ, मैं इसकी रक्षा करूँगा। चर्खा और चाहे कुछ भी न हो पर वह निर्दोष अवश्य है। उसके द्वारा किसी का अहित नहीं हो सकता। पर उसके अभाव में हम और यदि कह सकूँ तो कहूँगा कि सारा जगत्, नष्ट भ्रष्ट हुए बिना बाकी न रहेगा। हम जानते हैं कि युद्ध के बाद यूरोप की क्या दशा हुई है। उस युद्ध में असत्य का प्रचार वैसे किया गया जैसे किसी महान् धर्म का उस युद्ध का जो फल निकला उससे आज जगत त्रस्त है। चर्खा यदि आज भारत का रक्षक हो सकता है तो कल सारे संसार का भी रक्षक हो सकता है। उसमें अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक हित की ही भावना नहीं है वरन् सभी का अधिक से अधिक हित समान रूप से करने के सिद्धान्त का वह प्रतिपादक है।

"मुझे जगत् में प्रत्येक प्राणी से प्रेम है। फलतः मुझे ऐसा अनुभव

होता है कि हम में से छोटे से छोटा आदमी भी जब तक सुखी नहीं होता तब तक मैं सुखी नहीं हो सकता। यही भावना है जिससे भावित होकर मैं चर्खे को ग्रहण करने का आग्रह करता हूँ। आज बड़े बड़े महलों का निर्माण लाखों को भूखा रख कर और उनका पेट काटकर किया जाता है। आप नई दिल्ली की ओर देखें। ट्रेनों के पहले और दूसरे दर्जे के डब्बों में किए गए सुधार और वहाँ की सुविधाओं को देखें। आप को सर्वत्र यही प्रवृत्ति दिखाई देगी कि थोड़े से अधिकार-प्राप्त श्री-संपन्नों के सुख सुविधा और विलास को बढ़ाया जाय पर दरिद्रों की अधिकाधिक उपेक्षा की जाय। जिन लोगों ने आधुनिक पद्धति को जन्म दिया है उनसे हमारी कल्पना सर्वथा भिन्न है। वे मुट्ठी भर लोगों के हित के सम्बन्ध में सोचते हैं और हमें जगत् के करोड़ों शोषितों और दलितों के लिये सोचना है। आज जो है वह राक्षसी नहीं है तो और क्या है?"

यही है कल्पना जिसके गर्भ में चर्खे का उद्भव हुआ है। वह प्रतीक है उस नव संकृति का जिसके उदर में गाँधीजी मानवजाति का कल्याण देखते हैं। आज जो संस्कृति के नाम से विख्यात है उसमें उन्हें आसुरी भाव का भयावना विकास दिखाई दे रहा है। वह मानुषी नहीं है, क्योंकि अनीति और पाप पर प्रतिष्ठित है। वह तो उन संस्कारों के जागरण में संस्कृति का उद्भव देखते हैं जिनकी ओर ऊपर संकेत किया गया है। वही सच्ची मानव-संस्कृति होगी जो मनुष्य समाज की स्वतन्त्रता और सुख का संवर्द्धन करेगी। आज जो है उसके प्रवाह से मनुष्य को बाहर निकालने में ही मानव-जाति की रक्षा और मानव-संस्कृति का विकास सम्भव हो सकता है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि विकेन्द्रित उत्पादन की पद्धति से क्या मनुष्य की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकेंगी? यदि इस प्रश्न का उत्तर खोजना है तो पहले एक बात समझ लेना आवश्यक है। मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति आप चाहते हैं अथवा उसकी वासनाओं तथा

उतरोत्तर बढ़ती इच्छाओं की पूर्ति चाहते हैं ? ये दोनों बिल्कुल दो भिन्न बातें हैं, जिनमें आकाश-पाताल का अन्तर है। आवश्यकता की पूर्ति से अर्थ यदि ऐसी सामग्रियों की उपलब्धि से है जो मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिए अपेक्षित हैं तो मैं कहूँगा कि विकेन्द्रित उत्पादन की प्रणाली उनकी पूर्ति करने में आधुनिक उत्पादन की पद्धति की अपेक्षा अधिक समर्थ है। अन्न अथवा वस्त्र उदाहरण स्वरूप ऐसे ही पदार्थ कहे जा सकते हैं जो जीवन की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक हैं। ऐसे पदार्थों की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए ही तो गाँधी जी ने अपनी पद्धति उपस्थित की है।

उत्पादन के साधन पर उत्पादन का और उपार्जित संपत्ति पर भी उत्पादक का स्वामित्व इसी के लिए तो अपेक्षित है, गाँधी जी मनुष्य को अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति में स्वावलम्बी क्यों बनाना चाहते हैं ? वे ऐसा इसीलिए तो चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी बाह्य संस्था पर आश्रित हुए अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर सके। यह स्थिति महान् कल-कारखानों की व्यवस्था में संभव नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति बड़े-बड़े कल-कारखानों से स्वयम् उत्पादन कर भी नहीं सकता। प्रत्येक व्यक्ति उत्पत्ति के इन साधनों का स्वामी भी नहीं हो सकता। फलतः गाँधीजी ऐसे उपाय को खोजते हैं जिसमें उत्पादन के साधन ऐसे हों जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुलभ हों। जो लोग उनकी पद्धति के संबंध में उपर्युक्त प्रश्न करते हैं उनसे मैं निवेदन करूँगा कि वे तनिक आँखें खोल कर देखें कि आज जिस उत्पादन-पद्धति की भूरि-भूरि प्रशंसा की जाती है और जिसे मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाला समझा जाता है, उसका सब से बड़ा दोष क्या यही नहीं है कि वह समाज की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ सिद्ध हो रही है और उन्हें जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त करना असंभव बना रही है।

उत्पादन की मात्रा के अकल्पित रूप से बढ़ जाने से ही तो आव-

श्यकताओं की पूर्ति नहीं हो जाती। आज तो जिस अनुपात में उत्पादन बढ़ा है उसी अनुपात में अभाव भी उग्र हो गया है। केन्द्रित उत्पादन की पद्धति में जनता दूसरे के चुल्लू से पानी पीने के लिए बाध्य है। फलतः वह भूखी भी है और दलित तथा दास भी। गाँधी जी की पद्धति का लक्ष्य यदि कुछ है तो यही है कि एक ओर इस अवस्था का अन्त हो तो दूसरी ओर मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने में स्वतन्त्र हो। विकेन्द्रित उत्पादन की प्रणाली से यह लक्ष्य अपेक्षाकृत अधिक निश्चित ढंग से पूरा हो सकता है। अब रही यह आपत्ति कि विकेन्द्रित पद्धति से मनुष्य की बढ़ी हुई इच्छाओं और वासनाओं की पूर्ति नहीं हो सकती। पूँजीवादी व्यवस्था में विश्वास रखने वाले तो यह आपत्ति करने का अधिकार ही नहीं रखते। कारण यह है कि उक्त व्यवस्था में इच्छाओं और वासनाओं की पूर्ति करने का अवसर भला मिलता किसको है? थोड़े से अनुत्पादक पूंजीपति वर्ग के लोगों को छोड़कर व्यापक जन-समाज तो भूख की भीषण अग्नि और दीनता की विपत्ति में जला जा रहा है।

व्यापक जन-समाज जब अपने बच्चों का पेट भरने में और मनुष्य के समान जीवन बिताने में भी असमर्थ है तो उसके लिए बढ़ी हुई इच्छाओं की पूर्ति का प्रश्न ही कहाँ उठता है? परन्तु समाजवादी व्यवस्था के समर्थक उपर्युक्त आपत्ति उपस्थित कर सकते हैं, क्योंकि समान रूप से वर्गहीन समाज के प्रत्येक व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं। वे यह कह सकते हैं कि आज की सभ्यता, विलास, भोग और इच्छाओं की पूर्ति के साधनों को यान्त्रिक उत्पादन की प्रणाली के द्वारा प्रदान करने में यदि समर्थ है तो कोई कारण नहीं है कि जनवर्ग उस अवसर से वंचित किया जाय। यदि विकेन्द्रित ग्रामोद्योगों का अवलम्बन किया गया तो फिर उन साधनों का प्रस्तुत होना सम्भव न होगा और मनुष्य की इच्छाएँ पूरी न हो सकेंगी।

आज जहाँ इच्छाओं और आवश्यकताओं की बाढ़ तथा उन्हें पूर्ण

करने के प्रयास को ही मनुष्य की सारी शक्ति और स्फूर्ति का स्रोत माना जाता है, जहाँ मनुष्य की लालसा-पूर्ति में ही संस्कृति की परिपूर्णता मानी जाती है वहाँ गाँधी की दृष्टि ही दूसरी है। वह तो यह समझता है कि इच्छाओं और कभी न पूर्ण होने वाली आवश्यकताओं का जाल फैलाकर मनुष्य उस भयावने बन्धन का सर्जन करता है जिससे मुक्त होना अत्यन्त दुष्कर होता हैं। गाँधी ने उस मनोवैज्ञानिक सत्य का अनुभव किया है जो सिद्ध करता है कि इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति तथा मनुष्य की तृप्ति उनके भोग से नहीं किन्तु नियन्त्रण ही में हो सकती है। स्वतन्त्रता की बेलि इच्छाओं के संयमन और नियमन में ही फलती-फूलती है। मनुष्य को यदि अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है तो जीवन को संयमित करना पड़ेगा।

कामनाओं और इच्छाओं की दासता स्वीकार करके यूरोप ने धरित्री में भयावनी आग लगाई है। इच्छा और इच्छाओं की पूर्ति की कल्पना पर जो समाज प्रतिष्ठित होगा उसका आधार हिंसा पर होना अनिवार्य है। हिंसा यदि आधार होगी तो किसी न किसी रूप में किसी न किसी वर्ग का दलन और अधिकारापहरण भी होता रहेगा। स्मरण रखने की बात है कि आधुनिक यांत्रिक प्रणाली की सर्वतोधिक आवश्यकता इसीलिये समझी जाती है कि मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति उससे अधिकाधिक मात्रा में हो सकती है। समाजवाद अधिक से अधिक इच्छा की पूर्ति करना चाहता है। पूर्ति ही नहीं, वह इच्छाओं की अधिकाधिक वृद्धि आवश्यक समझता है। फलतः उत्पादन की आधुनिक प्रणाली को बनाए रख कर उसके सञ्चालकों में परिवर्तनमात्र कर देने में समस्या का हल देखता है। पर इससे क्या समस्या हल हो जाती है?

समस्या है क्या? समस्या इच्छाओं की पूर्ति नहीं है प्रत्युत यह है कि समाज का निम्नतम वर्ग, उसका प्रथम सोपान अर्थात् वह जनवर्ग जिस पर सामाजिक भवन निर्मित होता है अपने अधिकार का उप-

भोग कर पावे। अधिकार-निधि मूल में हो और जनसमाज हो स्वत्वाधिकारी। अधिकार हो व्यापक रूप से वितरित। नीचे से ही अधिकार का वितरण और समर्पण ऊपर को हो, पर उतने का ही समर्पण हो जितना जन-समाज को अपने अधिकारों का समुचित उपभोग करने के लिये समर्पित कर देना आवश्यक हो। जनता का स्थानीय सङ्गटन पूर्ण स्वायत्ताधिकारी हो, जो किसी केन्द्रीयतंत्र के हस्तक्षेप से अधिक से अधिक मुक्त हो। जब ऐसी ही स्थिति होगी तभी जन-स्वतन्त्र की कल्पना वास्तविक हो सकेगी। प्रश्न यह है कि चाहे जिस भी कारण से हो यदि आर्थिक सङ्गटन केंद्रित होगा तो क्या कभी अधिकार और शक्ति के विकेन्द्रीकरण की सम्भावना हो सकती है? गाँधी इसे असम्भव समझता है। जगत् का अनुभव भी यही सिद्ध करता है।

इच्छाओं की वृद्धि करके मनुष्य केंद्रित आर्थिक सङ्गटन पर आश्रित हो जाने के लिये वाध्य होगा, जिसका परिणाम उसकी परतंत्रता में ही मूर्त होगा। उस स्थिति में अधिकार सत्ता अनिवार्यतः शिखर में स्थित होगी। अधिकार अधोमुख स्रोत से ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होगा जो अन्तिम स्वर तक पहुँचते-पहुँचते सूख जायेगा। फलतः मुकुट के रूप में समाज के शिर पर चिपका हुआ अधिकारतंत्र जहाँ अक्षुण्ण प्रभुता का उपभोग करेगा वहाँ नीचे का स्तर निःसत्व हो जायगा जिसके जीवन के प्रत्येक अंश और अंग पर उसी प्रभुसत्ता की अँगुलियाँ पहुँचती रहेंगी। केन्द्रित तंत्र के इस दोष से स्वयम् मार्क्स से अधिक कोई परिचित नहीं है। तभी वे यह कल्पना करते हैं कि समाज के लिये आदर्श स्थिति वह होगी जब शासनसत्ता एक दिन क्षय को प्राप्त हुई रहेगी। इस स्थिति को लाने के लिये वे परिवर्तन-काल में प्रचण्ड रूप से केन्द्रीभूत अधिनायक सत्ता की स्थापना का उपाय उपस्थित करते हैं।

इस पद्धति में कहाँ दोष है और उसके पक्ष में दिये गये तर्कों तथा तत्सम्बधी कल्पना में कहाँ भ्रांति है, इस पर किसी गत अध्याय में

विचार कर चुके हैं पर यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि गाँधी की दृष्टि में उत्पादन की केन्द्रित प्रणाली रखकर जिस समाज की रचना की जायेगी और उससे उद्भूत जिस केन्द्रीभूत शासन-सत्ता की स्थापना होगी उसके अधीन पड़ा हुआ जनवर्ग कभी स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं कर सकता। इसका सबसे बड़ा प्रमाण स्वयम् रूस का ही प्रयोग है, जिसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि प्रयोगावस्था में भी उस प्रयोग का सेवन करने के लिए रक्त की धारा प्रवाहित करनी पड़ी है। रूस में जिस नर-मेध की अधिक आवश्यकता पड़ी, वहाँ की धरती पर दमन, दलन और शस्त्र को जिस प्रकार उद्दण्ड और उलङ्ग नृत्य करना पड़ा उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

हिंसा पर प्रतिष्ठित आधुनिक समाज को मिटाकर जिस नये समाज की स्थापना का स्वप्न देखा जाता है, वह हिंसक पद्धति से प्रतिष्ठित हो ही नहीं सकता। आर्थिक स्वतन्त्रता की पूर्ति उत्पादन की इस प्रणाली को बनाए रख कर की जा सकती है यह समझना विशुद्ध भ्रांति है। समाजवादी कल्पना के अनुसार जो व्यवस्था की जाती है उसमें उत्पादक मजदूर वर्ग का स्वामित्व उत्पादन के साधनों पर वैधानिक और काल्पनिक दृष्टि से भले ही घोषित किया जाता हो, पर उसके फलस्वरूप जिस केन्द्रित व्यवस्था और केन्द्रित तन्त्र की सृष्टि होती है वह न आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है और न जनाधिकार के अबाध प्रवाह को गति शील होने देती है। रूस में न वहाँ की जनता स्वतन्त्र विचार और स्वतन्त्र मत व्यक्त करने में समर्थ है और न आर्थिक दृष्ट्या ही स्वतन्त्र है। कौन कितना भोजन करे कितना वस्त्र पहने तथा कितना काम करे और कौन सा काम करे उसका निर्धारण भी केन्द्रीव्यवस्था के द्वारा ही होता है।

यह स्वतन्त्रता नहीं है और न गाँधी उपर्युक्त धारणा को स्वीकार ही करता है। वह जन-स्वतन्त्रता का एकमात्र उपाय आर्थिक विकेन्द्री-

करण में देखता है और यह आशा करता है कि शासन सत्ता की केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति को रोकने का वही एकमात्र उपाय है। यह उपाय उसी स्थिति में ग्रहण किया जा सकता है जब मनुष्य इच्छाओं और वासनाओं की पूर्ति में ही जीवन के आदर्श और सुख की कल्पना न करे। इच्छाओं की पूर्ति और उनकी अधिकाधिक वृद्ध में ही संस्कृति देखना तथा उनकी सिद्धि को जीवन के लिए आवश्यक समझना यदि स्वीकार कर लिया गया तो फिर केन्द्रित उत्पादन की प्रणाली को अपनाना अनिवार्यतः आवश्यक दिखाई देने लगेगा। पूँजीवाद में जीवन का यही आदर्श उज्जीवित है। यूरोप का आधुनिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी यही है। और 'समाजवाद' भी इच्छाओं और आवश्यकताओं की वृद्धि तथा पूर्ति को अपेक्षित मान कर अग्रसर होता है। फलतः सभी केंद्रित उत्पादन की प्रणाली को बनाए रखना आवश्यक समझते हैं।

गाँधी इन मूल आकांक्षाओं और दृष्टियों का विरोधी है। वह तो मनुष्य को इस दिशा से मोड़ना चाहता है। वह चर्खे द्वारा सूचित उत्पादन की पद्धति से मनुष्य जीवन की नितान्त अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता है और उस पद्धति से यह लक्ष्य निस्संदेह सिद्ध भी होगा। पर दिन प्रतिदिन के बढ़ते हुए 'भोगवाद' का सामना यदि नहीं हो सकता तो उनकी संतृप्ति करना उसका लक्ष्य भी नहीं है। वह तो चर्खे के द्वारा मनुष्य को संयम का उपदेश कर रहा है। इच्छाओं की वृद्धि मार्ग है परावलम्बन और पराधीनता का। स्वाधीनता और स्वावलम्बन यदि अपेक्षित है तो सरलता, शुचिता और संयम को अपनाना ही होगा। चर्खे में संयम का यह संदेश ही तो सन्निहित है। गाँधीजी एक कदम और आगे बढ़ते हैं। वे इस भ्रांति में नहीं रहते कि एक ओर भौतिक भोग-साधन को जीवन का लक्ष्य मानना और व्यक्ति का अपने को समस्त में लय कर देने की भावना से भावित होना एक साथ संभव हो सकता

है। ये परस्पर विरोधी कल्पनाएँ हैं। मनुष्य जब त्याग और उत्सर्ग में जीवन के सुख और आनन्द की अनुभूति करे तभी समाज के लिए व्यक्ति अपने को लय कर सकता है। इसी के आधार पर गाँधीजी अपरिग्रह के नैतिक आदर्श पर जोर देते हैं।

रूसी बोल्शेवीवाद की चर्चा करते हुए वह कहते हैं "मैं समझता हूँ कि 'बोल्शेवीवाद' व्यक्तिगत सम्पत्ति के लोभ की चेष्टा करता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति को मिटाना वास्तव में अपरिग्रह के नैतिक आदर्श को आर्थिक क्षेत्र में कार्यान्वित करनामात्र है। यदि मनुष्य इस आदर्श को स्वेच्छा से स्वीकार कर लेता अथवा उचित शान्तिमय उपायों द्वारा इसे स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया जा सकता तो इससे बढ़कर दूसरी कोई बात नहीं हो सकती थी। पर जहाँ तक मैं बोल्शेविज्म को समझ सका हूँ वह न केवल पशु-बल को साधन बनाने की बात स्वीकार करता है, वरन् बिना किसी संकोच के उसकी शरण लेता है और व्यक्तिगत संपत्ति को मिटा कर उस पर शासन-सत्ता का सामूहिक अधिकार स्थापित करने के लिए और उस अधिकार को बनाए रखने के लिए शस्त्र-बल का सहारा लेना उचित समझता है। यदि यही है तो मैं भी बिना किसी अड़चन और संकोच के कह सकता हूँ कि अपने आधुनिक रूप में 'बोल्शेवीवाद' अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। क्योंकि मेरा अटल विश्वास है कि कोई भी व्यवस्था जो हिंसा पर आश्रित हो स्थायी नहीं हो सकती।"

अपरिग्रह के उस नैतिक आदर्श को जिसे बोल्शेवीवाद हिंसा के द्वारा आर्थिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित करना चाहता है बापू नैतिक पद्धति से कार्यान्वित करने की चेष्टा कर रहा है। जिस आदर्श को 'मार्क्सवादी' इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं की वृद्धि तथा पूर्ति की आवश्यकता घोषित करके पूर्ण करना चाहता है उसे गाँधी संयम, त्याग और उत्सर्ग के पथ से ही प्राप्त करना संभव समझता है। यह सच है कि उत्पादन के साधनों को समाजवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में न रहने देकर पूँजीवाद

अर्थनीति से उत्पन्न बहुत से दोषों को मिटा देता है और यन्त्रों का उपयोग पूँजीपति वर्ग के स्वार्थ की पूर्ति में न होने देकर जन-समाज के हित में करने की चेष्टा करता है तथापि उत्पादन की केन्द्रित प्रणाली रखने के कारण तथा बलपूर्वक एक वर्ग का संहार करने की हिंसक पद्धति अपनाने के कारण जिस केन्द्रित शासनतन्त्र की स्थापना करने को बाध्य होता है उसके फलस्वरूप जन-समाज की स्वतन्त्रता एक ओर जहाँ विकसित नहीं होने पाती वहीं दूसरी ओर उक्त व्यवस्था हिंसा पर ही अवलम्बित हो जाती है। गाँधीजी विकेन्द्रीकरण की पद्धति के द्वारा इसी दोष का परिहार करना चाहते हैं।

पर यहीं एक आपत्ति और खड़ी की जा सकती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि विकेन्द्रीकरण की नीति को अपनाने में ही मनुष्य-समाज का कल्याण है और उसे ग्रहण करने के लिए बढ़ती हुई इच्छाओं तथा वासनाओं का संयम आवश्यक है तथापि यह प्रश्न तो उठता ही है कि चर्खा जिस उत्पत्ति को प्रणाली का संकेत है उसके द्वारा यातायात के आधुनिक साधन, रेल-तार, खनिज पदार्थों की उपलब्धि करने वाले कल-कारखाने, कल-पुर्जे तथा विद्युत् की शक्ति का उत्पादन करने वाले यन्त्रों का निर्माण तो नहीं हो सकता। उनकी रचना तो उत्पत्ति की आन्तरिक पद्धति के द्वारा ही संभव है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये पदार्थ केवल विलास की सामग्री हैं। आधुनिक दुनिया में मानव-समाज के कल्याण और विकास में इनका उपयोग किया जा सकता है। फिर क्या हस्त-कौशल और ग्रामोद्योग की विकेन्द्रित पद्धति को अपना कर इन सब को तिलांजलि दे देना वांच्छनीय होगा?

इस प्रश्न के उत्तर में यह निवेदन किया जा सकता है कि गाँधीजी विकेन्द्रीकरण की प्रथा के प्रवर्तक होते हुए भी यंत्रों के विरोधी नहीं हैं। वे यन्त्रवाद के विरोधी अवश्य हैं। जैसा कि पूर्व के पृष्ठों में कह चुका हूँ कि बापू यन्त्र की अपेक्षा उस प्रकार के विरोधी हैं जिस प्रकार उसका उपयोग किया जा रहा है। वे विरोधी हैं उसके पीछे बहने वाली भाव-

धारा के और उस व्यवस्था के जो उक्त भाव-धारा का परिणाम है। जो यन्त्र प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ हो, जो प्रत्येक के श्रम को बचाने का साधन हो सके, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन कर सकता हो और इस प्रकार उपार्जित संपत्ति का स्वामी बन सकता हो उसे ग्रहण करने में गाँधी जी को आपत्ति नहीं है। वे कहते हैं "मैं यन्त्रों के विरुद्ध उतना नहीं लड़ रहा हूँ जितना उनके उपयोग करने की पद्धति के विरुद्ध लड़ रहा हूँ। समस्त यन्त्रों की समाप्ति कर देना मेरा लक्ष्य नहीं है। मैं उनकी समाप्ति नहीं प्रत्युत सीमा-बद्धता चाहता हूँ।"

सीमा-बद्धता से गाँधीजी का अर्थ क्या है इस पर प्रकाश डालते हुए वे स्वयम् कहते हैं "दृष्टान्त स्वरूप से सिंगर की सीने वाली मशीन को पेश कर सकता हूँ। सिंगर ने अपनी पत्नी को कपड़ा सीने के पित्त-मार काम में देखा। अपनी पत्नी के प्रति अपने स्नेह के वशीभूत हो कर उसने सीने की कल का आविष्कार किया। अपने आविष्कार से उसने न केवल अपनी पत्नी का श्रम बचाया बल्कि ऐसे सब लोगों की मिहनत बचा दी जो उस यन्त्र को खरीद सकते हों।" गाँधीजी का भाव स्पष्ट है। ऐसे यन्त्र जिससे सब लाभ उठा सकते हों, जो सब का श्रम बचा सकते हों और जिनका प्रयोग विकेन्द्रित ढंग से हो सकता हो उन्हें ग्रहण करने में गाँधीजी को आपत्ति नहीं है। पर यह कहा जा सकता है कि यदि गाँधीजी सिंगर की सीने की मशीन को स्वीकार कर सकते हैं तो उस मशीन का निर्माण करने के लिये भी बड़े-बड़े कारखानों तथा बिजली और वाष्प तथा अग्नि से चलने वाले यन्त्रों की आवश्यकता होगी।

ऐसी स्थिति में वे बड़े-बड़े कारखानों का विरोध कैसे करते हैं? आज के समाज को दो प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता होती है। एक पदार्थ तो वे हैं जो मौलिक उद्योग के नाम से विख्यात हैं। लोहा-कोयला आदि खनिज पदार्थों की उत्पत्ति, विद्युत् की शक्ति, यन्त्र आदि बनाने के कारखाने, सीमेन्ट, रेल आदि के डिब्बे का निर्माण आदि ऐसे ही उद्योग हैं। दूसरे प्रकार के उद्योगों में उनकी

गणना की जाती है जो उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। वस्त्र, शक्कर आदि के उत्पादन का व्यवसाय ऐसा ही है। बापू यन्त्रों का विरोध करते हुए भी दूरदर्शिता के साथ अपने विरोध की सीमा यहीं बाँध देते हैं। वे उन पदार्थों के उत्पादन के लिए जो जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक होते हैं, यांत्रिक पद्धति को अपनाना विघातक समझते हैं। अन्न, वस्त्र आदि पदार्थों के उत्पादन में वे यन्त्र पद्धति का स्पर्श भी नहीं चाहते, क्यों नहीं चाहते, इस पर पूर्व के पृष्ठों में प्रकाश डाला जा चुका है। पर मौलिक उद्योगों के लिये यन्त्रों के उपभोग को इस शर्त के साथ वे स्वीकार कर लेते हैं कि वे व्यवसाय किसी व्यक्ति की सम्पत्ति न रह कर राष्ट्र की सम्पत्ति बने और उनका समाजीकरण हो जाय।

गाँधीजी कहते हैं "मैं इतना समाजवादी हूँ कि यह कहूँ कि ऐसे आवश्यक उद्योगों का राष्ट्रीकरण कर दिया जाय। उस दशा में इन उद्योगों का संचालन न केवल आकर्षक और आदर्श परिस्थिति में होगा वरन् उनका उपयोग लाभ कमाने के लिए न होकर समाज के हित में होगा। उनके पीछे नियत लोभ की न होकर प्रेम की होगी। सिंगर की मशीन के पीछे भी प्रेम ही की धारा है। मेरी दृष्टि में व्यक्ति ही सर्वोपरि है"। प्रत्येक व्यक्ति के श्रम को बचाना लक्ष्य हो और उन्नत मानवी भावना हो उत्प्रेरणात्मक प्रयोजन। लोभ के स्थान पर प्रेम की प्रतिष्ठा कर दीजिए सारे प्रश्न स्वयम् ही हल हो जायेंगे। मौलिक उद्योगों का केन्द्रीकरण स्वीकार करके गाँधीजी वास्तव में आज की परिस्थिति में यथार्थवादिता का परिचय दे रहे हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे केन्द्रीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार कर रहे हैं। वस्तुतः मौलिक उद्योगों के लिए उत्पादन की केन्द्रित प्रणाली को बनाए रखने से सहमति प्रकट कर के वे केवल केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण में एक प्रकार का समझौता मात्र कर लेते हैं। समझौता भी केवल इस दृष्टि से कि आज की परिस्थिति में सिवा इसके दूसरा चारा नहीं है।

आज का मनुष्य रेल-तार से मुख नहीं मोड़ सकता। फलतः

समाज में उनके लिए व्यवस्था करनी ही होगी। हाँ इतना अवश्य देखना होगा कि यह व्यवस्था करते हुए भी केन्द्रित उत्पादन की प्रणाली के दोष का यथासंभव परिहार कर दिया जाय। यह परिहार, उपर्युक्त उद्योगों का समाजीकरण करके, करने की आशा गाँधीजी करते हैं। कहा जा सकता है कि विकेन्द्रीकरण को यदि स्वीकार करना है तो क्यों न उपर्युक्त उद्योगों के लिए भी किसी न किसी प्रकार की विकेन्द्रित पद्धति खोज निकाली जाय? यदि ऐसा हो सकता तो गाँधी उसे करने में संकोच न करता। पर इसकी सम्भावना सम्प्रति दिखाई नहीं देती, क्योंकि प्रकृति ने ही इसमें बाधा उपस्थित की है। मानव-जाति को प्राकृतिक पदार्थों का वितरण करते हुए उसने स्वयम् ही दो प्रकार की पद्धतियों को अपनाया है। कुछ पदार्थों का वितरण वह विकेन्द्रित ढंग से करती है, पर कुछ का केन्द्रित प्रकार से ही होता है। उदाहरणार्थ खनिज पदार्थों को ले लीजिए, तेल को ले लीजिए। इनको उसने केन्द्रित ढंग से ही प्रदान किया है। यह सम्भव नहीं है कि लोहा-कोयला या तेल अथवा बिजली का उत्पादन व्यक्ति विकेन्द्रित ढंग से कर सके। इस स्थिति में या तो इन पदार्थों से मुख मोड़ना होगा अथवा इनका उत्पादन केन्द्रीभूत पद्धति से करना होगा। आज उनसे विमुख होना सम्भव नहीं है। अतः दूसरा उपाय ग्रहण करना होगा! ग्रहण करते हुए केन्द्रित-पद्धति के दोषों का परिहार यथासम्भव करना चाहिए और राष्ट्रीकरण ही उस परिहार का उपाय है।

यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि केन्द्रीकरण के दोषों का परिहार यदि केन्द्रित उद्योगों का समाजीकरण करने से सम्भव हो सकता है और यदि मौलिक उद्योगों का केन्द्रीकरण गाँधीजी को स्वीकार है तो क्यों न अन्य सभी उपभोग्य वस्तुओं के केन्द्रीभूत उद्योगों का समाजीकरण कर दिया जाय? समाजवादी व्यवस्था यही करती है। इतना तो मानना ही होगा कि समाजवादी अर्थनीति और उत्पादन-व्यवस्था में लाभ कमाने की अथवा लोभ और शोषण की प्रवृत्ति

नहीं है। फिर उसे अपना कर क्यों न आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का सदुपयोग किया जाय। मनुष्य का श्रम बचाया जाय और उसकी बची हुई शक्ति का उपभोग दूसरी दिशा में क्यों न किया जाय? अन्ततः क्यों न विकेन्द्रीकरण के महाप्रयास से मनुष्य की रक्षा की जाय?

यह मानते हुए भी कि समाजवादी व्यवस्था में लाभ उठाने अथवा लोभ और शोषण की प्रवृत्ति नहीं है, गाँधी उपभोग्य वस्तुओं के उद्योग को क्यों विकेन्द्रित करना चाहता है इस पर पूर्व के पृष्ठों में प्रकाश डाला जा चुका है। कहा जा चुका है कि उपभोग्य पदार्थों के निर्माण की क्रिया को केन्द्रीभूत कर देने से जन-समाज जिस परावलम्बिनी स्थिति का शिकार हो जाता है वह उसकी स्वतन्त्रता और नैसर्गिक अधिकारों के विकास का कुंठन अनिवार्यतः कर देती है। भोजन और वस्त्र तथा ऐसे ही नितान्त आवश्यक पदार्थों के लिये परावलम्बन तथा रेल और तार के लिए दूसरे पर निर्भय करना एक ही बात नहीं है। यदि पहले के लिये मनुष्य पराश्रित हो जाय तो वह संघटन जिस पर वह आश्रित होगा उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण आसानी से कर सकेगा, जन-समाज की शिखा सदा उस केन्द्रित व्यवस्था की मुट्ठी में रहेगी जो जनवर्ग के भोजन और वस्त्र की व्यवस्था करने की अधिकारिणी है। वह केन्द्रित व्यवस्था स्वभावतः शक्ति और अधिकार के अधिकाधिक केन्द्रीकरण की ओर अभिमुख होगी और अपने पद की रक्षा के लिए केन्द्रीभूत बल का सहारा ले लेगी। भले ही समाजवादी व्यवस्था में शोषण न हो पर जनाधिकार का निर्दलन होना अनिवार्य है। क्योंकि वह तन्त्र जो सर्वाधिकारी है निरंकुश रूप से अधिकार-सत्ता का उपभोग करेगा।

रूस में जहाँ समाजवादी व्यवस्था का प्रयोग हुआ है यही स्थिति रही है। यदि ऐसी व्यवस्था अपेक्षित हो जिसमें न केवल शोषण का अन्त हो, न केवल लोभमयी अर्थनीति की समाप्ति हो प्रत्युत जन-स्वातन्त्र्य की भी रक्षा हो और सर्वाधिकार जनसमाज में ही निहित

तथा वितरित हो तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में यथासम्भव जन-समाज केवल स्वतन्त्र ही नहीं स्वावलम्बी भी हो। इसी कारण गाँधीजी उपभोग्य पदार्थों की उत्पत्ति को किसी केन्द्रित व्यवस्था के हाथ में किसी भी अवस्था में समर्पण करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे मौलिक उद्योगों को केन्द्रित करने के लिए राजी हो जाते हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके खतरों से परिचित नहीं हैं। केन्द्रित करने की इतनी आवश्यकता से भी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बनी रहेगी और केन्द्रीभूत सत्ता के हाथ में अधिकार भी बना रहेगा। पर इस खतरे को अधिक न बढ़ने देने के लिए भी यही उपाय है कि जीवन की अति नैसर्गिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले पदार्थों की उपलब्धि में व्यापक जन-समाज यथा सम्भव स्ववश और स्वावलम्बी हो। उस स्थिति में उसमें इनकी शक्ति रहेगी कि किसी केन्द्रित व्यवस्था के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का उस सीमा के बाद सामना और अवरोधन कर सके जब वह जन-समाज की प्रभु-शक्ति और अधिकार पर आघात करने की चेष्टा करे। इसी प्रकार केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण में बापू सन्तुलन स्थापित करने की व्यवस्था करता है।

उत्पत्ति के साधन यदि विकेन्द्रित रहें और यदि उत्पत्ति की प्रणाली विकेन्द्रित रहे और जन-समाज आवश्यक सामग्रियों की उपलब्धि में स्वावलम्बी रहा तो उसे उत्पन्न पदार्थों के वितरण तथा उपभोग के लिये स्वत: व्यवस्था करनी पड़ेगी। इन तीनों प्रक्रियाओं में सम्बन्ध और सामंजस्य स्थापित करने की व्यवस्था स्वयम् उत्पादक जन-समाज को करनी पड़ेगी। यांत्रिक पद्धति में उत्पादन, वितरण और उपभोग तीनों क्रियाओं को संपादित करने के लिए उत्पादक तथा उपर्युक्त क्रियाओं के बीच मध्यस्थ की सृष्टि करनी पड़ती है। किसी न किसी मध्यस्थ व्यवस्था के द्वारा ही ये कार्य होते हैं। यह मध्यस्थ वर्ग ही क्रमशः अनुत्पादक होते हुए भी उत्पादन वितरण और उपभोग की व्यवस्था

का स्वामी हो जाता है और इस प्रकार उत्पादक जनवर्ग को परावलम्बी अतएव पराधीन बना देता है। यदि विकेन्द्रित पद्धति से मध्यस्थ बने वर्ग का परिहार किया जा सकता हो और यदि उत्पादन, वितरण और उपभोग की सारी व्यवस्था का सम्बन्ध सीधे उत्पादक से हो तो स्पष्ट है कि जन-समाज को अपने प्रबन्ध के लिए अपने ही सहयोग-मूलक संघटन की रचना करनी पड़ेगी। आर्थिक योजना के लिए संघटित हुई सहयोग मूलक जनतन्त्रात्मक संस्था प्रकृतया और अनिवार्यतः सारे जन-जीवन का सञ्चालन करेगी। इस प्रकार जिस स्वतन्त्रता और जनाधिकार का उदय होगा उसकी रक्षा भी सामूहिक प्रकार से करने में वह स्वभावतः दत्तचित्त होगी।

अब यदि मौलिक उद्योगों का केन्द्रीकरण कर भी दिया जाय तो यदि कभी उससे उद्भूत केन्द्रवाद की प्रवृत्ति जन-समाज के अधिकार पर आघात करने के लिए बढ़ेगी तो उसे जनता के सामूहिक और संघटित प्रचण्ड बल का सामना करना पड़ेगा। जब शक्ति तुला समान रहती है तब संघर्ष बहुधा हो ही नहीं पाता। गाँधी एक परिमित क्षेत्र में आवश्यकता की दृष्टि से अनिवार्य केन्द्रीकरण को स्वीकार करके भी जन-समाज के जीवन की रक्षा के लिए उपभोग्य वस्तुओं में विकेन्द्रीकरण को स्थापित करके उसी सम—शक्ति-तुला की स्थापना कर देता है। यह संतुलन सामाजिक-जीवन को सुव्यवस्थित बढ़ा ले चलेगा। एक प्रकार से विकेन्द्रीकरण के द्वारा वह जन-समाज को शक्ति-सम्पन्न बना देता है। उसके हाथ में वह शस्त्र प्रदान कर देता है, जिसके सहारे जनवर्ग 'केन्द्रवाद' की सीमा को परिमित कर दे और अधिकार-निधि तथा शक्ति-भण्डार अपने हाथों में रक्खे। यह न समझिएगा कि जिसकी कल्पना गाँधीजी कर रहे हैं वह इतिहास के लिए अभिनव और अकल्पित है। भारत की प्राचीन समाज-व्यवस्था अनायोजित नहीं किन्तु सर्वांग में आयोजित थी। उसकी विशेषताओं में एक विशेषता यह भी थी कि जन-समाज शासनतन्त्रों के हस्तक्षेप से बहुत

कुछ मुक्त था। निरंकुश राजतन्त्र रहे हों अथवा अराजक गणतन्त्र अथवा संघतन्त्र, ग्रामजीवन केन्द्रीय तन्त्र के हस्तक्षेप से सर्वांश में नहीं तो अधिकांश में निर्मुक्त थे। इसका मुख्य कारण यही था कि आर्थिक दृष्ट्या समाज की व्यवस्था के आयोजन के फलस्वरूप जन-समाज स्वतन्त्र था।

भारत की यह व्यवस्था वैदिक काल से आरम्भ हुई और सहस्राब्दियोंकी लम्बी यात्रा करते हुए ईसा के बाद सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दीतक चलती रही। यह सच है कि इस बीच उसने कई पलटे खाये, उसकी शक्ति का क्षय भी समय के प्रवाह के साथ-साथ होता गया पर फिर भी जन-जीवन बहुत कुछ केन्द्रीय तन्त्र से अछूता बना रहा। इस बात को विदेशी इतिहासकार तथा भारत में ब्रिटिश शासन के स्थापित होने के आरम्भिक युगों में यहाँ आने वाले विदेशी अधिकारी स्वीकार कर चुके हैं। इस व्यवस्था को तहस-नहस करने का पाप आज ब्रिटेन के ही सिर है। मैं जानता हूँ कि भारत की प्राचीन व्यवस्था का नाम सुनते ही कुछ लोग भड़क उठेंगे। सम्प्रति ऐसी धारा बही हुई है जिसमें पुरानी बातों का नाम लेना भी प्रगतिशीलता के विरुद्ध समझा जाता है। यह 'फैशन' हो गया है कि जो भी पुराना हो चाहे वह कितना भी अपेक्षित और बुद्धि-सम्मत क्यों न हो उसका नाम भी लेने में शर्म आती है, क्योंकि उसमें पश्चात्-गामिता की गन्ध मिलने लगती है।

पर इस हठधर्मी से बच कर और आँखें खोलकर समीक्षात्मक बुद्धि से काम लेना ही वैज्ञानिक दृष्टि और पद्धति कही जा सकती है। जो दुराग्रह उन लोगों में है जो लकीर के फकीर बने हुए हैं और जिन्हें सब कुछ पुरातन में ही दिखाई देता है उनसे कम दुराग्रह उनमें नहीं है जो सब कुछ नवीन में ही पाना चाहते हैं और जिन्हें पुरातन के नाम से भी त्रिदोष हो जाता है। आज प्रश्न मानव-समाज के कल्याण का है। नवीनता या पुरातनता गौण है हमें न किसी से चिढ़ है

और न किसी से आवश्यक और अन्धप्रेम। हमें इस प्रश्न पर तो विचार करना ही है कि क्या कारण है कि आज यूरोप में, जो 'लोकतन्त्र' का प्रवर्तक और स्वतन्त्रता का पोषक होने का दावा करता है अथवा उस रूप में जो समाजवादी होने की घोषणा करता है, जन-समाज और जन-जीवन निर्दलित, परवश तथा पराधीन, हो गया है। क्यों यूरोप ही नहीं परन्तु समस्त भूमण्डल यूरोप में लगी आग में जला जा रहा है, क्यों सुदूर के विस्तृत भू-प्रदेश और एशिया अथवा अफ्रीका की झोपड़ियों में रहने वाला अश्वेत किसान तक उसके भार से चूर हुआ चाहता है? दूसरी ओर क्या कारण है कि भारत में जहाँ निरंकुश शासनतन्त्र प्रतिष्ठित था जन-समाज अपेक्षाकृत निर्दलन और शोषण से मुक्त था। एक जगह लोकतन्त्र अथवा समाजवाद होते हुए भी शक्ति और अधिकार का 'केन्द्रवाद' विपत्ति ढाए दे रहा है और दूसरी जगह राजतन्त्र होते हुए भी जन-सत्ता एक बड़ी सीमा तक अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र थी। सन् १८-३० ई० में भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल सर चार्ल्स मेटकाफ भारत की ग्राम-पञ्चायतों के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "ये पञ्चायतें छोटे-छोटे प्रजातन्त्र के समान हैं। उनके पास वह सब उपलब्ध है जो वे चाहते हैं। वे अमर मालूम होती हैं क्योंकि जहाँ दूसरी सब चीजें ढह रही हैं वे सजीव हैं। वे पंचायतें भारत की जनता की रक्षा करने में मुख्य कारण रही हैं। कोई भी उथल-पुथल, उलट-फेर क्यों न हो जन-समाज को वे सुरक्षित रखती हैं और बड़ी सीमा तक उनके सुख तथा उनकी स्वतन्त्रता को बनाए रखती हैं।"

दुराग्रह को छोड़कर विचार कीजिये कि लोकतंत्र क्यों निरंकुशतन्त्र हो रहा है और निरंकुशतंत्र स्वच्छंद रहते हुए भी जनतन्त्र पर आघात नहीं कर सकता था? इसका एकमात्र कारण यही ज्ञात होता है कि उत्पादन की केन्द्रीभूत प्रणाली भयावने असन्तुलन की सृष्टि करती है जिसमें समाज की तुला डगमगा जाती है। सब कुछ का केन्द्रीकरण लोकतन्त्र के हाथ में भयावना अभिशाप हो जाता है, पर केन्द्रस्थित 'निरंकुशतन्त्र' के रहते हुए

भी यदि जन-समाज में अधिकार एक सीमातक वितरित हो, अर्थ की दृष्टि से वह स्वतन्त्र हो और 'विकेन्द्रवाद' पर उसकी रचना हुई हो तो केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के मुकाबले में वह सन्तुलन स्थापित हो जाता है जो निरंकुशसत्ता को भी जन-जीवन की अक्षुण्णता के साथ व्यभिचार करने नहीं देता। गाँधीजी एक सीमातक केन्द्रीकरण को आज की स्थिति में स्वीकार करने के लिए बाध्य होकर भी दूसरे क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण इसीलिए रखना चाहते हैं कि समाज में सन्तुलन का सर्जन हो सके और व्यापक जन-वर्ग केन्द्रवाद की विभीषिका से मुक्त रह सके।

बड़ा भारी तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि यन्त्रों के द्वारा उत्पादन की पद्धति को अपनाकर मनुष्य के श्रम और समय को बचाया जा सकता है और उसका उपयोग दूसरे कार्यों में किया जा सकता है। यह तर्क यद्यपि बड़ा प्रौढ़ मालूम होता है, पर विचार करके देखिए कि क्या उसमें कुछ भी तथ्य है ? क्या यह तर्क यथार्थता से मेल भी खाता है अथवा केवल बुद्धि का एक खेलमात्र है। पूँजीवादी देशों में कहाँ और कब मनुष्य का श्रम बचाकर उसकी शक्ति का उपयोग किया गया है ? यन्त्रों के द्वारा थोड़े समय में बहुत कार्य कर डाला जाता है, पर इसका परिणाम मनुष्य का श्रम बचाना तो नहीं, उसे बेकाम कर देना अवश्य हुआ है। यन्त्रों की शक्ति, गति और क्षमता बढ़ाने के लिए नये-नये वैज्ञानिक उपाय निकलते रहे हैं, पर इसका परिणाम बेकारों की भीड़ को अधिकाधिक बढ़ाते जाने में ही प्रकट होता रहा है। पर समस्या का अन्त यहीं नहीं हुआ। एक समय वह आया जब यह कहा जाने लगा कि सारी दुनिया के मनुष्य विभिन्न पदार्थों को जितना खपा सकते हैं, उससे कहीं अधिक पदार्थ निर्मित होने लगे हैं। फलतः उत्पन्न पदार्थ नष्ट किए जाने लगे, नये-नये कल-कारखानों का बनना रोका जाने लगा और बहुत से बने-बनाए कारखाने इसलिए खरीदे गए कि वे विघटित कर दिए जायँ। ऐसे विघटित हुए कारखानों में लगे अनेक मजदूर बेकार कर दिए गए।

क्या यह पूछा नहीं जा सकता कि मनुष्य के श्रम को बचा कर उनकी शक्ति का कौन सा सदुपयोग किया गया ? बेकारी दूर करने के लिए अस्त्र-शस्त्र के अनेक कारखाने खोल कर सारी धरती को विनाशक सामग्रियों से पाट देने की चेष्टा अवश्य की गयी, परस्पर देशों में झगड़ा अवश्य पैदा किया गया जिससे शस्त्रादि की बिक्री करके कारखानों को चलता रखा जा सके, आक्रमणकारिता और सैनिकवाद को उत्तेजन अवश्य प्रदान किया गया, पर इसके सिवा मनुष्य-शक्ति का कौन सा उपयोग किया गया ? हवाई तर्क करना तो दूसरी बात है पर तनिक यथार्थता की ओर दृष्टिपात कीजिए। मनुष्य का श्रम नहीं बचाया गया वरन् उसे बेकाम करके भूखों मरने के लिये अवश्य छोड़ दिया गया। जिसके पेट में भूख का चूल्हा सुलग रहा हो वह अपनी शक्ति को भला किस दिशा में लगावेगा ? अपने अन्तर की उसी आग में वह जगत् को जला देने के लिए और स्वयम् जल कर राख हो जाने के लिए ही आगे बढ़ेगा अथवा और कुछ ?

कहा जा सकता है कि यह स्थिति परिणाम है पूँजीवादी अव्यवस्था का। यदि समाजवादी व्यवस्था स्थापित की जाय, उत्पादन की प्रक्रिया नियन्त्रित कर दी जाय, निर्मुक्त प्रतिस्पर्धा की अर्थनीति का अवरोधन कर दिया जाय और लाभ उठाने की प्रवृत्ति का लोप आर्थिक संघटन से हो जाय तो निश्चय ही प्रत्येक व्यक्ति थोड़ा सा कार्य करके एक ओर जहाँ अपनी जीविका उपार्जन कर लेगा वहीं दूसरी ओर अपने बचे हुए समय और शक्ति का सदुपयोग बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास में अथवा मनोरंजन और ऐश-आराम में कर सकेगा। इस तर्क की मोहकता में मुग्ध हो जाना स्वाभाविक है, पर क्या यह नहीं पूछा जा सकता कि आन्तरिक उत्पादन की पद्धति में इसे व्यावहारिक प्रयोग तो रूस में ही हुआ है, पर वहाँ इस सिद्धान्त को अबतक कार्यान्वित करने का अवसर ही उपस्थित नहीं हुआ। कारण यह है कि रूस की स्थिति यूरोप के उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों से सर्वथा भिन्न

रही है, रूस अनौद्योगिक देश था, उसे विस्तृत भू-प्रदेश प्राप्त है और भूमि की लम्बाई-चौड़ाई की दृष्टि से वहाँ की जन-संख्या अत्यधिक कम रही है। बोल्शेविक सरकार को नव-निर्माण का कार्य करना था। उसे भविष्य का चित्र कोरे कागज पर चित्रित करने का अवसर मिला। उद्योगीकरण के लिए रूसी सरकार के सामने अच्छा मौका था। बड़े-बड़े कल-कारखानों की स्थापना अस्पृश्य पड़ी विस्तृत भूमि में की जा सकती थी, खेतों पर लदी ग्राम्य-जनता को औद्योगिक केन्द्रों में केन्द्रित करके नये-नये विशाल नगरों का निर्माण करना संभव था और ग्रामीण जनता को यूरोपीय रहन-सहन के ढंग में ढालने के लिए पदार्थों का अत्यधिक उत्पादन करना अपेक्षित था।

इसी प्रकार खेती के लिए पड़ी विस्तृत भूमि थी। गाँव की जनता ग्रामों से हट कर जब नगरोन्मुख की गयी तो कृषि के लिए भूमि और अधिक खाली हो गयी। ऐसे विस्तृत प्रदेशों में यान्त्रिक पद्धति से बड़े पैमाने पर थोड़े से लोगों के द्वारा कृषि करना संभव हो गया। इस स्थिति में रूस के सामने प्रश्न जनता की बेकारी का नहीं प्रत्युत नव-निर्माण के लिए मनुष्य के श्रम और उसकी शक्ति के अधिकाधिक उपयोग का था। उसे श्रम और शक्ति को बचाने की नहीं प्रत्युत उन्हें पदार्थों के उत्पादन में अधिकाधिक क्षमता और सफलता के साथ लगाने की आवश्यकता थी। परिणामतः हम यह देखते हैं कि रूस की जनता अधिक से अधिक कार्य करने के लिए तरह-तरह के उपायों से उभाड़ी गयी। रूस की पंचवर्षीय योजनाओं में सब से अधिक प्रचार अधिकाधिक शक्ति लगाकर उत्पादन करने के लिए ही किया गया। देश के अनेक कल-कारखानों में, कारखानों में कार्य करने वाले मजदूरों की टोलियों में, अधिक से अधिक उत्पादन करने के लिए प्रतिद्वन्द्विता उभाड़ी गयी। निर्धारित समय से अधिक कार्य करने वाले कारखानों तथा मजदूरों की प्रशंसा का पुल बाँधा गया। फलतः मनुष्य का श्रम और समय बचाकर उसे किस प्रकार काम में लाया जायगा और किस प्रकार

यान्त्रिक पद्धति के रहते श्रम और समय बचा कर भी बेकारी का प्रश्न न उठने दिया जायगा आदि प्रश्नों के हल का साकार रूप हमारे सामने अब तक नहीं आया है।

प्रश्न यह है कि यदि समुन्नत औद्योगिक देशों में समाजवादी व्यवस्था के होते हुए भी मनुष्य का श्रम और शक्ति किस प्रकार बचाई जायगी और किस प्रकार यन्त्रों का चलना जारी रखा जायगा और किस प्रकार उत्पादन की गति यथापूर्व बनी रह सकेगी? यदि ग्रेटब्रिटेन ऐसे देश में मानव-श्रम को बचाने की चेष्टा की जाय तो कैसे किया जायगा? बड़े-बड़े नगरों का देश होने के कारण जनसंख्या स्थान-विशेषों में केन्द्रित है। भू-प्रदेश भीषण रूप से जन-संकुल है। प्रतिवर्गमील में कई सौ की आबादी का अनुपात है। अब विचार कीजिए कि मनुष्य के श्रम को बचाने के लिए कौन से उपाय काम में लाए जायेंगे? एक उपाय तो यह है कि मजदूरों के काम के घंटे कम कर दिये जायँ। उस स्थिति में उत्पादन के परिणाम को बनाए रखने के लिए मजदूरों की संख्या बढ़ा देनी पड़ेगी। मान लीजिए कि लंकाशायर की मिलों में २० लाख मजदूर उत्पादन के काम में लगे हैं जो प्रतिदिन ८ घण्टे काम करते हैं। यदि इन मजदूरों से प्रतिदिन ४ घण्टे काम लिया जाने लगे तो उत्पादन के परिणाम को यथापूर्व बनाए रखने के लिए ४० लाख मजदूर काम में लगाने पड़ेंगे। क्या जन-संकुल नगरों में सहसा इतनी आबादी बढ़ा देना संभव होगा? क्या भौगोलिक दृष्टि से इसमें भारी बाधा उठ खड़ी होने की संभावना नहीं है।

दूसरी पद्धति क्या मिलों को घण्टे दो घण्टे या चार घण्टे प्रतिदिन चला कर बन्द कर देने की है। यदि यह किया गया तो क्या उन वैज्ञानिक साधनों की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध कर देना नहीं है जिस पर यन्त्रवाद के समर्थकों को गर्व है? इसका प्रभाव क्या उत्पादन की गति और परिमाण पर न पड़ेगा? समाजवादी विशेष रूप से इस बात पर जोर देते हैं कि उत्पादन की गति और नये यान्त्रिक सुधारों की

उन्नति और विकास का कुंठन न होना चाहिये। वे यह भी कहते हैं कि आवश्यकताओं और इच्छाओं को बढ़ाते जाना चाहिये जिसमें उत्पन्न पदार्थों की खपत अधिकाधिक बढ़ती चले। यदि यही करना है तो कल-कारखानों को अकर्मण्य खड़ा करना संभव न होगा। फिर यदि मनुष्य की इच्छाओं को बढ़ाते जाना ही उपाय है तो क्या यह प्रश्न नहीं उठता कि नैतिक, सांस्कृतिक, और मानसिक दृष्टि से यह स्थिति क्या मानव-समाज के लिए कल्याणकर होगी ? एक ओर इच्छाओं का बढ़ते जाना और दूसरी ओर उनकी पूर्ति के लिए किसी केन्द्रित व्यवस्था पर अधिकाधिक अवलम्बित होते जाना क्या जनवर्ग को घोर असहाय और पराधीन स्थिति में न ला पटकेगी।

ये कतिपय प्रश्न हैं और ऐसे ही अनेक दूसरे प्रश्न भी उठाए जा सकते हैं, जिनका समीचीन उत्तर तब तक नहीं मिल सकता जब तक यान्त्रिक पद्धति को रख कर मनुष्य शक्ति बचा कर और किसी उत्तम दिशा में उसका सदुपयोग करने के प्रयोग का स्वरूप सामने नहीं आ जाता। इतने पर भी यदि यह मान भी लिया जाय कि यन्त्र की उत्पादन-व्यवस्था से मनुष्य का श्रम बचाया जा सकता है तो भी बड़ा भारी प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बचे हुए अवकाश का उपयोग किस प्रकार किया जायगा ? आज तो किसी के पास समय बचा दिखाई नहीं देता और जिनके पास है वे उसका सदुपयोग करते दिखाई नहीं देते। कदाचित् वे जानते भी नहीं कि उपयोग किया किस प्रकार जाय। बौद्धिक और मानसिक विकास का नाम बड़ी सरलता के साथ ले लिया जाता है, पर क्या सब के लिए इस दिशा में रुचि होना सम्भव है ? क्या यह सम्भव है कि साधारण जन-समाज बड़े-बड़े पुस्तकालयों में अथवा संग्रहालयों में अथवा विज्ञान की प्रयोग-शाला में अपना समय लगावे ? यदि नहीं तो फिर नाचने और गाने में, उछलने और कूदने में, सिनेमा और द्यूत में, व्यसन अथवा कलह में अपना समय लगा कर क्या बौद्धिक विकास करेगा ?

मानव मस्तिष्क और उसके स्वभाव का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में अब तक कोई विज्ञान सफल नहीं हो पाया है। प्रश्न यह कि मानव-शक्ति को इस प्रकार निरंकुश छोड़ देना और मनमानी दिशा पकड़ने देना क्या मानवजाति के लिए कल्याणकर भी हो सकता है? शक्ति भयावनी वस्तु होती है। वह यदि सदुपयोग से जगत् का हित कर सकती है तो दुरुपयोग से महाविनाश का कारण भी हो सकती है। विचार करने की बात है कि एक दिशा से मनुष्य की शक्ति और श्रम को बचा कर किसी दूसरी भयावनी दिशा में तो नहीं मोड़ दिया जायगा? याद रखिये कि मनुष्य का मन विचित्र पदार्थ है। बहुधा अकर्मण्य प्राणी का अन्तर अनावश्यक खुराफातों का स्रोत हो जाता है। जब तक उसकी गति का निर्धारण करने वाली व्यवस्था का मूर्तरूप सामने न आ जाय तब तक ऐसे भ्रामक तर्क को कि काम से हटा कर मनुष्य की शक्ति का सदुपयोग किया जा सकता है, ले उड़ना बुद्धिमानी न होगा।

मैं समझता हूँ कि आज प्रश्न मनुष्य की शक्ति को बचाने का नहीं है बल्कि यह है कि उसे काम दिया जाय और उसके बचे हुए अवकाश का सदुपयोग किया जाय। यह समझना कि बचे हुए समय का सदुपयोग मनुष्य को अकर्मण्य बना देने में अथवा उसे अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए मनमाना काम करने के लिए छोड़ देने में है, नितान्त भ्रम-पूर्ण है। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य काम के साथ विश्राम तो अवश्य पावे पर अपनी फालतू बची हुई शक्ति और अवकाश का सदुपयोग कर्मठ हो कर ही करे। आज मनुष्य के श्रम और उसकी शक्ति को यन्त्र के द्वारा बचाने की चेष्टा नहीं की गई है और न उसमें सफलता प्राप्त की गयी है वरन् आधुनिक यन्त्रवाद और यांत्रिक पद्धति के डर से मनुष्य की शक्ति और उसके श्रम का शोषण किया जा रहा है। यन्त्र मनुष्य के लिए नहीं वरन् मनुष्य यन्त्र के लिए हो गया है। विचार कीजिए कि क्या जो

कुछ हो रहा है उसके आधार पर श्रम को बचाने की आवाज उठाई जा सकती है। बड़े-बड़े कल-कारखानों में मजदूर दूषित वातावरण और अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों में घंटों काम किया करता है काम भी यन्त्रवत् ही करना पड़ता है। न उस में मनोरंजन है न वैचित्र्य और न आन्तरिक अनुभूति के लिए कोई गुंजाइश। इस स्थिति का प्रभाव मनुष्य के शरीर और बुद्धि पर विघातक होता है, जो उसे हर दृष्टि से चूर कर देता है।

इतना करने पर भी मनुष्य मिहनत का इतना पुरस्कार भी नहीं पाता कि पेट भर भोजन कर सके। फलत: उसकी बाह्य और आंतरिक शक्ति का क्षय होता जाता है। ऐसी अवस्था में श्रम और शक्ति को बचाने और मनुष्य को अवकाश देने की बात सर्वथा कहना निराधार और निरर्थक है। यदि यह मान भी लिया जाय कि यन्त्रों ने थोड़ा श्रम बचाया तो प्रश्न यह होता है कि क्या अवकाशमात्र से ही मनुष्य की समस्या हल हो जायेगी? अवकाश मिले यह आवश्यक है, पर उससे भी अधिक आवश्यक यह है कि उसका उपयोग करके ज्ञान कराया जाय। आज इसकी कोई रूप-रेखा हमारे सामने नहीं है यद्यपि श्रम बचाने की गुहार मची हुई है। गाँधीजी की दृष्टि में एक समस्या को मिटा कर दूसरी समस्या खड़ी कर देना वास्तव में पहली समस्या का हल नहीं है। मनुष्य का श्रम बचाया जाय यह ठीक है पर अवकाश-प्राप्त प्राणी मनमाना भटकने के लिए छोड़ दिया जाय यह एक दूसरी भयावह समस्या हुए बिना बाकी न रहेगी। फलतः पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो यदि पहली समस्या को हल करती हो तो दूसरे को भी उठने न दे। यन्त्र के द्वारा मनुष्य का श्रम नहीं बचाया गया, वरन् ऐसी जटिल परिस्थिति पैदा कर दी गयी जिस में श्रम का शोषण करना संभव हो गया, उसका दुरुपयोग किया जा सका और उसका महत्त्व घट गया।

इस परिस्थिति का परिहार यांत्रिक पद्धति को बनाए रखना नहीं

है। गाँधीजी देखते हैं कि विकेन्द्रीकरण की प्रणाली इस समस्या का समुचित समाधान उपस्थित करती है। उत्पादक हस्त-कौशल का आश्रय ग्रहण करे। वह इस प्रकार न केवल उत्पादन के साधनों का स्वामी होगा, वरन् अपने श्रम का भी प्रभु होगा, क्योंकि उपार्जित सम्पत्ति उसी की होगी। सब से बड़ी बात यह है कि शक्ति और श्रम का उपयोग करते हुए उसे बौद्धिक, शारीरिक और मानसिक विकास करने का अवसर मिलेगा। हस्त-कौशल में लगा हुआ व्यक्ति जिस क्षण अपना औजार सम्भालता है उसी क्षण उसकी अन्तर्भूत चेतना और शारीरिक शक्ति स्पन्दित हो उठती है। वह रचयिता बन जाता है तथा अपने समस्त बल और चेतना का प्रयोग रचनात्मक दिशा की ओर मोड़ देता है। उसकी कलामयी प्रवृत्ति, जीवन की अनुभूतियाँ, प्रकृति की यथार्थता का ज्ञान सब मिल कर उसके कौशल द्वारा अभिव्यक्त होने लगते हैं। मानव अपनी इस साधना में समाधिस्थ हो जाता है, उसकी क्रिया और बुद्धि एकात्म हो उठती है, अभिव्यक्ति का रसास्वादन करते हुए वह विभोर हो जाता है और अन्ततः अपनी बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक शक्ति का विकास करने में समर्थ होता है।

उसका कार्य उसके सब से बड़े मनोरञ्जन का साधन, उसके विकास का कारण और उसकी शक्ति तथा श्रम के सदुपयोग का आधार हो जाता है। वह एक ओर जहाँ अपनी भौतिक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ होता है वहीं रचयिता होने के नाते अपनी आन्तरिक शक्ति का उद्बोधन करने में सफल होता है। उसके श्रम का महत्त्व बढ़ जाता है और शक्ति पूत हो उठती है। गाँधी एक कदम और आगे बढ़ता है। वह मानव-हृदय की उन सद्-प्रवृत्तियों को जगा देने की भी चेष्टा करता है, जो श्रम और शक्ति का उपयोग यज्ञार्थ करने में सुख की अनुभूति करती हैं। भौतिक भोग की वासना को यथावश्यक पूर्ण करते हुए मनुष्य अपनी शक्ति और समय

का उपयोग समाज के कल्याण में करे इसी में उसकी मानवता है।

गाँधीजी की दृष्टि में व्यक्ति सर्वोपरि है, उसका विकास अपेक्षित है; पर वह यह भी मानते हैं कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की उपलब्धि समाज में ही रहकर कर सकता है। उसका विकास शून्य में नहीं हो सकता। इसी कारण व्यक्ति और समाज का पृथक्करण सिद्धान्ततः शब्दों में भले ही कर दिया जाय, पर वस्तुतः और व्यवहारतः वे दोनों परस्पर पूरक हैं। उनका सम्बन्ध परस्पर अविच्छेद्य है। वास्तविक जीवन में दोनों साथ-साथ चलते हैं और अन्योन्याश्रित रहते हैं। दोनों के सम्बन्ध के इस स्वरूप की अपेक्षा करना व्यक्ति और समाज, दोनों को भयावने खतरे में ढकेलना है। दो में से किसी एक को ही आवश्यकता से अधिक प्रामुख्य प्रदान कर देना और दूसरे को गौण बना देना जीवन और समाज की तुला को बुरी तरह डगमगा देना है। जगत् की आज की दुरवस्था का बहुत बड़ा कारण यह असंतुलन ही है। इतिहास में बार-बार कभी व्यक्ति को समाज की अपेक्षा अधिक और कभी व्यक्ति की पूर्णतः उपेक्षा करते हुए केवल समाज को मुख्यस्थान देने की चेष्टा होती रही है।

कभी व्यक्तिवाद ने ऐसा रूप ग्रहण किया है जब समाजिक जीवन विघटित होने लगा है और कभी समाज ने अपने को ही साध्य और साधन समझ कर इस प्रकार व्यक्ति को कुचलने की चेष्टा की है कि उसका सारा व्यक्तित्व और उसकी अन्तः प्रेरणा विचूर्ण हो उठी है। कभी जब ऐसे अवसर आए हैं तब संस्कृति की धारा विक्षुब्ध हो उठी है। गाँधी का प्रयत्न आज दूसरी दिशा की ओर है। वह व्यक्ति और समाज में समन्वय स्थापित करना चाहता है जिसमें एक दूसरे के पोषक और पूरक हो सकें। मनुष्य में तदनुकूल सद्प्रवृत्तियों को जागृत करना उसका प्रयास है। फलतः वह मानव श्रम और शक्ति को भी उसी दिशा की ओर मोड़ना चाहता है। मनुष्य शक्ति और श्रम का उपयोग अपने हित में करे और

यज्ञार्थ भी करे। यही उसकी शक्ति और श्रम का सदुपयोग होगा जो व्यक्तिगत और समाजिक जीवन की तुला को स्थिर कर देगा। ऐसा तभी हो सकता है जब मनुष्य अपनी शक्ति और श्रम का स्वयं स्वामी हो, शक्ति और श्रम करने में उसे रस मिले और उसी के द्वारा हो सके उसका उचित विकास। हस्तकौशल और उत्पादन की विकेन्द्रित प्रणाली से इसकी सिद्धि संभव दिखाई देती है।

हस्त-कौशल का उपहास करने का रिवाज सा हो गया है। नई रोशनी वालों को उसमें पुरानेपन की दुर्गन्धि मिलती है। पर गाँधीजी ही नहीं स्वयं मार्क्स ने उसके सम्बन्ध में जो लिखा है उस पर दृष्टि-पात कीजिए। वे कहते हैं कि हस्त-कौशल में कारीगर जहाँ औजार स्वयं उठाता है वहाँ कारखाने में वह यंत्र की सेवा करता है। पहले में कारीगर औजार चलाने में स्वतंत्र रहता है। पर दूसरे में मजदूर की गति मशीन के अधीन रहती है। यन्त्र द्वारा काम करते हुए मजदूर मशीन का ही अङ्ग बन जाता है। कारखाने में ऐसी निर्जीव यांत्रिकता रहती है जिस पर मशीन द्वारा काम करने वालों का कोई अधिकार नहीं रहता, वरन् वे स्वयं उसी मशीन में उसके सजीव अङ्ग की भांति मिल जाते हैं। मशीन में होने वाली एक ही प्रक्रिया निरन्तर एक ही ढंग से होती चलती है जो थके हुए मजदूर पर सवार हुई सी रहती है। यन्त्र के काम में सिवा एक ढंग की क्रिया के न वैचित्र्य है, न मनोरंजन। फलतः वह स्थिति स्नायुतन्तुओं को विच्छिन्न कर देती है और उसकी मांस-पेशियों की अनेक प्रकार की सक्रियता में रुकावट पैदा कर देती है। यन्त्र के द्वारा जो श्रम बचता है वह भी अत्याचार का ही साधन बन जाता है, क्योंकि यन्त्र मनुष्य को काम से मुक्त नहीं करता है, प्रत्युत काम में जो रस मिलता है उससे वंचितमात्र कर देता है।"

ये वाक्य हैं मार्क्स के, जो उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ "कैपिटल" से उद्धृत

किए गए हैं। यदि यन्त्र श्रम नहीं बचाते प्रत्युत काम में जो रस मिलता है उससे भी वंचित करते हैं तो इस पद्धति को क्यों बनाए रखा जाय? मार्क्स को कदाचित् इसके स्थान पर दूसरी पद्धति की स्थापना करना संभव दिखाई नहीं देता था। उनके विचार उस समय उत्पन्न हुए थे जब पश्चिमी यूरोप का उद्योगीकरण चरम अवस्था पर पहुँच चला था। बड़े-बड़े नगर, औद्योगिक केन्द्र और कल-कारखाने स्थापित हो चुके थे तथा ग्राम और ग्रामोद्योग और हस्त-कौशल मिट चुका था। संभवतः मार्क्स को विज्ञान से प्राप्त हुई यांत्रिक पद्धति से भी मोह था, उसे छोड़ना मिली हुई विभूति और उद्भूत सभ्यता से मुख मोड़ना दिखाई देता था। फलतः समाजवाद यांत्रिक पद्धति से पैदा हुई सारी विपत्ति और समस्त अनर्थों का शत्रु और प्रतिवाद होते हुए भी उसी पद्धति को अपनाए रखना चाहता है। वह जो करता है वह इतना ही कि उस से उद्भूत उपसर्गों का शमन हो जाय। बाहरी सुधार के द्वारा उसके दोषों के परिहार की चेष्टा करता है।

गाँधी सुधारवादी नहीं क्रान्तिकारी है। वह साहस के साथ आगे बढ़ता है और नयी रचना के लिए पुराने आधार को ही बदल देने का प्रयत्न करता है। विकेन्द्री-करण में उसकी वही क्रान्तिकारी भाव-धारा व्यक्त होती है। विकेन्द्री-करण को वह साधन भी बनाता है और साध्य भी। उसके द्वारा पूँजीवाद का विघटन भी करना चाहता है और उसी के आधार पर नव रचना के भव्यभवन की स्थापना भी। जिस प्रकार सत्याग्रह में संघर्षात्मक और रचनात्मक दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती हैं उसी भांति विकेन्द्रीकरण में क्रान्ति के दोनों पहलू अर्थात् विघटन और निर्माण एक साथ ही सन्निहित हैं। यदि संक्षेप में गाँधीजी के विचारों का सार देने की चेष्टा करूँ तो कह सकता हूँ कि उनकी दृष्टि में जीवन आकस्मिक घटना नहीं है उसका प्रयोजन है, जिसकी पूर्ति करने के लिए ही मनुष्य का उद्भव हुआ है। फलतः, मानव-जीवन का एक लक्ष्य है, जिसकी ओर बढ़ते जाना ही उसका कर्तव्य है और जिसे प्राप्त

करने में ही उसकी सार्थकता है। जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होना समाज की उपयोगिता है।

फलतः समाज की रचना ऐसी होनी चाहिये कि मानव-जीवन अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सके। ऐसा समाज तभी संघटित हो सकता है जब उसकी रचना नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर हो। गाँधी जी की दृष्टि में नैतिक सिद्धान्त सत्य-अहिंसा और न्याय के सिवा दूसरे नहीं हो सकते। इन सिद्धान्तों का अस्तित्व वे अक्षुण्ण समझते हैं। इन्हीं के आधार पर समाज की रचना कर के जीवन उस सहायता को प्राप्त कर सकता है जिसके बल पर लक्ष्य की ओर बढ़ता चले। ऐसे समाज में, जो सत्य, अहिंसा और न्याय के आधार पर स्थापित होगा, किसी प्रकार का शोषण, दलन और दासता चाहे वह आर्थिक हो अथवा राजनीतिक अथवा सामाजिक, सम्भव नहीं है। फलतः गाँधी जी ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जो शोषण और दासता से सर्वथा मुक्त हो।

पर इस समाज की रचना उसी स्थिति में सम्भव है जब सारा सामाजिक जीवन, राजनीतिक तथा आर्थिक संघटन सत्य, अहिंसा और न्याय पर ही स्थापित हो। यदि ये सिद्धान्त न रहेंगे और जीवन का पहलू इनसे वंचित रहेगा तो हिंसा और शोषण अनिवार्य रूपेण उपस्थित रहेंगे। और यदि हिंसा और दलन उपस्थित रहेंगे तो मनुष्य कभी स्वतन्त्र रूप से अपने महान् लक्ष्य की पूर्ति करने में सफल न हो सकेगा। वह साधन बनता रहेगा उन लोगों की इच्छा-पूर्ति का जो अनीति और दोहन को मिटा कर अहिंसा और स्वतन्त्रता के आधार पर समाज की रचना करने की पद्धति गाँधी जी खोज निकालते हैं। वे देखते हैं कि उसका एकमात्र उपाय यह है कि किसी भी प्रकार के केन्द्रीकरण को सामाजिक जीवन में स्थान न दिया जाय। शक्ति हो अथवा अधिकार सामाजिक पद हो अथवा आर्थिक सूत्र सब का विकेन्द्रीकरण आवश्यक

है इसलिए कि समाज हिंसा-हीन, शोषण-हीन, वर्ग-हीन और दासता-हीन हो जाय।

अभिप्राय यह है कि विकेन्द्रीकरण के द्वारा वे उस समाज की रचना करना चाहते हैं जिसमें वर्गों की प्रभुता न हो। यही कारण है कि एक ओर वे जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था की अव्यवस्थित अराजकता और वर्ग-प्रभुता के विरोधी हैं, वहीं दूसरी ओर उस प्रचण्ड और भयावने केन्द्र-वाद के भी विरोधी हैं जिसका प्रतिनिधित्व रूस का बोल्शेवीवाद कर रहा है। वे प्रतिपादक हैं उस व्यवस्था के जिसमें व्यक्तिवाद और समाज वाद का, केन्द्रवाद और विकेन्द्रवाद का सु-आयोजित और सुविचारित समन्वय हुआ हो, जिसमें सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में ऐसा संतुलन स्थापित हुआ हो जो दोनों के विकास में सहायक हो। इस लक्ष्य को अपना दृष्टिबिन्दु बना कर ही गाँधी की सारी विचारधारा प्रवाहित होती है।

उत्पादन की प्रणाली का विकेन्द्रीकरण और ग्राम्य तथा कुटीर उद्योग का पुनरुज्जीवन उपर्युक्त दार्शनिक दृष्टिकोण से उद्भूत व्यवस्था है जिसे आर्थिक क्षेत्र में गाँधीजी स्थापित करना चाहते हैं। सीधी बात है कि जिस दृष्टि से जीवन को देखा जाता है, जगत् और जीवन के प्रयोजन के प्रति जो भाव ग्रहण किया जाता है, उसी के अनुसार जीवन और समाज की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जाता है। 'बोल्शेवीवाद' वही व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जो उसकी दार्शनिक दृष्टि के अनुकूल है। गाँधीजी के विचारों और उनकी व्यवस्था के प्रकृत रूप को समझने के लिए उनके दार्शनिक दृष्टिकोण पर दृष्टिपात कीजिए। स्वभावतः वे वैसी ही व्यवस्था को जन्म देना चाहते हैं जो उनके उस लक्ष्य के अनुकूल हो जिसकी पूर्ति वे जीवन और जगत् का प्रयोजन समझते हैं।

आर्थिक क्षेत्र ही नहीं सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में और

व्यक्तिगत जीवन के क्षेत्र में वे तदनुकूल व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं। समाज सत्य और अहिंसा पर आश्रित हो जो स्वतन्त्र, समान व्यक्तियों का वर्गहीन, वर्णभेदहीन सहयोग मूलक समूह हो, जिसमें श्रम का महत्त्व हो और श्रम व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति के सिवा समाज के हित में यज्ञार्थ उपयुक्त हो। राजनीति भी धूर्तता, प्रवंचन, स्वार्थपरता और शक्ति तथा अधिकार-पिपासा से परे समाज के कल्याण का साधन हो और न्याय, तथा अहिंसा पर आश्रित हो। तात्पर्य यह कि राजनीति भी नैतिकता-मूलक हो। व्यक्ति परिवर्त्तित हो जिसके उन्नत और शुभ्र मानवीय भाव जागृत हों, जो जीवन को जगत् के हित में लय कर देने में सुख और पूर्णता का अनुभव करता हो। जीवन का आदर्श अहं की सत्ता को विराट् में विसर्जित कर देता हो।

संक्षेप में ऐसी ही है गाँधी की सर्वाङ्गीण सामाजिक कल्पना जो उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुकूल तथा उसका परिणाम है। प्रश्न यह उठता है कि आखिरकार इस प्रकार के समाज की स्थापना होगी कैसे? कौन इसका भार उठावेगा? जो वर्ग आधुनिक व्यवस्था और विधि से पोषित है, जो उसकी छत्र-छाया में वैभव का उपभोग कर रहा है और जो अधिकारारूढ़ है, वह अपने पैरों के नीचे की धरती को खिसकने क्यों देगा? क्या अपनी सारी शक्ति और अधिकार के द्वारा इस प्रवाह को रोकने की चेष्टा न करेगा? ऐसी स्थिति में यदि गाँधीजी की कल्पना को कार्यान्वित करना हो तो करेगा कौन? उत्तर में निवेदन यह है, कि गाँधीजी यह विश्वास करते हैं कि इस भार को उठावेगा एक ओर वह विशाल और व्यापक जनवर्ग जो आज की स्थिति से दलित और त्रस्त है तो दूसरी ओर वह उन वर्गों से भी जो आधुनिक व्यवस्था से परिपालित हैं यह आशा करता है कि वे इस कार्य में सहायक होंगे।

गाँधीजी के इस दृष्टिकोण पर बहुतों को आश्चर्य हो सकता है, पर

यह दृष्टिकोण ही उनकी सारी विचारधारा का प्राण है। अहिंसा को जीवन का आधारभूत तत्व देखनेवाला इस दृष्टि के सिवा दूसरी दृष्टि ग्रहण कर ही नहीं सकता। जो यह समझता है कि सारा विश्व प्रपञ्च नैतिक नियमों की सनातनता, अमरता और अक्षरता स्वीकार करता है और जो यह समझता है कि जीवन का प्रयोजन नैतिक आदर्श की ओर बढ़ते जाना ही है, उसके लिए उपर्युक्त दृष्टि ग्रहण करना अनिवार्य है। गाँधीजी मनुष्य की नैसर्गिक शुभ्र-प्रवृत्ति में विश्वास करते हैं और मानते हैं कि मनुष्य स्वभावतः बुरा नहीं है। प्रकृत्या यदि वह असत् से उत्प्रेरित दिखाई देता है तो सद्भावापन्न भी है। उसके सदंश का जागरण भी वैसे ही सहज और स्वाभाविक है जैसे असत् का।"

फलतः उचित प्रेरणा, स्फुरण और परिस्थिति मिलने पर उसका शुभान्तर जागृत होता है और मनुष्य की शुद्धि करता है। यदि मनुष्य के जीवन की यह उन्मुखता न होती तो उसका मानवी विकास न हुआ होता। मनुष्य के प्रति इसी आस्था और विश्वास के फलस्वरूप गाँधीजी उन वर्गों से भी आशा रखते हैं जो आधुनिक समाज के पोष्य-पुत्र हैं। बापू के शब्दों पर दृष्टिपात कीजिए और उसके मन्तव्य को हृदयङ्गम कीजिए। वह कहते हैं "मनुष्य को उसके पशु-स्वभाव में न देखो और न वन्य प्रवृत्तियों से प्रभावित बर्बर विधान का अनुगमन करते हुए देखो, उसे उसकी सारी उज्वलता में देखो! उसका अध्ययन यह समझ कर करो कि वह अपने स्वभाव के उन्नत और दैवी स्वरूप के वशीभूत होकर कार्य कर सकता है तथा प्रेम के विधान का अनुभव भी कर सकता है। मेरा विश्वास है कि मनुष्य की शक्ति पतनाभिमुख नहीं किन्तु उत्कर्ष की ओर उन्मुख है। यह परिणाम है उस अज्ञात किन्तु प्रेम के निश्चित विधान का जो सृष्टि में कार्यान्वित है। मानव समाज आज तक जीवित है, यही प्रमाण है इस बात का कि उसकी विघटनकारी और विघातक शक्ति की अपेक्षा वह शक्ति कहीं अधिक बलवान् है जो एकात्मता तथा समवेदनशीलता का सर्जन करती है।

मैं प्रेम का राग ही जानता हूँ और इसी कारण मनुष्य की शुभ प्रवृत्ति में भी विश्वास करता हूँ ।

"यदाकदा मैं भी ऊब उठता हूँ । सोचने लगता हूँ कि जगत् का यह अभिशाप कब मिटेगा, कब मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण और दलन का अन्त होगा । पर तत्काल ही मुझे उत्तर मिल जाता है कि मेरा काम प्रेम के विधान की विधि से अपना काम करते जाना है और हृदय में यह आशा तथा विश्वास रखना है कि मनुष्य-स्वभाव का उसके द्वारा प्रभावित होना अनिवार्य है" । मनुष्य के प्रकृति की उज्वलता और सद्भावना में यह अटल विश्वास गाँधीजी की विचारधारा की विशेषता है । वे मनुष्य के स्वभाव में अपनी आस्था खो देने के लिए तय्यार नहीं हैं । इसी कारण वे किसी व्यक्ति या वर्ग से न घृणा कर सकते हैं और न द्वेष । वे किसी के विनाश की इच्छा भी नहीं कर सकते । हाँ, वह यह आशा अवश्य करते हैं कि मनुष्य का सहज अहिंसक और नैतिक भाव जगाया जा सकता है और उसको विशुद्ध तथा परिवर्तित किया जा सकता है ।

इसी भाव को गाँधीजी प्रकट करते हैं जब वे कहते हैं कि "अहिंसा की शक्ति किसी का संहार नहीं करती । वह केवल शुद्धि करती है । जो शुद्धि की सीमा से परे हैं उनका विनाश तो स्वयमेव बिना किसी प्रयास के उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार असाध्य रोगों से जर्जर शरीर नष्ट हो जाता है ।" फलतः गाँधी जी उपर्युक्त विश्वास के आधार पर यह कल्पना करते हैं कि सुविधा प्राप्त, अधिकार-सम्पन्न और स्थिरस्वार्थी वर्ग परिवर्तित किया जा सकता है तथा उसकी शुद्धि इस प्रकार की जा सकती है कि वह अपने अधिकार और अपनी सुविधाओं तथा वैभव का उपयोग एकमात्र अपने स्वार्थ की पूर्ति में न करके जन-हित में करे । 'संरक्षकवाद' (ट्रस्टीशिप) की उनकी योजना में यही भाव व्यक्त है । राजे-महाराजे, धनी व्यापारी और व्यवसायी पूँजीपति और जमींदार आदि वर्ग जो आज जन-शोषण और दलन पर प्रतिष्ठित हैं परिवर्तित हों

और अपने ऐश्वर्य को अपनी कामना और लोभ की तृप्ति का साधन न बनाकर जनता की धरोहर समझें। अपने को उसका अनियन्त्रित स्वामी नहीं, वरन् संरक्षक और व्यवस्थापक समझें, जिनका काम केवल इतना हो कि वे उसकी रक्षा करें और उसका उपयोग यथासम्भव उसकी वास्तविक स्वामिनी जनता के हित में करें।

राजे-महाराजे और धनी सम्पन्न वर्गों को सम्बोधित करके गाँधी जी कहते हैं "कोई विक्षिप्त ही होगा जो यह समझता होगा कि जो स्थिति आज है वह सदा बनी रहेगी। अपने अधिकारों के लिए संग्राम करने को जन-वर्ग बाध्य है फिर यह संग्राम हिंसात्मक हो चाहे अहिंसात्मक। किसी भी दशा में राजे-महाराजे और सम्पन्नवर्ग उन करोड़ों दलित नर-नारियों के सम्मुख नहीं टिक सकते जो आज अपनी शक्ति से परिचित हो रहे हैं। मैं चाहता हूँ कि राजे-महाराजे काल के प्रवाह को समझें और स्वेच्छा से अपनी अनियन्त्रित शक्ति, अधिकार तथा ऐश्वर्य का विसर्जन जनहित में करके उसके सेवक बन जायँ। याद रखिए कि जनवर्ग के उत्थान को जगत् की बड़ी से बड़ी पशु-शक्ति भी रोकने में समर्थ नहीं हो सकती। मैं आशा करता हूँ कि मनुष्य की सामूहिक अन्तर्ज्योति उस उन्मत्त-प्रलयङ्कर स्थिति को न आने देगी जिसका उपस्थित हो जाना उस स्थिति में अनिवार्य है जब वे लोग जो जनाधिकार के अपहरण पर प्रतिष्ठित हैं, जागृत नहीं होते। मैं इसी कारण इस समस्या को हल करने का अहिंसक उपाय आज उपस्थित कर रहा हूँ।

"जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं उनकी समाप्ति नहीं, परिवर्तन चाहता हूँ। परिवर्तित हों ट्रस्की-संरक्षक के रूप में जो नाम मात्र को ही नहीं, वरन् वास्तविक हों। समाज की स्वतन्त्रता कुछ व्यक्तियों के हाथ में कदापि छोड़ी नहीं जा सकती। किसी भी व्यक्ति को चाहे वह राजा हो या जमींदार अथवा धनी-व्यापारी यह अधिकार नहीं है कि वह स्वोपार्जित अथवा पैत्रिक सम्पत्ति का निरंकुश स्वामी और उपभोक्ता

हो। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की पूरी स्वतन्त्रता है कि वह अपनी बुद्धि और योग्यता का उसी प्रकार प्रयोग करे जिस प्रकार दूसरे करने का अधिकार रखते हैं, पर किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि बुद्धि और कौशल से उपार्जित सम्पत्ति का उपयोग भी मनमाना कर सके। प्रत्येक व्यक्ति परवर्ती समाज का ही एक अङ्ग है। फलतः वह अपनी शक्ति का उपयोग केवल अपने लिए नहीं कर सकता। उसे उसका उपयोग उस समाज के हित के लिए करना होगा जिसका वह छोटा सा अङ्ग है और जिसके सहारे ही जीवित है।

"जग में आज जो असाम्य छाया हुआ है वह जनता के अज्ञान के कारण है। जन वर्ग को जब अपनी नैसर्गिक शक्ति का ज्ञान हो जायगा तो इस वैषम्य का लोप भी अवश्यम्भावी है। यदि यह क्रान्ति हिंसा के द्वारा संपादित हुई तो आज की स्थिति उलट भले ही जाय पर उस परिवर्तन से कल्याण न होगा। परन्तु अहिंसा के उस नव-युग का आरंभ होना अनिवार्य है जिसकी अपेक्षा जनता करती है। अहिंसा के द्वारा होगा शुद्ध परिवर्तन। समस्या की ओर मेरी दृष्टि और मेरा भाव विशुद्ध अहिंसात्मक ही है। फ्रांस ने स्वतन्त्रता समानता और बन्धुत्व के आदर्श की स्थापना की। वह आदर्श केवल फ्रांस की नहीं, परन्तु सारे मनुष्य जाति की सम्पत्ति है।

"पर जिस आदर्श को फ्रांस कभी प्राप्त न कर सका उसे प्राप्त करने का मार्ग हमारे लिए खुला है। क्या राजे-महाराजे, जमींदार और पूँजीपति-वर्ग इस दिशा में नेतृत्व ग्रहण करने को तैयार हैं? नेतृत्व ग्रहण करना उन्हीं के लिए उचित है, क्योंकि अभाव से आपन्न वे वर्ग जिनके पास दरिद्रता और दैन्य के सिवा कोई सम्पत्ति नहीं है, किसी को उसमें भागी नहीं बना सकते।" इन वाक्यों से स्पष्ट है कि गाँधीजी उन वर्गों से भी, जो आज की व्यवस्था से लाभ उठा रहे हैं, यह आशा करते हैं कि वे नये समाज की रचना में सहायक होंगे। वे यह विश्वास करते हैं कि उनके शुभांश को जागृत करके उनका संस्कार,

उनकी शुद्धि और उनका परिवर्तन करना संभव है, फलतः वे उनके सामने अपरिग्रह के उज्वल आदर्श को उपस्थित करते हैं। यह आदर्श और चाहे किसी को नया ज्ञात होता हो, पर भारत के लिए अभिनव नहीं है। शताब्दियों तक यह भारतीय जीवन का संस्कार करता रहा है। क्या उपनिषदों ने त्याग से ही धन के भोग की महिमा नहीं गायी है।

"तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्" का आदर्श क्या उपस्थित नहीं किया जा चुका है? "भुंजते ते त्वघं पापये पचन्त्यात्म-कारणात्" ऐसे कठोर वाक्यों से स्वार्थ की घोर निन्दा क्या नहीं की जा चुकी है? बापू आज उसी आदर्श को पुनरुज्जीवित करना चाहता है। सांस्कृतिक विकास के क्षेत्र में भारत ने जीवन के लिए जिन तत्त्वों का अनुशीलन किया था उन्हीं को विकल मानवता के उद्धार के लिए सजीव सन्देश के रूप में गाँधी उपस्थित कर रहा है। पर मनुष्य के स्वभाव की मर्यादा से वह अपरिचित नहीं है। आदर्श और व्यवहार, कल्पना और यथार्थ का सुन्दर सामंजस्य गाँधी के जीवन की विशेषता है। वह यद्यपि स्थिर-स्वार्थी वर्गके परिवर्त्तन और उसकी शुद्धि की आशा करते हैं, पर साफ-साफ यह जानते हैं कि उक्त नव-समाज की रचना के लिए उस विशाल किन्तु धरती पर लोटती जन-सत्ता को जगाना होगा जिसके दोहन और दलन पर आज का संघटन स्थापित है। जो पिसे हुए हैं वही जब उठेंगे और उठकर अपना उद्धार करेंगे तभी समस्या का स्थायी हल हो सकेगा। उनके बल से ही न केवल आज की व्यवस्था बदलेगी वरन् वह वर्ग भी बदलेगा जो उससे पोषित है और स्वयं उसका पोषक हो रहा है।

पूँजीवाद जनता के श्रम से ही फलता-फूलता है और जनता की कमाई से ही अभिषिक्त है। कल-कारखानों को चलाने वाला जन वर्ग ही है और उत्पन्न पदार्थों को खपाने वाला भी वही है। उसके सहयोग और सम्पूर्ण आत्म-समर्पण पैर ही आज का सारा

अनर्थ हो रहा है। यदि यह वर्ग जागृत हो और अपने बंधन को छिन्न-भिन्न करने के लिए अग्रसर हो तो कोई शक्ति नहीं है जो उसके मार्ग का अवरोधन कर सके। जन-सत्ता महती बलशालिनी है, इसमें किसे सन्देह हो सकता है? वह असहाय और निर्बल दिखाई देती है क्योंकि आत्मविस्मृत है, आत्म-विश्वास खो चुकी है और अन्याय तथा अनीति के सम्मुख मस्तक झुकाना पाप नहीं समझती। गाँधीजी आत्मावलम्बन, आत्म-विश्वास तथा अपना उद्धार आप करने की चेष्टा के मन्त्र से जन-समाज को अनुप्राणित कर रहे हैं। उनकी विचारधारा और उनकी कार्य-पद्धति उपर्युक्त मन्त्र से ही पावन है।

उनके चर्खे में, उनके विधायक कार्यक्रम में, उनके सत्याग्रह की रण-पद्धति में उपर्युक्त भावना प्रतिष्ठित है। उसके द्वारा जब समाज में वे जिस चरित्र-बल का विकास करते हैं वही आवश्यक होने पर जनता को अहिंसक संघर्ष के लिए बल प्रदान करता है। फलतः जन-समाज चर्खे को अपनाकर यदि उत्पादन-क्रिया का स्वामी बन जाय और उपभोग तथा वितरण की व्यवस्था स्वयम् करने लग जाय तो आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके मूल से उस स्वाधीन समाज का विकास करता चलेगा जो केन्द्रवाद को क्रमशः निष्क्रिय अतएव अधिकाधिक विघटित करने में समर्थ होगा। यदि जन-समाज कल-कारखानों से मुख मोड़ देगा तो कहाँ रह जायगा यन्त्रवाद और कहाँ रहेगी पूँजीवादी अर्थनीति की इमारत स्वयम् ढहती दिखाई देगी। यह समझना भूल है कि गाँधीजी वर्गस्वार्थ अथवा वर्गसंघर्ष के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। वे उसे स्वीकार करते हैं, पर विरोध करते हैं उस पद्धति और सिद्धान्त का जो वर्ग-चेतना और वर्ग-भावना को उत्तेजित करके हिंसा के द्वारा विरोधी वर्ग का सर्वनाश करने में विश्वास करता है। इस प्रणाली में वे उस द्वेष-भाव और हिंसात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित और प्रबुद्ध होता देखते हैं जो आज सामाजिक

जीवन का आधार बन कर मानवता को अभिशप्त बना रही है।

वह देखते हैं कि इससे वर्ग-संघर्ष की समस्या का स्थायी हल नहीं निकलता। खड्ग के स्रुवा से रक्ताहुति डालना वर्ग-स्वार्थ की अग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित करना है। शस्त्र के द्वारा जो वर्ग या समूह अपनी अधिकारसत्ता स्थापित करेगा वह उसी के सहारे अपने स्वार्थ की रक्षा करता रहेगा और इस प्रकार द्वेष तथा हिंसा की आग सुलगती रहेगी। अतः गाँधी जी वर्ग-संघर्ष की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसे ऐसी दिशा प्रदान करना चाहते हैं, जहाँ बिना रक्तपात और द्वेष के वह सामाजिक स्थिति उत्पन्न की जा सकती है, जिसमें पूँजीवादी वर्गों के स्वार्थ की लतिका स्वयमेव सूखती नजर आएगी। यह स्थिति जनवर्ग की जागृति और उसके प्रयास पर ही निर्भर करती है। मार्क्स-वाद भी पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति के लिए महती जन-क्रान्ति की ही कल्पना करता है। जन-वर्ग उठे, उत्पादन के साधनों और शासन-सत्ता पर बलपूर्वक अधिकार कर ले तथा शस्त्र और शक्ति के द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था को मिटाकर वर्गहीन समाज की रचना कर डाले। मार्क्सवाद की यही पद्धति है।

गाँधी जी जन-वर्ग के उत्थान पर ही नव-समाज की रचना संभव समझते हैं। उत्पादन के साधनों और शासनतन्त्र पर वह भी जनता का अधिकार चाहते हैं। मार्क्सवाद तो केवल उत्पादन-साधन पर क्रान्तिकारी जनवर्ग का अधिकार चाहता है, पर गाँधीजी एक कदम और आगे बढ़कर उत्पादन की सारी पद्धति, क्रिया और प्रकारतक को इस प्रकार उलट-पुलट देना चाहते हैं कि केन्द्रवाद की विशाल अट्टालिका धराशायी हो जाय और सारा केन्द्रित वैभव विघटित होकर जन-समाज के हाथों में विघटित और वितरित हो जाय। पर उनकी सारी पद्धति में शस्त्र और बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। वे चर्खे के रूप में उत्पादन के जिस साधन और प्रणाली की ओर संकेत करते हैं, उसे अपनाने में जागृत जन-वर्ग का पथावरोधन जगत्

की कोई शक्ति नहीं कर सकती। पूँजीवादी वर्ग के सारे कल-कारखाने और उसकी व्यवस्था खड़ी-खड़ी निष्प्राण हो जायगी। अपना हित और अपना स्वार्थ लिए हुए वर्ग असहाय हो जायगा और इस प्रकार वर्ग संघर्ष स्वतः लुप्त होता दिखाई देगा।

आर्थिक क्षेत्र में पुञ्जीभूत वर्ग-प्रभुता के बिखरने का प्रभाव राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र पर भी पड़ना अनिवार्य है। आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हुआ जन-समाज सामाजिक असमानता का क्षय करने में समर्थ होगा। आर्थिक व्यवस्था के संचालन के लिए उसे सहयोग-मूलक और सुसंघटित ऐसे समाज की रचना करनी पड़ेगी जो जन-जीवन के विविध क्षेत्रों का संचालन स्वभावतः करेगा। मूल से ही स्वतन्त्र और शक्ति-संपन्न जन-संघटन का सूत्रपात जिस क्षण हो जायगा उसी क्षण से शासन-सत्ता की केन्द्रित शक्ति का भी ह्रास होने लगेगा। अवश्य ही नव-समाज की रचना का यह उत्तरदायित्व और भार जागृत जनवर्ग को ही उठाना पड़ेगा। इसीलिए गाँधीजी जन-समाज का आवाहन करते हैं। यही नहीं वरन् आवश्यकता पड़ने पर अधिकार का विसर्जन कराने के लिए जनता को सत्याग्रह की संघर्षात्मक और विद्रोह मूलक पद्धति को अपनाने के लिए भी प्रस्तुत रहना पड़ेगा सच है कि गाँधीजी मानव-स्वभाव की उज्वलता में विश्वास करते हैं। वे यह आशा करते हैं कि अधिकार-सम्पन्न तथा स्थिर-स्वार्थी वर्ग स्वेच्छा से न्याय का पथ ग्रहण करेगा और संरक्षक के रूप में जनता का सेवक बन जायेगा। इसी आशा के आधार पर नव-समाज की रचना के कार्य में योग देने के लिए वे संपन्न वर्गों का आवाहन भी करते हैं।

पर स्वभाव की मर्यादा की उपेक्षा भी वे नहीं करते। सम्पत्तिशील हैं वे यदि न्याय की पुकार सुनने में समर्थ नहीं हैं अथवा अधिकार-संपन्न शासक वर्ग यदि जनता के सम्मुख अधिकार विसर्जन करके नीति का पक्ष ग्रहण नहीं करता तो शुद्ध करने, परिवर्तित करने और उसके शुभांश को जागृत करने का उत्तरदायित्व भी जन-

समाज को ही उठाना पड़ेगा। असहयोग और सत्याग्रह के द्वारा उस प्रचण्ड जन-आन्दोलन का सर्जन करना होगा जो किसी सरकार या वर्गसत्ता की पशुता को समूल हिला देने में समर्थ हो। अहिंसात्मक सङ्घर्ष किसी का विनाश नहीं किन्तु परिवर्तन करने तथा उसे शुद्ध करने की ओर उन्मुख होता है। कष्ट-सहन और त्याग तथा अनीति की दृढ़ अवज्ञा, अहिंसक संघर्ष की विशेषता है।

गाँधी के मत से अहिंसक पद्धति दोनों दिशाओं को शुद्ध करना जानती है। एक ओर यदि जागृत जन-वर्ग प्रतिरोध की आवश्यकता उत्पन्न होने पर अहिंसक का मार्ग पकड़ करके आत्मशुद्धि करता है तो दूसरी ओर अहिंसक संघर्ष की प्रक्रिया से वह प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है जो विरोधी पक्ष को भी शुद्ध करने में समर्थ होती है। अहिंसक संघर्ष में स्वयम् बलि चढ़ जाने के लिए अग्रसर होना पड़ता है। अहिंसक सैनिक कष्टों और विपत्तियों का आवाहन करता है और हँसते हुए उनको सहन करता है। इस प्रकार बलिदान और त्याग के पथ का अवलम्बन करके अपने को शुद्ध करता है। बापू कष्ट सहन को आत्मा-शुद्धि का साधन समझता है। दूसरी ओर कष्ट-सहन के द्वारा वह आततायी के अंतर का स्पर्श करता है, अपने उत्सर्ग के भाव से ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देता है जो स्वार्थी, शोषक तथा मोहाच्छन्न शस्त्रधारी के हृदय को द्रवीभूत और परिवर्तित करने में समर्थ होता है। गाँधीजी की दृष्टि में "जो त्याग और तप तथा कष्ट-सहन का मार्ग ग्रहण करता है वह मानवता को ऊँचे ले जाता है।"

इस प्रकार गाँधीजी नव-समाज की रचना करने का आधार, पद्धति और योजना उपस्थित करते हैं। विश्वास करते हैं कि स्वार्थी वर्ग भी परिवर्तित होगा। केवल अपील से नहीं तो जन-वर्ग की चेतना और अहिंसक संघर्ष की प्रणाली की प्रतिक्रिया से प्रभावित होकर होगा। दोनों की विशुद्धि और शुचिता के फलस्वरूप अपेक्षित नव-समाज की रचना हो सकेगी। वर्ग-स्वार्थ का लोप स्वार्थों की भित्ति

पर प्रज्वलित वर्ग-संघर्ष में नहीं हो सकता। यदि स्वार्थ की पृष्ठभूमि पर संघर्ष की रचना की जायगी तो उसका परिणाम यह भले ही हो जाय कि आज वर्ग-विशष का स्वार्थ विजयी हो पर उसका फल यह कदापि नहीं हो सकता कि संघर्ष का लोप हो जाय अथवा वर्ग-हीनता स्थापित कर दी जा सके। गाँधी जी की पद्धति दूसरी दृष्टि ग्रहण करके अग्रसर होती है। वह समझती है कि वर्गों की उत्पत्ति का मूल कारण स्वार्थ की विभिन्नता से उत्पन्न पारस्परिक भेद तथा शत्रुता-पूर्ण सम्बन्ध है। यदि इस भेद, मित्रता, शत्रुता और स्वार्थ को ही उत्तेजित किया जायेगा तो संघर्ष अनन्त काल तक समाप्त न होगा और न त्रिकाल में समाज वर्ग-हीनता की ओर बढ़ सकेगा। उसका एकमात्र उपाय यही है कि स्वार्थों में सामंजस्य स्थापित करके परस्पर के संबन्ध को नया रूप प्रदान किया जाय जो संघर्ष नहीं सहयोग की ओर उन्मुख हो। इस समन्वय से यदि स्वार्थों में संतुलन स्थापित हो सका तो संघर्ष मिटेगा और वर्ग-भेद स्वतः समाप्त होता दिखाई देगा। वही स्थिति सच्ची वर्ग-हीनता की होगी।

संशयात्मा—गाँधीजी की इस पद्धति के सम्बन्ध में सन्देह कर सकता है कि यह सब कोरी भावुक उड़ान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कब यह सम्भव है कि अपील करके अथवा अहिंसक प्रतिरोध के द्वारा उन वर्गों का परिवर्तन किया जा सके जो आज अपनी गोटी लाल कर रहे हैं। पर इस संशय का अर्थ ही क्या है? जो लोग उसकी पद्धति में सन्देह करते हैं वे कौन सा उपाय उपस्थित करते हैं। एकमात्र हिंसा और बल-प्रयोग का मार्ग हो या और कोई दूसरा? बापू भी उस मार्ग से अपरिचित नहीं है, पर उसने उससे जान बूझकर मुख मोड़ा है। मोड़ा है इसलिए कि वह देखता है कि हिंसा और पशु-बल का लोप करके नैतिकता और मानवता की स्थापना के लिए हिंसक और बर्बर उपायों का अवलम्बन इष्ट-लक्ष्य की सिद्धि में सफल होता दिखाई नहीं देता।

यह सत्य है कि अब तक जगत् में समस्याओं के हल का उपाय

शस्त्र ही बन जाता रहा है। उस उपाय से समस्याएँ कुछ सुलझती भी रही हैं और कुछ उलझती भी। पर गाँधी ने एक बात जो मुख्य रूप से देखी वह यह कि शस्त्र भले ही प्रस्तुत स्थिति को उलट देने में सफल हुआ हो पर उससे वह अवस्था उत्पन्न न की जा सकी जो अपेक्षित रही है। हिंसा ने एक हिंसा का लोप तो किया पर उसके स्थान पर दूसरी हिंसा प्रतिष्ठित कर दी। आज तक इसी प्रकार हिंसा का प्रयोग होता रहा है। गाँधी ने आज दूसरी दिशा से प्रयोग आरम्भ किया है। वह मानता है कि मानवता की स्थापना के लिए मानवीय पद्धति और मार्ग को ग्रहण करना होगा। उसकी पद्धति अभी प्रयोगावस्था में है। जगती के अञ्चल में एक नहीं अनेक हिंसात्मक प्रयोग हो चुके हैं। महान् मानुषी आदर्शों को लेकर महती क्रान्तियाँ हुई हैं जिनमें हिंसा ने खुल कर क्रीड़ा की है। मनुष्य ने आदर्श को रक्तस्नान कराने के लिए न जाने कितने प्राणों की बलि चढ़ाई है। इसमें बहुतों को गहरी क्षति उठानी पड़ी है और क्रान्ति ने भारी मूल्य चुकाने के लिए बाध्य किया।

ऐसे प्रयोग हुए और यदि उन में से कुछ सफल हुए तो उनसे कहीं अधिक असफल भी हुए। इतने संहार और विनाश के बाद असफलता ! पर बापू की पद्धति में किसी की हानि नहीं है। हिंसा का प्रयोग तो बार-बार असफल हुआ है फिर भी जो उसका त्याग करना नहीं चाहते वे अहिंसा की असफलता सिद्ध हुए बिना उसका तिरस्कार करके उचित नहीं करते। गाँधीजी को अपने प्रयोग में शोणित-स्नान की अपेक्षा नहीं। यदि सफलता मिली तो मानवता को मुक्ति-पथ मिला और यदि असफलता गले पड़ी तो न किसी की हानि होगी और न जो है उससे बुरी स्थिति होगी। फिर क्यों केवल सन्देह के कारण उसके मार्ग को रुद्ध किया जाय ? जो न इस प्रयोग की सफलता के लिए प्रयास कर सकते हैं और न सहयोग प्रदान कर सकते हैं वे कृपा कर आशीष तो दे ही सकते हैं।

गाँधी महान् लक्ष्य की ओर उन्मुख है और महती क्रान्ति का प्रवर्त्तन करने के लिए अग्रसर हुआ है। वह मानव-समाज को हिंसा के मार्ग से विरत करके अहिंसा की ओर ले जाना चाहता है। वह आज की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को, आधुनिक सांस्कृतिक धारा को, जीवन के प्रति आज के मनुष्य की दृष्टि को बदल देना चाहता है। इस महती क्रान्ति के चक्र का परिचालन उसका जीवन पथ है, पर वह अपनी क्रान्ति-धारा को रक्त-रञ्जित बनाना नहीं चाहता। क्रान्ति हो पर रक्तहीन, हत्या और हिंसा से विहीन, जघन्यता और पशुता से मुक्त, मानुषी क्रान्ति हो जो मनुष्य को मानवता की ओर अग्रसर कर सके। यही है उसका पथ, प्रयास और प्रयोग। यही है मानवता के सम्मुख उसका संदेश और मार्ग।

उपसंहार

धरती की गोद में जब से मनुष्य का अवतार हुआ है तब से लेकर आज तक उसके सम्मुख उसकी अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती रही हैं। जीवन का अवतरण और उसका विकास विशुद्ध शून्यता में नहीं हुआ है। वह अभिव्यक्त हुआ स्थूल शरीर के रूप में, ठोस धरती के ऊपर, अनेक शारीरिक प्रक्रियाओं और आन्तरिक प्रवृत्तियों को लेकर। जीवन के उदय के साथ-साथ उसकी समस्याएँ भी उसके साथ लगी आयीं। उसे अपनी रक्षा करनी थी, अपने से बलशीलों का सामना करना था और अपना पेट भरना था। धरती को घेरे रहने वाले वायुमंडल के अनुकूल उसे बनना था, परिवर्तित होने-वाले ऋतुओं से आवश्यक बचाव करने का प्रबन्ध करना था और प्रजनन की कामना पूरी करनी थी। उसके सामने ये प्रश्न सदा से उपस्थित रहे हैं। जैसे-जैसे जीवन का विस्तार बढ़ता गया, परिस्थि-तियाँ बदलती गयीं, प्रवृत्तियाँ विकसित होती गयीं वैसे-वैसे नयी आवश्यकताएं सामने आती गयीं और नयी-नयी समस्याओं को जन्म देती गयीं।

मनुष्य की सहज अन्तश्चेतना सदा से इन समस्याओं को सुल-झाने की चेष्टा करती रही है। जीवन का पथ प्रशस्त करने तथा अपने विकास की यात्रा की गति को यथासंभव निर्विघ्न बनाने का प्रयास भी करती रही है। मनुष्य जिन प्रवृत्तियों का अधिकारी है तथा जिन स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वों से उसका निर्माण हुआ है उनके प्रकाश में वह परिस्थितियों को देखता और तौलता रहा है। उन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया और प्रभाव के अनुरूप विचारों तथा कल्पनाओं को जन्म प्रदान करता रहा है। अतीत में उसे जो अनुभव होते रहे हैं, जगत् के

स्वरूप और आत्मस्थिति का उसे जो बोध होता रहा है उनको आधार बना कर वह अपने विचारों को अपनी सक्रियता के रूप में व्यक्त करता रहा है। इसी प्रकार जीवन-प्रवाह सहस्राब्दियों से बहता हुआ, इतिहास का निर्माण करता हुआ, संस्कृतियों को जन्म प्रदान करता हुआ, समय-समय पर उन्हें ढहाता और नये का निर्माण करता हुआ आज तक चला आया है।

इसी प्रकार नये विचारों का उदय, नयी व्यवस्थाओं का प्रजनन और नयी संस्कृतियों का प्रादुर्भाव होता रहा है। इसी प्रकार मानव-समाज के इतिहास की रचना हुई। आज मनुष्य-जाति के इतिहास में पुनः ऐसा ही क्षण उपस्थित हो गया है। दुनिया का एक स्वरूप गत कतिपय शताब्दियों से विकसित होता चला आया है, जिसने तत्का-लीन परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार व्यवस्थाएँ बनायीं, जीवन के लिए आदर्शों की स्थापना की, व्यवहार का मार्ग बनाया और युग की समस्याओं को सुलझाते हुए मनुष्य को जीवन-यापन के योग्य बनाया। पर आज ऐसा क्षण उपस्थित हुआ दिखाई देता है जब वही दुनिया नयी समस्याओं की जननी हुई है और कदाचित् स्वयम् उन्हें सुलझाने में असमर्थ हो रही है। मैं संकेत कर रहा हूँ उस दुनिया की ओर जिसका निर्माण विज्ञान और यन्त्र ने किया। विज्ञान और यन्त्र का उद्भव परिणाम था मनुष्य की विमल रचनात्मक बुद्धि का, वह परिणाम था जिज्ञासा और सत्यानुसन्धान की उस शुभ-प्रवृत्ति का जो न केवल भव-प्रपंच का रहस्योद्घाटन करने के लिए आगे बढ़ी थी बल्कि इसलिए भी प्रयत्नशील हुई थी कि प्रकृति की अपरिमित शक्ति पर अधिकार स्थापित किया जाय। अधिकार स्थापित किया जाय इसलिये कि मनुष्य उसका उपयोग अपने कल्याण की वृद्धि में कर सके।

फलतः वह जगत्, जिसका निर्माण विज्ञान और यंत्र ने किया, उन्नीसवीं शती के अन्तिम भाग में अपनी उन्नति के चरम बिन्दु पर

पहुँच गया। इस दुनिया को हम दो रूपों में अभिव्यक्त पाते हैं। एक ओर उसने पदार्थों के उत्पादन की मात्रा को अपरिमित तथा अकल्पित रूप में बढ़ा देने की क्षमता प्रदर्शित की। उसने सब को उत्पादन करने की स्वतन्त्रता प्रदान की। उत्पादन और व्यवसाय के द्वारा लाभ उठाने के लिए सब स्वतंत्र कर दिये गये और सब को यह स्वतंत्रता भी प्रदान कर दी गयी कि परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हुए प्रत्येक अपनी अपनी सफलता का उपभोग स्वच्छंद होकर कर सके। इस दुनिया ने यह घोषणा की कि आर्थिक क्षेत्र में प्रत्येक को यह अधिकार है कि वह अपनी बुद्धि, कुशलता और व्यवसाय-चातुर्य के द्वारा प्राप्त अवसर से लाभ उठावे। आर्थिक क्षेत्रमें नयी दुनिया ने जहाँ यह कल्पना की, वहीं राजनीतिक क्षेत्र में नया रूप प्रकट हुआ। विज्ञान ने वैज्ञानिक युग के मनुष्य के हृदय में बुद्धिवाद और स्वतंत्रता के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न कर दी। जीवन का मूल्यांकन करने के लिए ये ही नये मानदण्ड के रूप में प्रस्तुत हुए। आधुनिक मनुष्य की उच्चतम भावनाएँ और कल्पनाएँ इन्हीं के गर्भ से समुद्भूत हुईं। समाज ने अनुभव किया कि आर्थिक स्वतंत्रता तथा सामाजिक स्वतंत्रता का संबंध अविच्छेद्य है।

खरीद और बिक्री के साथ सोचने, मत व्यक्त करने तथा मिलने-जुलने और वोट देने की स्वतंत्रता भी आवश्यक है। इस युग के पूर्व यूरोप में सामन्तवादी समाज स्थापित था और शासन का निरंकुश अधिकार शासक-वर्ग के हाथों में केन्द्रित था। नयी दुनिया सामन्तशाही के शव पर निर्मित हो रही थी। यंत्रों के उद्भव तथा उत्पादन की नयी प्रणाली ने जिस आर्थिक संघटन और सामाजिक ढंग को जन्म दिया उसमें सामन्तशाही का विघटन अनिवार्य हो गया। आर्थिक-क्षेत्र में उत्पादन और मुनाफा तथा खरीद और बिक्री की स्वतंत्रता की कल्पना की गयी तो राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और मनुष्य की समता की धारणा भी उद्भूत हुई। परिस्थि-

तियों ने रूढ़ियों और बन्धनों तथा अंधी परम्पराओं की शृंखला को तोड़-फोड़ डाला। गिरजाघर और 'क्रास' के स्थान पर राष्ट्रदेवी की प्रतिमा स्थापित होने लगी। बंधुत्व और समता के मानवीय आदर्श पूज्य तथा ग्राह्य प्रतीत हुए। अनुभव किया गया कि सम्पत्ति और सुख का उपभोग करने के लिए समता और स्वतंत्रता तथा बन्धुत्व की कल्पनाएँ बाधक नहीं प्रत्युत साधक और अनिवार्य हैं। इस प्रकार नयी दुनिया आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता की कल्पना लेकर सामने आयी। एक ओर जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति की पवित्रता स्वीकृत हुई वहीं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सिद्धान्त भी सामाजिक जीवन का आधार माना गया। सम्पत्ति और स्वतन्त्रता की अक्षुण्णता मानव-जीवन के विकास के लिए एकमात्र आवश्यक शर्त मानी गयी। धीरे-धीरे उपर्युक्त कल्पनाएँ विकसित होती हुई उस लोकतंत्र के रूप में व्यक्त हुईं जिस पर आधुनिक मानव समाज गर्व करता है।

इस नयी दुनिया के मनुष्य ने स्वप्न देखा। उसने देखा कि वह युग आ गया है जब मनुष्य अभाव और भूख से, व्याधि और अकाल से, परतंत्रता और अज्ञान से मुक्त होने जा रहा है। उसका स्वप्न था कि समस्त मानव-जाति स्वार्थ और पशुता से, हिंसा और भय से सदा के लिए छुटकारा पाने जा रही है। उसने समझा कि कट्टरता और अंध-विश्वास से मुक्त होकर मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा सत्य के गूढ़ रहस्यों का साक्षात्कार करके अपनी धरती को वह बनाने जा रहा है जो पहले कभी नहीं थी और जहाँ अब सुख-शांति, समता, स्वतंत्रता बन्धुत्व और पारस्परिक सद्भाव आ विराजेगा। जगत् में शांति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का आदर्श मानव-समाज का आदर्श होगा और विविध देशों की राष्ट्रीय सरकारें यद्यपि अपनी भौगोलिक सीमा के अन्दर अक्षुण्ण और सम्पूर्ण अधिकार की अधिकारिणी होगी तथापि विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग में उनका प्रभु-रूप बाधक न होगा। इस प्रकार नयी दुनिया के मनुष्य ने अपने भविष्य के संबंध

में स्वप्न देखा और लोकतन्त्र में अपने उसी स्वप्न को वास्तविक स्वरूप देने की चेष्टा की। यह था लक्ष्य, यह थी कल्पना और यह था स्वप्न जिसे लेकर वह दुनिया बनी जो कतिपय शताब्दियों से विकसित होती हुई उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण और बीसवीं के आरम्भ में अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गयी। यही था प्रकाश जो पश्चिम से आया और क्रमशः मानव-समाज के जीवनाकाश में छा गया।

इस प्रकार की मोहकता में किसे सन्देह हो सकता है? कौन अस्वीकार करेगा कि इस कल्पना और लक्ष्य में जीवन-तंत्री को झंकृत कर देने की शक्ति नहीं थी? फलतः जो प्रकाश आया वह इतना सुंदर, इतना सत्य और इतना आकर्षक प्रतीत हुआ कि मानवता विमुग्ध हो उठी। आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा कठोर नहीं हुई थी, सभी देश औद्योगिक दृष्टि से उन्नत नहीं हुए थे। जगत् के विस्तृत भू-भाग माल खपाने और व्यापार करने के लिए अछूते पड़े हुए थे। व्यवसाय उन्नति पर था, उत्पादन बढ़ता जा रहा था, माल की खपत तेजी पर थी, सदा से पीड़ित और त्रस्त जनवर्ग जो पहले धरती में गड़ा हुआ था और दिन-रात पृथ्वी खोदने पर भी खाने को नहीं पाता था, अब उत्पादन के केन्द्रों में नये-नये उदीयमान नगरों में आकर बसने लगा था। उसे काम था, मजदूरी थी और अवकाश था। नया जीवन था, और अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता थी। पहले जिनके लिए ठोकर, निर्दलन और दासताजन्य अपमान के सिवा कुछ न था, जो सामन्त-वादी निरंकुशता के शिकार थे उन्हें यह स्थिति भी कहीं अधिक ग्राह्य और श्लाघ्य प्रतीत हुई। फलतः सबने मिलकर इस नयी दुनिया को आशीष दिया। वह भी सबका आशीर्वाद और सहयोग पाकर फल-फूल चली।

पश्चिमी और मध्य यूरोप में अब तक राष्ट्रवाद की कल्पना के आधार पर देशों की रचना हो गयी थी, राष्ट्रीय कहलानेवाली सर-कारों का भी उदय हो चला था, देश-भक्ति[१] की भावना उदय हो

चुकी थी और राष्ट्र की कल्पना अमूर्त होते हुए भी मानस-प्रतिमा का रूप ग्रहण कर चुकी थी। विभिन्न देश यद्यपि औद्योगिक उन्नति की ओर बढ़ चले थे पर इसका अर्थ यह न था कि उनकी सीमा के अंदर दैन्य और दासता का सर्वथा अभाव हो गया था। यह सच है कि अब भी अपनी गोद में शोषितों की भारी भीड़ लिये हुए वे अवतीर्ण हुए तथापि नयी स्थिति ने तात्कालिक समस्याओं को सुलझा दिया था। दुनिया के बाजारों में अपना माल बेचने में सफल होने के कारण वे अपने जनवर्ग को चार पैसे तथा काम सरलता के साथ देने में समर्थ थे। फलतः साम्राज्यों के विस्तार में, देश की शक्ति में, राष्ट्रीय गौरव और कल्पना में सभी विचित्र संतोष, स्वाभिमान तथा रस का अनुभव करने लगे थे। संक्षेप में यह था उस दुनिया का स्वरूप।

पर दैव की गति का विधान भला कौन समझ पाता है? जिस दुनिया ने मानव-समाज के हृदय में अपने भविष्य के प्रति आशा और आस्था उत्पन्न कर दी थी, जिसने नयी कल्पनाओं, नये आदर्शों और जीवन के नये विधानों को उपस्थित करके उसे विमुग्ध किया था उसकी दशा आज क्या हो गयी है? हम देख रहे हैं कि आधुनिक यूरोप में वह लक्ष्य, जिसे सामने रखकर वह बढ़ा था, जलकर राख हो गया है। हम देख रहे हैं कि उक्त कल्पना का गला घोंटा जा चुका है और वह स्वप्न जिसे उक्त नयी दुनिया के मनुष्य ने देखा था, संप्रति कठोर वास्तविकता के सम्मुख खेदजनक रूप से मिथ्या सिद्ध हो रहा है। वह नया प्रकाश जो जीवन-पथ को आलोकित कर रहा था, आज सहसा बुझा हुआ दिखाई दे रहा है। और तो और स्वतः वह संस्कृति, जिसका निर्माण कतिपय शताब्दियों में हुआ था, धरती पर पड़ी हुई ऊर्ध्व श्वास लेती दृष्टिगोचर हो रही है। जो फैक्टरियाँ और कल-कारखाने और वैज्ञानिक उत्पादन के जो साधन पदार्थों की उत्पत्ति करके जगत् के बाजारों को भर देने में समर्थ थे और जो मनुष्य के शब्दकोष से 'अभाव' शब्द का नाम-निशान मिटा देने में सक्षम थे

उन्हीं को लेकर मनुष्य ने ऐसी अर्थनीति का निर्माण कर डाला जिसमें अभाव ही अभाव रह गया।

कल-कारखाने अकर्मण्य और अलाभजनक हो गये तथा उत्पादक और मजदूर भूखे और नङ्गे दिखाई देने लगे। वसुन्धरा का कोना-कोना छान डाला गया, शोषण और पराधीनता चारों ओर वितरित कर दी गई और पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता, चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र की हो अथवा आर्थिक, क्रमशः भयावनी होती गई। आर्थिक उत्पादन तथा प्रतिस्पर्धा से होनेवाले लाभ को उठाने की स्वतंत्रता यद्यपि सिद्धान्ततः सभी को प्राप्त थी पर व्यवहारतः उसका उपभोग वह छोटा-सा वर्ग ही करता दिखाई पड़ा जिसके हाथों में पूँजी थी। अत्यधिक जन-वर्ग उत्पादक होते हुए भी मजदूर ही रह गया जिसका अधिकार और भाग अकिञ्चन-सी मजदूरी की रकम से अधिक न रहा। वह शोषित ही था और शोषित ही रह गया। उसके शोषण पर विज्ञान और यंत्र का लाभ छोटा-सा वर्ग उठाता चला जा रहा है। कहाँ रह गई आर्थिक स्वतन्त्रता और क्या रह गई उत्पादन की नयी प्रणाली की सार्थकता? जिधर देखा भूख ही देखी। माल खरीदनेवाले भूखे, श्रम करके उसे बनानेवाले भूखे। धीरे-धीरे वह समय भी आ गया जब पूँजी लगाकर कल-कारखाने खड़े करनेवाले और माल बेचनेवाले भी भूखे दिखाई देने लगे। ये भूखे इसलिए कि कल-कारखाने ठप हो चले और उनके सिलण्डर तथा चक्के जहाँ के तहाँ खड़े बेकार पड़े रह गये।

आर्थिक क्षेत्र की प्रतिस्पर्धा ने स्वभावतः राजनीतिक क्षेत्र का द्वार भी प्रतिद्वन्द्विता के लिए खोल दिया है। राष्ट्रीय कहलानेवाली स्वतंत्र सरकारें शक्ति और अधिकार की विस्तृति के लिए, औद्योगिक दृष्टि से अनुन्नत भू-प्रदेशों को अधीन बनाने के लिए परस्पर प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आमने-सामने खड़ी होने लगीं। इस प्रतिस्पर्धा में सफल होने की कामना ने नयी प्रवृत्ति को जन्म दिया। यह आवश्यक हो गया कि राष्ट्रीय सरकारों की बल-वृद्धि की जाय और शक्ति तथा अधिकार

उसके हाथों में केन्द्रित हो जाय। फलतः राष्ट्रीय एकता के नाम पर, राष्ट्रीय हित के नाम पर, अपनी भौगोलिक सीमा के भीतर रहनेवाले सभी वर्ग, समूह तथा व्यक्ति के अधिकारों का व्यापक अपहरण किया जाने लगा। आज बन्धुत्व और समता, शान्ति तथा स्वतंत्रता, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और सहयोग तो केवल पोथी-पत्रों की वस्तु रह गई। जनाधिकार और लोकतंत्र का निष्ठुर निर्दलन हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो हुआ, वह यह हुआ कि अराजकता और द्वेष उग्रतम रूप में भड़क उठा।

विभिन्न राष्ट्रों की सरकारें परस्पर संशय, भय और अविश्वास से ग्रस्त हो गयीं। साम्राज्य-विस्तार के लिए, अपने देश के व्यवसाय और व्यापार के लिए सभी को भूमि की भूख थी। इस प्रतिद्वन्द्विता ने अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण तथा उनके संग्रह की प्रतिस्पर्धा उत्पन्न कर दी। जो साम्राज्याधिपति होने से सफल हुए वे उसकी रक्षा के लिए और जो असफल हुए वे दूसरों से उसे छीन लेने के लिए शस्त्र-शक्ति के संचय में जुट पड़े। धरती की छाती पर बारूद की ढेर लग गयी। जिधर देखिये विनाश के उपकरण संहार करने के लिए एकत्र दिखाई देने लगे। देश-विदेश की जनता इसी तैयारी में पीस डाली गयी। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और शान्ति भला इस परिस्थिति में कहाँ जीवित रह सकती थी ? सामाजिक क्षेत्र में परस्पर विरोधी वर्गों का उदय हो गया। समाज का यह विभाजन इतना उग्र और इतना भयावना मानवता के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। स्वार्थ की भित्ति पर बने हुए वर्गों का भेद स्वार्थों की तीव्रता के साथ-साथ तीव्रतर होता गया और उसी मात्रा में वर्ग-संघर्ष को तीक्ष्णता प्रदान करता गया। वर्ग विशेष के हित में लगी सरकारें दूसरे वर्गों का मनमाना निर्दलन करने में समर्थ हुईं। सरकारें वस्तुतः केन्द्रित शक्ति, अधिकार और शासन के प्रतीक हो गयीं जिन्होंने क्रमशः जन-स्वातंत्र्य की सारी कल्पना को धूल में मिला दिया।

इस प्रकार उपर्युक्त दुनिया ने न केवल विपरीत मार्ग पकड़ा प्रत्युत नयी समस्याओं को जन्म दिया। अभाव कैसे मिटे, वर्ग-भेद कैसे दूर हो, जन-समाज का निर्दलन कैसे रुके, जगत् में शान्ति और व्यवस्था कैसे बनी रहे, मानव-समाज का संहार कैसे टले और कैसे उस संस्कृति का विनष्ट होना बचाया जाय जिसका जन्म यूरोप में हुआ और जिसके प्रकाश में आधुनिक मनुष्य जीवन-संचालन कर रहा था। समस्या को सुलझाने की योग्यता बीसवीं शताब्दि के मनुष्य में न दिखाई पड़ी। समस्याओं ने जिस परिस्थिति को जन्म दिया उसे सँभालने की क्षमता भी उसमें न थी। यदि उसमें योग्यता रही होती तो गत महासमर का क्षेत्र न हुआ होता। वह परिणाम था उक्त परिस्थिति का, परिस्थिति को सँभालने में मनुष्य की असमर्थता का और उसके बुद्धि के दिवालियेपन का। फलतः युद्ध हुआ, आँखें मूँद कर असंख्य नवयुवकों का बलिदान किया गया, जो जगत् के सूत्रधार थे वे उन्मत्त होकर संहार-लीला में जुट पड़े। बर्बरता का भयंकर नर्तन हुआ, पर समस्या सुलझ न सकी। आशा की जा सकती थी कि युद्ध के उपरान्त विनाश और पीड़ा के फलस्वरूप हुए अनुभवों से मनुष्य काम लेगा, रास्ता निकालेगा समस्याओं को हल करने का, अपनी भूल समझेगा, धूमिल हुए लक्ष्य को पुनः प्रकाशित करेगा और समुचित पथ पर पुनः आरूढ़ होगा। पर जगत् का जन-समाज प्रवंचित हुआ। मालूम होता है कि विनाश और पतन की क्रिया एक बार आरम्भ होने पर बीच में रुकना नहीं जानती।

ऐसा ज्ञात होता है कि तत्कालीन मनुष्य अपनी ही व्यवस्था से उत्पन्न समस्याओं से भयग्रस्त हो गया था। भय और अविश्वास, स्वार्थ और प्रतिशोध ने कदाचित् उसे अन्धा बना दिया था। फलतः आँखे उठा कर समस्याओं की ओर देखने का, अपनी भूल पकड़ने का, उनका परिहार करने का प्रश्न के मूल में जाने का और तदनुकूल उपचार करने का साहस ही उसमें नहीं थी। वह तो यह देखकर

जैसे भयाकुल हो उठा था कि उसकी दुनिया नष्ट हुआ चाहती है। ऐसी स्थिति में और भयाकुल मनोदशा में जो व्यवस्था और जो उपाय किया जाता उसका आधार भला क्या हो सकता था ? भय की प्रवृत्ति मनुष्य की सजात, आदि, बर्बरयुगीन प्रवृत्ति है। संस्कृति का एक काम इस प्रवृत्ति को संयमित और सन्तुलित करना भी रहा है। अपनी अपनी सांस्कृतिक यात्रा में मनुष्य यथासंभव इससे मुक्त होता और अभयता के क्रमिक विकास पर जीवन की रचना करता गया है। हिंसा और उत्पीड़न, व्याधि और आशंका, दलन और शोषण के त्रास के मिट जाने में ही तो संस्कृति का सच्चा रूप प्रकट होता है। यही कारण है कि मनुष्य जन्म और मृत्यु तथा प्रकृति के अटल विधानों के रहस्य का साक्षात्कार करके गूढ़ परिस्थितियों के भय से भी छुटकारा पाने की साधना करता रहा है।

पर यहाँ तो अवस्था ही दूसरी थी। भय ही हो गया आधार सारी नीति और उपाय का। भय अपनी प्रभुता के छिन जाने का, अपने स्वार्थ के विनष्ट हो जाने का, अपने प्रतिद्वन्द्वियों की शक्ति-वृद्धि का, अपने विशाल वैभव के संकीर्ण हो जाने का। अपनी ही समस्याओं और अपनी ही परिस्थिति से भी वह भयभीत हो उठा। अवस्था जिस परिवर्तन की माँग कर रही थी उससे भी वह त्रस्त हुआ। विज्ञान और यंत्र ने जगत् के स्वरूप में जो परिवर्तन कर दिया था उसी के अनुकूल अपने जीवन, अपनी कल्पना और अपनी धारणा को तथा अपने व्यवहार तथा अपने दृष्टिकोण को भी बदलना आवश्यक था। नयी दुनिया के विकास के साथ-साथ परिस्थिति का विकसित और परिवर्तित होते जाना अनिवार्य था। उसके अनुकूल जीवन में परिवर्तन होते जाना भी आवश्यक था। पर परिवर्तन के इस सहज और अपेक्षित प्रवाह से घबड़ाकर उसका अवरोधन करने का व्यर्थ प्रयास किया गया। यह प्रयास किया गया इसलिए कि अपना परिवर्तन करने में त्याग करने की आवश्यकता पड़ती है।

मनुष्य को सम्पत्ति और प्रभुता सम्बन्धी अपनी धारणाओं को बदलना पड़ता। उसे पूँजी और श्रम की कल्पना और व्यवस्था में परिवर्तन करना पड़ता, उसे उत्पादन और उसके लक्ष्य के प्रति अपनी दृष्टि को बदलना पड़ता, उसे वर्ग-मूलक और राष्ट्र तथा जाति-मूलक अपनी श्रेष्ठता और मिथ्याभिमान की प्रवृत्ति को दबाना पड़ता तथा अधिकार और शक्ति की लोलुपता का नियम न करके पारस्परिक प्रति-द्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग-मूलक राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय अर्थनीति और राजनीति को ग्रहण करना पड़ता। ऐसा करने में जगत् की विभिन्न राष्ट्रीय सरकारों को जगत् के हित के लिये अपनी प्रभु शक्ति का आंशिक विसर्जन भी करना पड़ता। विज्ञान के द्वारा एक सूत्र में बँधी पृथ्वी के समस्त भूप्रदेशों की विभिन्नता की भावना छोड़कर धरा को एक परिवार समझना पड़ता तथा जन-समाज को शक्ति, अधिकार और ऐश्वर्य के सारे भण्डार में यथावश्यक साझीदार बनाना पड़ता। परिस्थिति इन्हीं परिवर्तनों की माँग कर रही थी। पर जो सूत्र संचालक थे उन्हें इन परिवर्तनों को अंगीकार करने में त्याग करना पड़ता। दुर्भाग्य से उनमें न इतना साहस था, न इतनी उदारता और न मानवता कि वे इतिहास के प्रवाह के अनुकूल बह चलते। उनमें यह दूरदर्शिता भी न थी कि वे यह देख सकते कि जो दुनिया शताब्दियों से बनती हुई आज की स्थिति में पहुँची है वह गतिशील है और उसके निर्माण की क्रिया सहज ही जारी है। निर्माण की इस क्रिया को वैज्ञानिक संस्कृति ने आरंभ किया था जिसे अंतिम बिन्दु तक ले जाये बिना दूसरी गति है ही नहीं।

वे तो भयाकुल हो उठे अपनी ही दुनिया का विकास देख कर क्योंकि उसमें उनके स्वार्थों का हनन हो रहा था। युद्ध के बाद इसी कारण वे ऐसी दुनिया बनाने चले जिसमें उनके स्वार्थ सुरक्षित हों और जो उनके हितों की साधिका हो। वे यह न देख सके कि इस नीति के द्वारा वे जगत् की प्रगति और उसके विकास के पथ का अवरोधन कर

रहे हैं। युग जिस परिवर्तन की माँग कर रहा था उसकी सूचना उग्ररूप में मिल चुकी थी। रूस की बोल्शेवी महाक्रांति उस परिवर्तन की माँग की ही व्यंजना थी। वह क्रांति अपरिवर्तन के हिमायतियों और वर्तमान के पूजकों की हठधर्मिता, दुराग्रह तथा कुनीति के विरुद्ध व्यापक जन-समाज की भयावनी हुङ्कार थी जिसने महदावेग के साथ उन भावनाओं को व्यक्त किया जो कालात्मा की पुकार के अनुकूल थीं। रूसी विद्रोह उन परिवर्तनों को बलपूर्वक चरितार्थ करने के लिए हुआ जिसकी गति को वर्तमान के आराधक अपनी सारी शक्ति से रोक रहे थे। यदि उन लोगों ने जो तत्कालीन दुनिया के सूत्रधार, संचालक और प्रभु थे, जिनके हाथ में युक्त के बाद विश्व के नेतृत्व की बागडोर पहुँची थी, दूरदर्शिता से काम लिया होता और इतिहास के प्रवाह का दर्शन किया होता तो कदाचित् आज जगत् की स्थिति कुछ दूसरी हुई होती। पर वे तो युद्ध के भय से छुटकारा पाकर अब परिवर्तन के भय से त्रस्त थे। जो समय की पुकार का प्रतिनिधित्व कर रहे थे उन्हें उन्होंने अपने शत्रु के रूप में देखा। जो परिवर्तन का आकांक्षी हो, जो स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठानेवाला हो उन सब को उन्होंने अपना शत्रु समझा और उन्हें पीस-पास कर धूल में मिला देने में ही अपना हित देखा। उनमें दुराग्रह था वर्तमान को बनाये रखने का अतः वे यह भी न देख सके कि विरोध करनेवाला विरोधी बहुधा युग की पुकार होता है जिसके मुख से प्रकृति का अटल विधान बोलता है। विसर्ग की महती धारा का वेग रोकने का व्यर्थ प्रयास घातक होता है क्योंकि अवरोधी स्वयम् उसके प्रचण्ड प्रवाह में पड़ कर विनाश का भागी हो जाता है।

युद्धोत्तर विश्व में विजयी शक्तियों ने यही भूल की। वास्तव में जगत् उस स्थिति में पहुँच गया था जब वह वर्तमान के उपासकों के प्रति अपनी सारी आस्था खो चुका था। वह समझने लगा था कि जिन लोगों के हाथों में आज भूमण्डल के भविष्य का सूत्र है वे उदा-

रता, दूर-दर्शिता और मानवहित की भावना से प्रेरित होकर परिस्थिति के अनुकूल व्यवस्था का निर्माण करेंगे। पर धीरे धीरे दुनिया ने देखा कि जो अधिकारी हैं और जिनके हाथ में रचना करने का महान् कार्य प्रदान किया गया है उनसे किसी प्रकार के परिवर्तन की आशा की ही नहीं जा सकती। उनकी घोर स्वार्थपरता, अधिकार पिपासा और साम्राज्यवादी लिप्सा ने महान् आदर्शों के आवरण में जगत् को भरपूर दुह लेने के लिए उत्तम व्यवस्था कर डाली। इस नीति की भयावनी प्रतिक्रिया का होना अनिवार्य था। उसी प्रतिक्रिया का एक रूप इटली के फासिटी और जर्मनी के नाजी विद्रोहों में अभिव्यक्त हुआ। मनुष्य जब निराश हो जाता है और जब उसकी सारी आकांक्षाएँ कुचल दी जाती हैं तथा अपेक्षित वस्तु को प्राप्त करना असंभव दिखाई देने लगता है तो उसकी मनोदशा बहुधा भयावना रूप ग्रहण करती है। नैराश्य और छिन्न-भिन्न आकांक्षाओं से संभूत मनःस्थिति विचित्र हो जाती है। वह मनुष्य को बहुधा पशु बना देती है। मनुष्य अपने क्षोभ में उस वस्तु को ही नष्ट कर देना चाहता है जिसे प्राप्त करना उसे इष्ट होता है, क्योंकि इच्छित वस्तु को पाने में वह अपने को असमर्थ पाता है। ऐसी स्थिति में यह भावना भी उत्पन्न हो जाती है कि जो मुझे नहीं मिल सकता उसका उपभोग हम दूसरे को भी न करने देंगे।

इस प्रकार द्वेष की अग्नि में भस्म होती मनोदशा प्रतिशोध की प्रचंड ज्वाला बनकर अपने को और दूसरे को भी जला कर राख कर देने में शांति प्राप्त करने की आशा करती है। फासिटीवाद अथवा नाजीवाद में यही मनःस्थिति अभिव्यक्त है। वह नरद्रोह और विश्वद्रोह की लोमहर्षिणी कल्पना का प्रतीक है। उसकी विचार सरणि में एकमात्र विनाश ही विनाश की परंपरा स्थापित करने का प्रयास किया गया है। "वह दुनिया जिसका उपभोग करने के लिये हमारा दलन किया गया, जिसे प्राप्त करने की हमारी चेष्टा निष्फल कर दी

गयी, जिसे बनाये रखने के लिए हमारे गले को दबोचे रखने का प्रयास अब भी किया जा रहा है, हम उसे ही नष्ट करके छोड़ेंगे और साथ-साथ उन सबको नष्ट कर देंगे जो उससे परिपालित हो रहे हैं।" कुछ इसी प्रकार की भावना और दृष्टि से ओत-प्रोत नाजीवाद यूरोप के वक्षस्थल पर अवतीर्ण हुआ। वह न तो उस दुनिया को रहने देना चाहता है जिसका निर्माण यूरोप की वैज्ञानिक संस्कृति ने किया था और न उन लोगों को रहने देना चाहता है जो उसका उपभोग करके स्वयं आनंद लूटने का उपक्रम करते रहे हैं। सभ्यता यदि मिट जाती है तो मिट जाय उसकी बला से। यदि बर्बरता का राज्य लाना पड़े तो वह उसे भी ले आने में संकोच न करेगा क्योंकि उसके प्रतिशोध की आग और उसके हृदय का दाह उसी से मिटेगा।

पर जगत् के सूत्रधारों की अदूरदर्शिता और बुद्धि के दिवालियेपन की सीमा अभी पार नहीं हुई थी। स्वार्थ ने उन्हें इतना अंधा बना दिया था और परिवर्तन की माँग से वे इतने भयाकुल हो उठे थे कि उन्हें नाजी बर्बरता तथा फासिटीवादी में अपनी रक्षा और अपना हित प्रतिभासित हुआ। मनुष्य का पतन उस समय चरम बिंदु पर पहुँच जाता है जब उसका विवेक नष्ट हो जाता है और जब वह अपने हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय भी नहीं कर पाता। रूसी राज्य क्रान्ति ने तथा एशिया और अफ्रिका की दलित तथा अधीन जातियों के उत्थान ने जिस अपेक्षित परिवर्तन और युग के प्रवाह की ओर संकेत किया था उससे वे घबड़ा उठे थे। उनका एक मात्र लक्ष्य उन विचार धाराओं, कल्पनाओं और व्यवस्थाओं को कुंठित करना था जो प्रगति तथा परिवर्तन का प्रतिनिधित्व कर रही थीं। रूस स्वयं प्रगति की उस ऐतिहासिक धारा का ही प्रतीक था।

यदि दुनिया को प्रगति के पथ पर बढ़ना था, यदि युद्ध के समान संकट की पुनरावृत्ति रोकनी थी, यदि नयी दुनिया और नयी सभ्यता

को अपना लक्ष्य पूरा करने देना था, यदि उसकी सांस्कृतिक देन से जगत् का हित सम्पादन करना था तो यह आवश्यक था कि पुरानी धारणा, कल्पना और व्यवस्था में आवश्यकतानुसार रद्दोबदल किया जाता। पर उन लोगों की मोह-निद्रा भंग न हुई जो जगत् की प्रगति को रोकने का कुकर्म कर रहे थे। मोह का निराकरण तो दूर रहा उन्हें अपनी व्यवस्था और अपनी दुनिया में रत्ती भर भी परिवर्तन करने में अपना विनाश दिखाई दिया। फलतः न केवल बोल्शेवीवाद प्रत्युत जगत् में कहीं भी प्रवाहित परिवर्तन की प्रवृत्ति यदि वे पाते तो उसके आतंक से काँप उठते। यह आतंक भूत की तरह उनके मस्तक पर सवार हो गया। इस भय से मुक्ति का मार्ग उन्हें नाजी अथवा फासिटी कल्पनाओं में दिखाई दिया। जो नाजी अथवा फासिटी व्यवस्था लोकतंत्र की निष्ठुर हत्या करने के लिए आविर्भूत हुई थी, जिसका सारा दृष्टिकोण लोकतंत्र को नगण्य कर रहा था, जो आधुनिक सभ्यता की समस्त उत्तम धारणाओं और भावनाओं का शत्रु था, जो प्रतिहिंसा की प्रेरणा से प्रादुर्भूत हुआ था और जो खड्गहस्त था; पाश्चात्य संस्कृति का मस्तक विचूर्ण करने के लिए वही उन्हें अपने मित्र और सहायक के रूप में प्रतिभासित हुए। उन्होंने उसी को अपनी सहानुभूति, सहयोग और सहायता का पात्र समझा जो उन्हीं के पाप के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ था।

इस विवेक भ्रष्टता और अन्धमूढ़ता पर किसे आश्चर्य न होगा। शत्रु मित्र के रूप में दिखाई दे और मित्र शत्रु भासित हो यह मतिभ्रम जगत् के इतिहास में अपना सानी नहीं रखता। उन्हें जो दिखाई पड़ा वह केवल इतना ही कि नाजीवाद समस्त प्रगतिशील और परिवर्तनाकांक्षी प्रवृत्तियों का परम शत्रु है। जो अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी हो, जो जन-समाज की स्वतंत्रता का शत्रु हो, जो उत्पादक और श्रमिक-वर्ग को केवल शासकों और पूँजीपतियों की सेवा करने मात्र के लिए जीवित रहने का अधिकार देता हो, जो जातिगत श्रेष्ठता

और केन्द्रित-शक्ति तथा अधिकार-सत्ता का प्रबल पोषक हो, जो वर्ग-भेद का समर्थक ही नहीं प्रत्युत उपासक हो उसमें समस्त प्रगतिशील धाराओं का विरोध तो असंदिग्ध ही है। बस उनके लिए इतना ही पर्याप्त था। उन्होंने देखा कि आज की व्यवस्था और दुनिया में परिवर्तन की प्रक्रिया चरितार्थ करने के लिए जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गयी हैं उनका गला घोंटने के लिए यह नयी शक्ति आविर्भूत हुई है जिसकी सहायता करने में ही कल्याण है।

आश्चर्य है कि जो जगत् की व्यवस्था तथा उसका संचालन करने के लिए आगे बढ़े थे वे इतना भी न समझ सके कि जिसे वे नयी शक्ति के रूप में देख रहे हैं वह वास्तव में भयावनी कृत्या है जो न केवल भविष्य को किन्तु वर्तमान को भी अपने जबड़ों में रख कर चबा जाने के लिए बद्ध-परिकर हुई है। यदि वह प्रगतिमूलक परिवर्तन का शत्रु है तो उन लोगों का भी शत्रु है जो जगत् के सारे ऐश्वर्य और अधिकार का भोग कर रहे हैं। वह आज की दुनिया में जो कुछ है सबका शत्रु है और मित्र है केवल बर्बरता का, जिसे एक बार धरती की छाती पर पुनः प्रतिष्ठित करके प्रतिहिंसा की भावना को तृप्त करने पर उतारू है। नाजी अथवा फासिटीवाद यदि रूसीक्रान्ति के आदर्श तथा उसके मूलगत भावों के विरुद्ध है, यदि वह जगत् की समस्त प्रगतिशील, स्वतंत्रताभिलाषिणी तथा साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियों का शत्रु है तो उससे भी बढ़ कर शत्रु उस परम्परा और प्रवृत्ति का है जिसकी स्थापना और प्रदर्शन फ्राँस की राज्यक्रांति में, उसके बाद अमेरिकन स्वतंत्रता के महायुद्ध में तथा इँगलैण्ड के 'मेगना कार्टा' से लेकर आधुनिक समय तक में हुआ था।

वह शत्रु है उन विश्वासों और भावों का जिसका प्रतिनिधित्व यूरप के इतिहास में 'पुनर्जागरण' के (रेनेसाँ), 'सुधार' के (रिफर्मेशन) तथा बुद्धिवाद के युग ने किया था। नाजीवाद इन सबको एक

साथ ही अपने अपावन चरणों के नीचे रगड़ कर मिटा देने के लिए कृतसंकल्प था। पर यह सब देखने की न किसी ने आवश्यकता समझी और न क्षण भर किसी को विचार करने की फ़ुरसत थी। वहाँ तो भयाकुल विधाता मण्डल था जिसे अपने ऐश्वर्य और प्रभुता को बनाये रखने की एकमात्र चिन्ता थी। उन्हें केवल उस दुनिया का मोह था, जो उनके स्वार्थ की सिद्धि कर सके पर उन महान् नैतिक आदर्शों और उज्वल कल्पनाओं से कोई प्रेम नहीं रह गया था, जिन्हें लेकर वह दुनिया बनी थी। वे आदर्श और वे लक्ष्य मर चुके थे। विचारी पाश्चात्य-संस्कृति ऐसे अयोग्यों और स्वार्थियों के हाथ पहुँच गयी थी, जो उसे तिलांजलि देकर भी अपना स्वार्थ साधन करना चाहते थे। फलतः नाजीवादी प्रवृत्ति की चरण पूजा निर्लज्जतापूर्वक की जाने लगी। उधर नाजीवाद या फासिटीवाद इस स्थिति से लाभ उठाकर बढ़ चला। यूरोप के देश एक के बाद दूसरे उसकी ठोकर से धराशायी होने लगे।

इटली, इटली के बाद जर्मनी फिर पोलैण्ड, पुर्तगाल, आस्ट्रिया, हंगरी, स्पेन तथा यूरोपियन भूखण्ड के अन्य कतिपय प्रदेश फासिटी उदर में समा गये। जो पश्चिमी सभ्यता के संरक्षक बनने का दम भरते थे वे चुपचाप यह लीला देखते रहे। लीला ही नहीं देखते थे प्रत्युत इस नवोद्भूत बर्बरतावाद को एक के बाद दूसरी सुविधा भी प्रदान करते गये। यूरप का गत एक दशक का इतिहास ज्वलन्त प्रमाण है इस बात का कि नाजियों की माँग पूरी की जाती रही और ऐसा करने में अपने को लोकतन्त्र का उपासक कहने वालों ने न केवल आत्मसमर्पण किया बल्कि विसर्जित कर दिया उन आदर्शों को भी जो पाश्चात्य संस्कृति की विशेषता थी। स्वतन्त्रता, समता, बन्धुत्व और सहिष्णुता की कल्पना भी धीरे-धीरे विसर्जित होती गयी। आस्ट्रिया, स्पेन, चेकोस्लोवाकिया, चीन अबीसीनिया, अल्बानिया आदि के मामलों में जो कुछ किया गया उसे दुहराने की आवश्यकता

नहीं है। सारी नीति का लक्ष्य था नाजियों को प्रसन्न करना। यही नीति ब्रिटेन और फ्रांस की वैदेशिक योजना तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीति का आधार हो गयी थी। शान्ति, सुव्यवस्था और जगत् की रक्षा के सिद्धांत का प्रतिपादन किया जाता मुख से और व्यवहारतः अराजकता आक्रमणकारिता तथा अन्तर्राष्ट्रीय गुंडई को प्रोत्साहन प्रदान किया जाता। आक्रमणकारी की पीठ ठोंकी गयी और आक्रान्त का गला घुटने दिया जाता।

पाश्चात्य संस्कृति का सबसे बड़ा समर्थक अमेरिका भी इस दोष से मुक्त न था। लम्बी-लम्बी बातें वह भी करता पर वस्तुतः यूरोप के उन दब्बुओं से सहयोग करता जो अपनी अदूरदर्शिता और संकीर्ण स्वार्थपरता के वशीभूत होकर उन्हीं लोगों की पीठ ठोंक रहे थे जो उनकी ही संस्कृति के विरुद्ध खड्ग उठाये हुए थे। रोम और बर्लिन की शक्ति-वृद्धि में क्या अमेरिका सहायक नहीं हुआ जब उसने अबाध-गति से उनके हाथों अपने अस्त्र-शस्त्र बेचे? जापान की साम्राज्य-वादिनी नीति की निन्दा अमेरिकन राजनीतिज्ञों ने गला फाड़-फाड़ कर भले ही की हो पर अमेरिकन व्यवसायियों द्वारा टोकियो के युद्ध-वादियों को अधिकतर सैनिक सामग्री मिलने में तो कोई रुकावट नहीं हुई। इस प्रकार यूरोप में बलवर्धन किया गया उनका जो पाश्चात्य संस्कृति और लोकतन्त्र के परम शत्रु थे। समझा यह गया कि इस नीति के द्वारा एक ऐसी शक्ति के विकास में सहायता प्रदान की जा रही है जिसका भयानक चक्र एक दिन न केवल लाल रूस के मस्तक को प्रत्युत उन समस्त प्रगतिशील तत्वों की आत्मा को विचूर्ण कर देने में सफल होगा जो आज साम्राज्यवादी लिप्सा तथा पूँजीशाही परतंत्रता के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं। समझा यह गया कि ये नये खड्ग-धारी सम्पत्ति, शासकवर्ग के सम्मान और उनकी प्रभुता की रक्षा करेंगे और हनन करेंगे उन दरिद्रों, निहंगों तथा छोटे लोगों का जो

कोई हैसियत न रखते हुए भी महती अट्टालिकाओं के प्रभुओं की प्रभुता को ललकारने का दुःसाहस कर रहे हैं।

इस दुर्नीति का जो परिणाम हुआ उस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। जगत् उसी के फलस्वरूप आज युद्ध की प्रचण्ड ज्वाला में भस्म हो रहा है। जिस दानवी शक्ति का परिपोषण किया गया था वह अपने परिपोषकों पर ही एक दिन टूट पड़ी। वह शक्ति किसी की रक्षा नहीं, वरन् सबका विनाश करने के लिये उद्भूत हुई थी। उसका लक्ष्य था धरित्री को कुचल कर, उसके मस्तक पर आसीन होकर प्रचण्ड अट्टहास करने का। वह जगत् में किसी की प्रभुता स्वीकार करनेवाली नहीं थी। उसे बदला लेना था उन लोगों से जो जगत् का प्रवंचन करके स्वयम् अकेले ही जगत् का भोग करना चाहते थे। फलतः वह क्षण शीघ्र ही आ पहुँचा। जब महादेव से वरदान पाकर महादेव को ही भस्म कर देने की इच्छा से भस्मासुर की भाँति यह नव संभूत विभीषिका अपना पोषण करनेवालों को निगल जाने के लिये मुँह बाकर उन्हीं की ओर दौड़ पड़ी, जगत् में युद्ध का दावानल दहक उठा और आग के अंगारे बरसने लगे। पश्चिमी संस्कृति की छाती पर महाकाल का प्रलयंकर तांडव आरम्भ हो गया।

रोम-बर्लिन टोकियो की धूरी पर घूमता हुआ चक्र पूर्व में भी चला, पश्चिम में भी घूमा, उत्तर और दक्षिण में भी घहरा उठा। उसकी गति के सम्मुख जो आये उन्हें चूर कर देने की चेष्टा उसने की। यदि उसने 'मास्को की लाल भूमि को' खून से लाल करने की चेष्टा की तो लंदन, पेरिस और संभव हो तो वाशिंगटन को भी तहस-नहस कर डालने की चेष्टा और आकांक्षा की। स्वस्तिकांकित पताका यदि हँसिये-हथौड़े पर चोट करने के लिए अग्रसर हुई तो तारकांकित ध्वजा भी सुरक्षित न रही। फ्रांसीसी और ब्रिटिश साम्राज्य का विशाल ध्वज-स्तंभ तो बुरी तरह आहत हुआ। एक हिटलर के चरणों

में आ गिरा तो दूसरा भी पृथ्वी के कतिपय भूभाग से उखाड़ फेंका गया। नर-संहार, सम्पत्ति का विनाश और बसे बसाये नगरों के विध्वंस का क्या पूछना? बड़े-बड़े कल-कारखाने, ऊँची अट्टालिकाएँ और वह सारा ऐश्वर्य, जो पाश्चात्य-संस्कृति तथा विज्ञान की प्रतिभा की देन थी, इस महाग्नि में फूँक दिया गया। असीम अन्तरिक्ष हो अथवा अनन्त महोदधि या वसुधा का विशाल प्रांगण सर्वत्र वही सुलगती हुई अग्नि व्याप्त हुई। इतिहास के किसी युग में क्या कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई थी?

मेरा तात्पर्य कुछ और गम्भीर तथा व्यापक परिणाम से है। मैं सोचता हूँ उस परिणाम की बात जो विजय-पराजय के प्रश्न की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण, कहीं अधिक व्यापक और कहीं अधिक प्रभावकर होता है। यह युद्ध अतीत के उन युद्धों से भिन्न है जिसमें भू-पिपासा अथवा शक्ति-वृद्धि के लिए संघर्ष होते थे। यह टक्कर है मानव-जीवन की उन अंतर्भूत प्रवृत्तियों में जो इतिहास के प्रवाह को बना या बिगाड़ देती हैं। यह युद्ध परिणाम है उन परिस्थितियों का जो अनेक कारणों के फलस्वरूप उत्पन्न होकर आज मनुष्य के हाथ के बाहर हो गयी हैं। इसमें जय-पराजय ही अधिक महत्त्व नहीं रखता। निश्चय समझिये कि जो विजयी हुए वे भी विजय का सुख प्राप्त न कर सकेंगे। जो पराजित हुए वे धरती से मिटते दिखाई दे रहे हैं। पर जो होगा वह इतना ही न होगा। प्रतीत ऐसा हो रहा है कि यह युद्ध पाश्चात्य-संस्कृति के लिए भयावनी चिता सिद्ध होने जा रहा है। सम्भवतः वह दुनिया जिसका निर्माण यूरोप शताब्दियों से करता आया है मरी हुई दिखाई देगी।

वह संस्कृति का अभिनय जिसे मानव-जीवन के ऐतिहासिक रंगमंच पर यूरोप कर रहा था कदाचित् समाप्त होने जा रहा है। सम्भवतः वे आदर्श और वे धारणाएँ तथा वह प्रकाश जिसे, लेकर यूरोप

अवनी के अंचल के कोने-कोने को आलोकित करने की चेष्टा कर रहा था, बुझा हुआ दिखाई देगा। धरित्री का चीर-हरण हो चुका है, मानवता सिसकती नजर आ रही है और मानव-समाज संहार से बच जाने के बाद सब कुछ खोकर दरिद्र, अकिञ्चन और दयनीय स्थिति में कलपता दिखाई दे रहा है। विजयी चाहे जो हो पर 'वेन्थम' और 'रूसो' मेजिनी और लिंकन की दुनिया अब वापस आनेवाली नहीं है। 'रेनेसाँ' और 'रिफरमेशन' से जो युग उत्पन्न हुआ था वह गया और सदा के लिए गया। वह दुनिया गई और उसी प्रकार गई जिस प्रकार यूनान और रोम की दुनिया चली गई। धरती न जाने कितनी महती संस्कृतियों के अवशेष और उनके खंडहर और उनकी समाधि को अपने अञ्चल में छिपाये हुए है। ऐसा ज्ञात होता है कि कदाचित् उसे आज एक और मरी हुइ संस्कृति के भग्न वैभव को अपनी गोद में स्थान देना पड़ेगा।

मैं जो कह रहा हूँ वह अकारण नहीं कह रहा हूँ। इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करता हूँ तो संस्कृतियों के पतन की कतिपय घटनाओं को पाता हूँ। देखता हूँ कि संस्कृतियों का पतन होता है तब जब वे लोग, जो उसके पोषक होते हैं और स्वयम् उससे परिपोषित होते हैं उसके आदर्श से पथभ्रष्ट हो जाते हैं, जब वे उन मूलभूत सांस्कृतिक सिद्धान्तों और लक्ष्यों का परित्याग कर देते हैं जो वास्तव में संस्कृति की आत्मा होती है, जब स्वार्थ ही साध्य हो जाता है, जब समय के अनुकूल जीवन की व्यवस्था में परिवर्तन करना अस्वीकार कर दिया जाता है, सब संस्कृति से उपलब्ध ऐश्वर्य को केवल कुछ लोगों की भोग्य सामग्री बना दिया जाता है और जब अपने संकीर्ण हित को सामने रख कर संस्कृति के विकास की स्वाभाविक गति का अवरोधन कर दिया जाता है। यह सच है कि सभ्यता का उदय आरंभ में थोड़े ही लोगों में होता है, पर सरिता के प्रवाह की भांति उसकी धारा गतिशील हुआ करती है। उसका आगे

बढ़ना अनिवार्य होता है और वह विस्तृत धरातल को प्लावित करने लगती है। यही समय संस्कृति के लिए परमोत्कर्ष का होता है, पर वही संकट की घड़ी भी होती है। सभ्यता के पोष्य-पुत्र आदिसंचित अपनी शक्ति और ऐश्वर्य को भी उसके साथ प्रवाहित होने देते हैं और सब को उसमें भागीदार बनाने की दूरदर्शिता दिखाते हैं तो वह विकसित होती चलती है, पर जहाँ विभूति संपन्नों की स्वार्थमयी वासनाएँ उन्हें मोहाच्छन्न करने लगती हैं वहीं आन्तरिक संघर्ष आरम्भ हो जाता है।

इतिहास में यह स्थिति अनेक बार आ चुकी है। संस्कृतियों के हृदय में उत्पन्न यह अन्तर्दाह बहुधा उन्हीं के हनन का कारण हुआ है। आधुनिक सभ्यता के सम्मुख भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हुई जो कदाचित् उसका प्राण हरण करने में समर्थ हो चुकी है। विचार-पूर्वक देखिये तो पतन के उपर्युक्त समस्त कारणों को आप सजीव रूप में प्रस्तुत पावेंगे। इसी कारण मेरी यह धारणा हो रही है कि युद्ध के बाद यूरोप की उपर्युक्त दुनिया मरी हुई दिखाई देगी। इस भ्रान्ति में न रहिये कि मित्र राष्ट्रों की विजयमात्र से वे आदर्श और वे दृष्टिकोण पुनः प्रतिष्ठित होंगे जिनके रक्षक होने का दंभ ब्रिटेन और अमेरिका आज भी करते हैं। यह भी सोचना चाहिये कि रूस की विजय होने से जगत् 'लाल' हो जायगा। निश्चित रूप से यद्यपि कुछ कहा नहीं जा सकता तथापि मेरी दृष्टि में आज के संसार की गति-विधि दूसरी दिशा की ओर ही संकेत करती दिखाई दे रही है। ऐसा आभास मिल रहा है कि मित्र राष्ट्रों की विजय के बाद धरती पर एक ऐसे नये साम्राज्यवाद की स्थापना करने की चेष्टा की जायगी जो अब तक के सब साम्राज्यों की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और भयानक होगा।

जिस स्वार्थपरता ने जगत् को समराग्नि में झोंका जिसने पाश्चात्य संस्कृति को ही समाप्त कर देने के लिए उत्प्रेरित किया वही उपर्युक्त

साम्राज्यवाद को भी जन्म देगी। जो वर्ग परिवर्तन का विरोधी था वह अपनी व्यवस्था की रक्षा करने का सारा उपाय कर चुका। अब एक यही उपाय बाकी रह गया है कि वे सब एक होकर अपने स्वार्थ की रक्षा करने की चेष्टा करें और समान स्वार्थ के आधार पर वर्तमान को ज्यों का त्यों बनाये रखने के लिए यत्नशील हों। एँग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवाद के द्वारा इसी प्रयोग को स्थान दिया जाय तो आश्चर्य नहीं। अँग्रेजी भाषा-भाषी इन दोनों जातियों को मिलाकर जगत् का भरपूर दोहन करने की भयावनी नीति बरती जायगी। उस स्थिति में ये दोनों शक्तियाँ परस्पर सहायिका होकर जगत् में अपनी अक्षुण्ण प्रभुता बनाये रखने के लिए यत्नशील होंगी। यदि यह न हुआ तो दूसरी स्थिति यही होगी कि ब्रिटिश और अमेरिकन साम्राज्यवादियों के स्वार्थ परस्पर टकराने लगें और भावी महासंहार का बीज अभी से बो दें। दो में से एक गति होना अनिवार्य है। ऐसा होने के लिए स्पष्ट कारण मौजूद हैं।

युद्ध के बाद अमेरिका को अपने उन कल-कारखानों के लिए बाजार चाहिये जिनका निर्माण अत्यधिक संख्या में इस युद्धकाल में होने लगा है। युद्ध के बाद ये कारखाने बन्द नहीं किये जायेंगे। इन में लगा मजदूर-वर्ग बेकार नहीं किया जायगा। सेना का विघटन करने के बाद लाखों बेकारों की समस्या उपस्थित होगी जिन्हें काम देने के लिए इन कारखानों को चालू रखना पड़ेगा। संभवतः नये उद्योगों को भी जन्म प्रदान करना पड़ेगा जिसमें वे सब बेकार जो आज के सैनिक हैं कल मज़दूर बनाकर खपाये जा सकें। विचार कीजिये कि अमेरिका जो महान् उत्पादन करेगा उसे खपायेगा कहाँ ? निस्संदेह उसे जगत् के बाजारों को अपने माल से पाटे बिना दूसरी कोई गति नहीं है। ब्रिटेन की समस्या भी ऐसी ही होगी। उसे अपना पुनर्निर्माण करना है। उसके जो कल-कारखाने नष्ट हो गये हैं उन्हें फिर से खड़ा करना है तथा सम्पत्ति का जो महाविनाश हुआ है उसे पुनः वापस

लाना है। युद्धके बाद विघटित हुए सैनिकों को काम देने की समस्या भी उसके सामने होगी। ये सब प्रश्न उसी समय हल हो सकते हैं जब ब्रिटेन अपने उद्योग को एक बार फिर जोर से बढ़ावे तथा अपने अधीन देशों और साम्राज्यान्तर्गत भू-प्रदेशों का अबाध शोषण कर सके।

ये प्रश्न हैं जो आज तात्कालिक हो चुके हैं और कदाचित् इन पंक्तियों के प्रकाश में आने के पूर्व ही सुलझाव की अपेक्षा करते नजर आवें तो आश्चर्य नहीं। स्पष्ट है कि ब्रिटेन और अमेरिका के सूत्रधारों के लिए दो में से एक ही मार्ग चुनना होगा। या तो दोनों मिल कर समान स्वार्थ के आधार पर ऐसी व्यवस्था करें कि दोनों मिल कर धरती को बाँट लें और बिना किसी बाधा के उसका दोहन करें अथवा अपने-अपने स्वार्थों को लेकर परस्पर की प्रतिस्पर्धा की आग में जगत् को पुनः झोंक देने की तैयारी करें। पर ब्रिटेन और अमेरिका के जन-नायक दो में से चाहे जिस मार्ग का भी अवलम्बन करें यह स्पष्ट है कि उसके द्वारा लोकतन्त्र विश्व की स्वतन्त्रता और अन्तर्राष्ट्रीय सह-योग के आदर्श की रक्षा नहीं हो सकती। साम्राज्यवाद चाहे एक राष्ट्र का हो अथवा एकाधिक राष्ट्रों के सहयोग से सम्भूत हुआ हो प्रकृत्या लोकतन्त्र और जन-स्वतन्त्रता को कुचल कर विशुद्ध पशु-शक्ति पर ही खड़ा होता है। फलतः यह सोचना भी भ्रमपूर्ण है कि आज जो विजयी हुए हैं वे जगत् की स्थिति या व्यवस्था में कोई मौलिक परि-वर्तन करेंगे। रूस की विजय से भी अधिक आशा करना व्यर्थ है।

रूस इतना विनष्ट हो चुका है, इतना खो चुका है और अपनी शक्ति का इस युद्ध में इतना क्षय कर चुका है कि वह स्वभावतः युद्ध के अनन्तर अपना पुनर्निर्माण करने के लिए शान्ति की इच्छा करेगा। उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह उन भयानक मगरमच्छों की अप्रसन्नता का स्वागत करेगा जो मुँह बाये जगत् को निगलने को

ताक में बैठे हुए हैं। यदि रूस जगत् की व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन करना चाहे भी तो सम्प्रति कुछ करने में समर्थ न होगा। स्मरण रखना चाहिये कि इस युद्ध में इसकी शक्ति का जहाँ अपरिसीमा ह्रास हो चुका है वहाँ ब्रिटेन और अमेरिका की शक्ति अक्षुण्ण बची दिखाई दे रही है। क्या यूरोप के युद्ध का सारा बोझ रूस को ही उठाना नहीं पड़ा है ? एँग्लो अमेरिकन शक्ति कहाँ मुख्य रूप से भिड़ी और कहाँ आगे बढ़ कर उस चोट को ग्रहण किया जो रूस पर पड़ती चली गई ? इस स्थिति में यह आशा करना कि रूस की विजय मात्र से जगत् 'लाल' हो जायगा और 'लाल' व्यवस्था से संचालित होने लगेगा भारी भ्रान्ति के सिवा शायद कुछ नहीं है।

पर थोड़ी देर के लिये यदि यह मान भी लीजिये कि रूस की विजय से जगत् बदल जायगा तो भी उसका अर्थ क्या हुआ ? रूस की नीति क्या आशंका जनक नहीं हो रही है ? क्या वह भी भयावह हुआ दिखाई नहीं दे रहा है ? रूस का बोल्शेवीवाद और चाहे जो हो पर वह न तो आधुनिक लोकतन्त्रवाद है और न उन व्यवस्थाओं और व्यवहारों का प्रतिपादक है जिन पर आधुनिक पाश्चात्य जगत् का निर्माण हुआ था। उसका अर्थ भी उस दुनिया की मृत्यु ही है जो अब तक हमारे सामने थी। फलतः ऐसा ज्ञात होता है कि वह संस्कृति गयी जो अब तक पाश्चात्य जगत् की संस्कृति के नाम से विख्यात थी। इस युद्ध के बाद जो बच रहेंगे वे संभवतः एक बात में समान रहेंगे ऐसा ज्ञात होता है कि लाल हों या पीले या सफेद, जो बचेंगे वे केन्द्रीभूत शस्त्र की शक्ति में प्रचण्ड विश्वास लेकर सामने आवेंगे। हिटलर ने जगत् का और अपकार चाहे जो किया हो पर सब से बड़ा अकल्याण यह किया है कि मनुष्य के हृदय में केन्द्रीभूत निरंकुश शस्त्र-शक्ति के प्रति प्रबल विश्वास उत्पन्न कर दिया है। हिटलर भले ही विनष्ट हो गया हो, पर जिस प्रवृत्ति को वह छोड़ गया है उसका प्रभाव मिटता दिखाई नहीं देता। फलतः युद्ध के बाद यदि

पुरानी दुनिया समाप्त हुई रहेगी तो उसके स्थान पर नव-जगत् का निर्माण करना ही होगा। पर जिस जगत् का निर्माण होगा उसका स्वरूप कैसा होना चाहिये यह तात्कालिक प्रश्न आज मानव-समाज केसम्मुख सजीव रूप में उपस्थित है।

क्या जिस हिटलरी प्रवृत्ति की ओर ऊपर संकेत किया गया है और जो सम्प्रति जगत् के सूत्रधारों की मानसिक पृष्ठ-भूमि के रू। में प्रस्तुत है उसीके द्वारा नव निर्माण का कार्य सम्पादित होगा? यदि ऐसा ही हुआ तो विचार कीजिये की मानवता की दशा क्या होगी? क्या मनुष्य समाज का भविष्य उसी में सुरक्षित रहेगा? स्मरण रखिये कि उस अवस्था में विश्व में चतुर्दिक पशुबल की सत्ता स्थापित रखने की चेष्टा की जायगी, शस्त्र और शक्ति के द्वारा धरती का दोहन किया जाता रहेगा और वे अभागे भू-प्रदेश जो अब तक श्वेतजातियों के बूटों के नीचे पिस रहे हैं आगामी कतिपय दशकों के लिए उसी स्थिति में पड़े रहने के लिए छोड़ दिये जायेंगे। भू-मंडल का बटवारा साम्राज्यवादी गीधों की सुविधा के अनुसार कर दिया जायगा, विजित और विताड़ित रगड़ दिये जायेंगे और वर्गमूलक स्वार्थों की सिद्धि के लिए व्यापक जन-समाज का शोषण जारी रहेगा। निरंकुश शासन सत्ताएँ मनुष्य के मस्तक पर जमकर बैठी रहेंगी, उसके नैसर्गिक अधिकारों का निर्दलन करती रहेंगी और जब चाहेंगी जगत् को युद्ध की अग्नि में झोंक देंगी। वे उज्वल आदर्श, जो मानवता की विभूति हैं, कब्र में गाड़ दिये जायेंगे और प्रगति का नाम-निशान भी मिटता रहेगा। यह व्यवस्था तब तक चलती रहेगी जब तक निर्दलित राष्ट्रों के हृदय का अंतर्दाह और प्रतिहिंसा की सुलगती हुई अग्नि उन्हें वह शक्ति प्रदान नहीं कर देती जिसके सहारे वे उत्पीड़कों को ललकारने के लिए उठ खड़े हों। जब वह क्षण आ जायगा तो धरती में पुनः वैसी ही समराग्नि का प्रज्वलन दिखाई देगा जैसा आज दिखाई दे रहा है। युद्ध का बीज गत महासमर के बाद स्थापित योजना और

व्यवस्था के गर्भ में रख दिया गया था। आज पुनः युद्धोत्तर व्यवस्था में भावी महासमर का बीज बो दिया गया है। आधुनिक युद्ध यदि गत महासमर की अपेक्षा कई गुना अधिक भयावह हुआ तो भावी महासंग्राम भी आज की अपेक्षा कहीं अधिक भीषण और संहारकारी होगा।

क्या मानव-समाज का भविष्य इसी में सुरक्षित है ? क्या यह जाति अब उस बिंदु पर पहुँच गयी है जहाँ विनष्ट होने के सिवा उसके लिए कोई दूसरी गति नहीं रह गयी ? प्राणि-जगत् की विकास-यात्रा में न जाने कितनी जन्तु-जातियाँ उत्पन्न हुईं और विलीन हो गयीं उनकी अस्थियों के अवशेष प्रस्तर-खंडों में दबे हुए अथवा समुद्र के गर्भ में पड़े हुए कंकाल हमें उनकी सूचना दे देते हैं। क्या यह भूतल मानव-जाति का अंत भी शीघ्र ही देखनेवाला है। यदि नहीं तो फिर जगत् की भावी व्यवस्था के संबंध में विचार करना ही पड़ेगा और विश्व जिस स्थिति में पहुँच गया है उससे उसका उद्धार करने के लिए मार्ग ढूँढ़ना ही होगा। जो जगत् को आज की स्थिति में ले जाने के लिए उत्तरदायी हैं उनकी गति-विधि पर दृष्टि रखनी होगी, पुरानी भूलों को खोज निकालना होगा, मानव-समाज को आत्म-समीक्षा करनी होगी और उन त्रुटियों का परिहार करना होगा जिसका परिणाम आज भोगने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। अन्त में उस आधार को ढूँढ़ निकालना होगा जिस पर नव-विश्व की रचना करने से मानवता के कल्याण की आशा की जा सकती है।

मानव जगत् को उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर खोज निकालना होगा अन्यथा अपने समाज के भविष्य की उज्वलता में आस्था खो देनी पड़ेगी। विश्व को मनुष्य के योग्य बनाना है, बर्बरता का उन्मूलन करके मानवता को प्रतिष्ठित करना है, धरित्री को आक्रमण-कारिता, हिंसा और रक्तपात से मुक्त करना है और मानव-समाज को मनुष्य की दासता, उसके दलन और दोहन से उबारना है। यदि यह

नहीं होता तो मनुष्य-समाज की रक्षा भी नहीं होती। पर सब प्रश्नों का प्रश्न तो यह है कि यह सब होगा कैसे? समस्याओं का हल है क्या? वह कौन सा आधार है जिसे ग्रहण करके मानव-समाज अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है? वह कौन-सी पद्धति है जिसे अपनाकर लक्ष्य प्राप्ति की चेष्टा की जा सकती है? वह कौन सा पथ है जिस पर अग्रसर होने में ही कल्याण की संभावना है? इन प्रश्नों का उत्तर समस्त मानव जाति को देना है। पूर्व हो या पश्चिम उत्तर हो या दक्षिण सभी दिशा से इनका उत्तर उपस्थित किये जाने की अपेक्षा आज त्रस्त मानवता कर रही है। उन आदर्श-भ्रष्ट विवेक-भ्रष्ट और पथ-भ्रष्ट यूरोपियन नेताओं से इन प्रश्नों का उत्तर पाने की आशा कौन करे जो आज मानव समाज की दुर्दशा के निमित्त हुए हैं। उन्होंने जब अपनी बनी अदूरदर्शिता से अपनी बनी बनाई दुनिया को उजाड़ कर उसमें आग लगा दी है तो भविष्य के लिए वे मार्ग उपस्थित करने में समर्थ होंगे? सिवा अनर्थ करने के उनसे और किस चीज की आशा की जा सकती है?

फलतः इनका उत्तर देना होगा जगत् के उस व्यापक जन-समाज को जिसके हृदय में मानवता की प्रकाशमयी रश्मि का आलोक अब भी बाकी है। इनका उत्तर देना है जगत् की उन प्रगतिशील प्रवृत्तियों को जो अब भी मानवता के भविष्य में विश्वास रखती हैं। उन्हें न केवल उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर देना है प्रत्युत अपने उत्तर को व्यावहारिक रूप भी प्रदान करना है। गाँधी ने आज वही महाप्रयास करने का साहस किया है वह आर्त मानवता और विकल धरित्री तथा अन्धकाराच्छन्न अम्बर के सम्मुख समस्याओं का एक हल लेकर उपस्थित हुआ है। यदि मानव-समाज को बचाना है तो गाँधी की दृष्टि में जीवन और जगत् की व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन अपेक्षित है। वह समझता है कि मनुष्य को नया दृष्टिकोण ग्रहण करना पड़ेगा, नये आदर्श सामने लाने पड़ेंगे, जीवन के लिए नये लक्ष्य की

घोषणा करनी पड़ेगी। वर्ग और वर्ग का भेद मिटाना होगा, सम्पत्ति तथा प्रभुता संबंधी कल्पना में परिवर्तन करना होगा तथा आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में उस सामंजस्य का सर्जन करना होगा जो जगत् में अविश्वास के स्थान पर सहयोग-मूलक प्रवृत्ति को स्थान प्रदान करे। वह जगत् का कल्याण ऐसे समाज की रचना में देखता है जिसमें व्यक्ति और समष्टि जीवन के प्रत्येक अंग और क्षेत्र का विकास समरूप से हो सके।

गाँधी इन्हीं के आधार पर मानव-समाज के नव-निर्माण के लिए एक नये पथ की ओर संकेत करता है और एक नयी पद्धति को प्रस्तुत कर देता है। वह देखता है कि आज मनुष्य का देवत्व नहीं मनुष्यत्व भी प्रसुप्त है और जाग्रत् है केवल उसका पशुत्व। अपनी पशुता में मनुष्य केवल अहम् की सत्ता को सत्य के रूप में देख रहा है और अहमुपासना को, अर्थ और काम को जीवन का चरम-लक्ष्य मान चुका है। मनुष्य यह भूल गया है कि अर्थ और काम साधन मात्र हैं। किसी उन्नत साध्य के जिनकी सिद्धि में ही मानव जीवन की पूर्णता है। नीति और अध्यात्म को लक्ष्य-बिन्दु बनाकर अर्थ और काम की सिद्धि में ही मनुष्य का कल्याण है। उन्हें दृष्टि पथ से हटाकर अर्थ की सिद्धि अनर्थ का मूल और काम की सिद्धि विनाश का ही हेतु हो सकता है। नीति से वंचित अर्थ और काम मनुष्य को पशु ही बनाकर छोड़ेगा। यूरोप ने आज यही भूल की है अतः संस्कृति के गर्भ से उस बर्बरता का प्रजनन हो गया है जो न केवल संस्कृति को चबा गयी, बल्कि सारे मानव-जाति का भक्षण कर जाना चाहती है।

आज गाँधी अर्थ और काम का, व्यक्ति और समाज का, अधिकार और कर्तव्य का, श्रम और संपत्ति का, ज्ञान और विज्ञान का समन्वय नीति तथा अध्यात्म से स्थापित करने का आदर्श और पथ लेकर जगत् के सामने खड़ा है। यदि इस लक्ष्य की प्राप्ति में धरती पर स्थापित मानव-पशुता का साम्राज्य बाधक है तो वह उसके विरुद्ध

खुले विद्रोह की योजना भी उपस्थित कर देता है। उसके इस दृष्टिकोण से ही अहिंसा का उद्भव हुआ है जिसे भावी जगत् की रचना की नीति बनाकर वह संकटाच्छन्न धरती को उबारने की पद्धति की ओर संकेत कर रहा है। अब यह काम है प्रगतिशील जन-समाज का कि वह बापू के विचारों को पक्षपात रहित होकर, हठधर्मी और दुराग्रह को छोड़ कर तौले और देखे कि यह महामानव जो कह रहा है उसमें जगत् की समस्या को हल करने और मानवता का पथ प्रदर्शन करने की कितनी शक्ति है। मैं तो यह देख रहा हूँ कि आज सिवा गाँधी के न कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति है, और न उसके विचारों के सिवा कोई दूसरी ऐसी विचार-धारा है, जो विश्व को वह दे रही हो जिससे वह वंचित है और जिसके अभाव के कारण ही विपद्-ग्रस्त है।

जानता हूँ कि रूसी समाजवाद ने भी जगत् के सामने एक पथ उपस्थित किया है और तदनुकूल महान् प्रयोग में रत हुआ है पर बड़ी विनम्रता के साथ मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि रूस उस लक्ष्य की ओर अग्रसर न हो सका जिसे उसने अपने सम्मुख स्थापित किया था। उसका आदर्श स्पृहणीय, मानवीय और ग्राह्य था पर वहाँ तक पहुँचने के लिए उसने जिस पथ का अवलम्बन किया वह लक्ष्य के अनुकूल न था। मानवीय-आदर्श की प्राप्ति के लिए पथ पकड़ा गया वर्बरता का फलतः असफलता अनिवार्य थी। आज गाँधी ही एकमात्र व्यक्ति है जो मानवीय-आदर्श के लिए मानवीय-पथ का प्रतिपादक और निर्देशक है। वही एकमात्र महापुरुष है जो प्रमत्त हुई पृथ्वी के उन्माद के सम्मुख भी खड़े होने का साहस कर रहा है। उसकी विचार-धारा में पश्चिमी समाजवाद का पूर्वी अध्यात्मवाद के साथ सुन्दर समन्वय स्थापित हुआ है। वह पूर्व और पश्चिम की विकृत नहीं, किन्तु उत्कृष्टतम, पवित्रतम और शुभ्रतम प्रतिभा तथा प्रवृत्ति का मोहक प्रतिनिधित्व कर रहा है। वह एक व्यक्ति है जिससे बढ़ कर वर्गत्वहीन (डी क्लास्ड) प्राणी दूसरा नहीं है। वह कैसे विश्व की, कैसे समाज की

और कैसे मनुष्य की क़ल्पना करता है इसका सजीव चित्रण तो उसके जीवन से ही हो जाता है। अपनी नीति, अपने जीवन और अपने आदर्श से ही वह अपने कल्पित विश्व को सक्रिय रूप में व्यक्त कर रहा है।

जो यह आपत्ति करते हैं कि गाँधी जी के विचारों में काल्पनिकता ही अधिक है और उन्हें न व्यवहार में लाना सम्भव है और न वे कभी साकार रूप ग्रहण कर सकते हैं वे मेरी समझ में निष्पक्षता और गंभीरता के साथ स्वयम् विचार नहीं करते। यदि वर्गहीन समाज की रचना का लक्ष्य विशुद्ध स्वप्न नहीं है तो गाँधी के विचार क्यों काल्पनिक हैं? मनुष्य मात्र की स्वतंत्रता, समता और बन्धुत्व का आदर्श क्या काल्पनिक नहीं है? समस्त विश्व के संघ की रचना करके मानव-समाज कभी अपने राष्ट्र गत, जाति गत और रक्त तथा वर्णगत भावों को भूल कर एक परिवार की भांति अपना संचालन करेगा तथा प्रभुता और शक्ति का उपभोग करने वाली विविध देशों की सरकारें अपने अबाध अधिकारों को परिसीम करके जगत् के व्यापक हित के लिए अपने कुछ अंश का विसर्जन कर देंगी, आदि भावना भला किस काल्पनिकता से कम है? पर क्या आज का मनुष्य इन्हीं का स्वप्न नहीं देखा करता? यदि इन्हें, अव्यावहारिक, काल्पनिक और अयथार्थ नहीं कहा जाता तो गाँधी ही को क्यों कहा जाय और क्यों उसकी ओर ऐसी दृष्टि डाली जाय? मनुष्यता का इतिहास ऐसी ही कल्पनाओं के आधार पर निर्मित हुआ है। याद रखना चाहिये कि मनुष्य यदि धरती से ऊँचे उठकर स्वप्न न देखता रहा होता तो आज उसका विकास भी न हुआ होता।

हाँ कह सकते हैं कि गाँधीजी जो कह रहे हैं वह कभी इतिहास में पहले नहीं हुआ, पर वर्गहीन समाज की रचना भी तो इतिहास में कभी नहीं हुई। इतिहास के पन्नों में विश्वसंघ की मिशाल भी कहाँ मिलती है? यदि ये बातें पहले कभी न होते हुए भी आज संभव समझी जाती हैं तो जो गाँधीजी कह रहे हैं वह कैसे असंभव मान ली

जाय ? एक दृष्टि से तो इनकी बातें अपेक्षा कृत कहीं अधिक संभव प्रतीत हो रही हैं। वे जो कह रहे हैं वह क्या युग की माँग नहीं है ? आज का जगत् मनुष्य की हिंसा और बर्बरता से त्रस्त है। प्रत्येक प्राणी यह अनुभव कर रहा है कि आधुनिक पशुवाद और युद्धवाद को, हिंसावाद और शस्त्रवाद को यदि रोका न गया, यदि चतुर्दिक् व्याप्त केन्द्रीकरण की भयावनी दुष्प्रवृत्ति का अवरोधन न किया गया और यदि कोई ऐसी व्यवस्था न की गयी जिसमें युद्धों का होना असम्भव हो जाय तो अखिल मानव-जाति का विनाश निश्चित है। अशस्त्रीकरण और राष्ट्रसंघ अथवा सामूहिक रक्षा आदि के उपाय उपर्युक्त लक्ष्य को प्राप्त करने के ही प्रयास हैं। वे प्रयास हैं किसी न किसी रूप में जगत् की व्यवस्था को अहिंसा पर आश्रित करने के।

ऐसे समय जब यह सारा प्रयास किसी न किसी कारण विफल हुआ दिखाई दे रहा है और जब हिंसा की निरर्थकता और प्रलयंकरता अखंडनीय रूप से सिद्ध हो चुकी है, जब यह सिद्ध हो चुका है कि पशुता से पशुता का, हिंसा से हिंसा का निराकरण हो नहीं सकता और जब मानव-समाज उचित पथ के अनुसंधान में विकल है; गाँधी एक उपाय की ओर संकेत कर रहा है। जगत् के लिए आज दूसरा चारा ही नहीं है। उसे या तो किसी न किसी रूप में अहिंसा को व्यक्तिगत नहीं प्रत्युत सामूहिक जीवन के आधार के रूप में अपनाना होगा या मनुष्यता को विनष्ट हो जाने देना होगा। शक्ति और विजय के दंभ में आज भले ही उसकी स्वर-लहरी का तिरस्कार कर दिया जाय, अपनी धूमिल-दृष्टि को बुद्धि और पांडित्य समझने वाले भले ही उसकी पुकार को पागल का अनर्गल प्रलाप समझें पर आज नहीं तो कल संसार को उसी पथ का अनुसरण करना पड़ेगा जिसकी ओर वह संकेत कर रहा है। ऐसा मैं कह रहा हूँ क्योंकि मुझे मानव-जाति के भविष्य की उज्वलता और उसके इतिहास की प्रगतिशील धारा में अदम्य विश्वास है। मुझे विश्वास है मनुष्य के अन्तस्थ उस देव का

जिसकी प्रतिष्ठा स्वयम् प्रकृति ने ही कर दी है। मुझे उस देवत्व की उद्बोधिनी शक्ति में भी विश्वास है। मनुष्य-जाति बार-बार संकटों से आच्छन्न होती रही है फिर भी विकास की ओर बढ़ती गयी है। अपने महान् लक्ष्य की ओर अभी उसे लम्बी यात्रा करनी है। फलतः उसे इस संकट से भी पार होकर अपने पथ पर आरूढ़ होना है और बढ़ चलना है।

जगत् के सौभाग्य से गाँधी के रूप में मानवता का वह उज्वल-भाव अभिव्यक्त हो गया जो मानवोचित लक्ष्य और पथ की ओर संकेत कर रहा है। भारत का तो यह दोहरा सौभाग्य है कि वह व्यक्ति उसी की गोद सुशोभित कर रहा है। हमारा यह मिथ्या दम्भ नहीं प्रत्युत इतिहास से सिद्ध वास्तविकता है कि भारत ने मानव-जाति के सांस्कृतिक अभियान में उसकी अमूल्य सेवा और सहायता की है। सम्प्रति उसे पुनः वही अवसर मिलने जा रहा है। यह सच है कि आज का भारत निर्दलित और विताड़ित है। उसने अपनी पराधीनता और पतन के कारण अपने अतीत के समस्त गौरव को, राष्ट्र के अभिमान को और अपनी मनुष्यता तक को भी धो बहाया है। पर जहाँ यह सच है वहीं यह भी सच है कि यह महाराष्ट्र मरा हुआ नहीं है। इसमें सजीवता वर्तमान है और इसने वर्तमान को घृणित कड़ियों को विचूर्ण कर डालने का निश्चय कर लिया है। इसका यह संकल्प राष्ट्र की उद्दाम आत्मा की अक्षय शक्ति से पूत और अनुप्राणित हो चुका है। जगत् की समस्त पशुता और प्रतिकूल परिस्थितियाँ सारा उन्माद और दर्प भी इसे अपने पथ से विरत नहीं कर सकते।

भारतीय राष्ट्र की आत्मा के इस उज्जीवन और जागरण का सर्वतोधिक श्रेय गाँधीजी को ही प्राप्त है। मुझे मालूम है कि आज का हमारा वातावरण नैराश्य के गहन अंधकार से अधिकतर गंभीर हो गया है। प्रकाश की आभा कहीं सुदूर क्षितिज पर भी दिखाई नहीं दे रही है। पर यह प्रचण्ड अन्धकार ही आगामी अरुणोदय की सूचना दे रहा है। भारत निकट भविष्य में अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने जा

रहा है। किसी का स्वार्थ, किसी की हठधर्मी और किसी का शक्ति भर सहस्रों बाधाएँ उपस्थित करते रहना भी सफल नहीं हो सकता। किसी जीवित राष्ट्र का स्वत्वापहरण और दलन अधिक दिनों तक करने में समर्थ होना इतिहास की गति के विरुद्ध है। फलतः आज की स्थिति का बने रहना भी असम्भव है। फिर भारत की समस्या विश्व की समस्या से भिन्न भी नहीं है। यदि विश्व का भविष्य उज्वल है, यदि वह संकट से पार होने जा रहा है तो भारत का वर्तमान भी नष्ट होने वाला है। मानवता यदि पशुता और परतंत्रता से मुक्त होने वाली है तो भारत भी स्वतंत्र होगा।

उस स्थिति में स्वतंत्र भारत न केवल अपना निर्माण करेगा, वरन् उसे जगत् के निर्माण में भी प्रमुख भाग लेने की अभिलाषा होगी। यूरोप को तो कदाचित् वह उन तत्त्वों को प्रदान करने में समर्थ होगा जिनके अभाव में उसका सांस्कृतिक कलेवर क्षत-विक्षत हो गया है। भारत मानवता के निर्माण में अपना भाग पूरा करने की कामना रखता है पर वह कामना जगत् का नेतृत्व करने की इच्छा से या विश्व पर अपनी सांस्कृतिक विजय की वैजयन्ती फहराने की दंभपूर्ण प्रवृत्ति से उत्प्रेरित नहीं है। वह अभिलाषा है मानवता की सेवा करने की और भारत विनम्र सेवक की भावना लेकर ही आगे बढ़ेगा। उसे जगत् की प्रगतिशील शक्तियों और उनकी सहानुभूति तथा सहायता में विश्वास है। अपने इस कर्तव्य पथ पर अग्रसर होने में बापू का नेतृत्व प्राप्त है। उस बापू का जो मानवता की विभूति है, जो उसका सेवक है जो उसे क्लेश से मुक्त करने के लिए आतुर है और जिसके पास मनुष्य-समाज के अन्धकारवेष्टित पथ को प्रकाशित करने के लिए आलोकमय संदेश है। विश्वात्मा भारत को इस अभिलाषा को पूर्ण करेंगे यही मुझ जैसे तुच्छ बंदी के हृदय की विनम्र प्रार्थना है। इति शम्।

❀ वन्देमातरम् ❀